र्ति, अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त-न्याय-साहित्यशास्त्री, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी,
स्वपरकल्याणरत संत

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

(सहजानन्द साहित्यिक संस्थाओं द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित)

समयसार कलश प्रवचन १-२ भाग

प्रथम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते
चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

१—रचना परिचय—

इस रचनाका नाम है समयसार कलश। पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जो समयप्राभृत बनाया है, उसपर पूज्य अमृतचन्द्रजी सूरिने जो आत्मख्याति नामकी टीका की है। उस टीकामें गद्य है और पद्य है। वह इस विधिसे है कि यदि कोई बिल्कुल केवल पद्योंका ही स्वाध्याय करे तो भी समयसारका सारा मर्म विदित हो जायगा। इन्हीं पद्योंका नाम है समयसार कलश। उसमें पहला छंद है जो अभी पढ़ा गया है मंगलाचरणरूप में, इसमें समयसार के लिए नमस्कार किया गया है।

२—परमशरण समयसार—

समयसार क्या वस्तु है ? समय मायने आत्मा, उसमें जो सार है, श्रेष्ठ है वह है समयसार। तो जरा अपने आत्माकी बातोंको देखिये—सार चीज क्या है ? कितना सार है ? क्या कषाय सार है ? वह तो औपाधिक है उसमें तो आकुलता बसी हुई है। तो क्या विचार सार है ? वह विचार तो ज्ञानका अधूरा और नैमित्तिक परिणमन है। तो आत्माकी जो परिणतियाँ हैं वे तो अस्थिर हैं, सदा नहीं रहती। हुईं और मिट गईं। चाहे शुद्ध परिणति हो वह भी वास्तवमें प्रतिक्षण नवीन होती है और पूर्व परिणति मिटती है। तो परिणतिपर दृष्टि देकर हम वह समयसार न पा सकेंगे जिसका आलम्बन करनेसे जीवका स्वभाव पर्याय विकसित होता है। तब क्या है वह समयसार ? परिणति रूप तो नहीं है, इतना तो एक निर्णयमें आया। तब फिर गुणरूप होना चाहिये क्या ? गुणरूप भी नहीं है, क्योंकि गुणका अर्थ भूतार्थका विषय नहीं। गुणका अर्थ क्या है? गुण्यते भिद्यते अनेन इति गुणः, जिससे पदार्थका भेद किया जाय उसे गुण कहते हैं। यद्यपि गुण सही तौरसे वस्तुका स्वरूप दिखा देता है, लेकिन वे सब भेद हैं। भेदरूपसे हम उस चीजको न पा पायेंगे, भेदरूपमें हम समयसारको न पा सकेंगे, क्योंकि भेदरूप अगर हमारी दृष्टि रहे तो हम अद्वैतकी अनुभूति न कर पायेंगे, भेद बना रहेगा। तब क्या हुआ ? जानने वाला और रहा, जाननेमें आया कुछ और। अपनी ही चीज अपने ही ज्ञानमें आये, मगर भेदके ढंगसे ज्ञानमें आये तो अपनी चीज नहीं रहती वह। जैसे ज्ञान इस आत्माकी ही चीज है लेकिन उस ज्ञानको कोई भेदके ढंगसे देखे कि यह है ज्ञान। तो जानने वाला कौन है ? यह ज्ञानोपयोग और जाना क्या जा रहा। यह सामने नजरमें आया हुआ,

यह है ज्ञान , जहाँ आमने सामनेका भेद पड़ा हो वहाँ अद्वैतकी अनुभूति नहीं होती, क्योंकि वहां तो भेद पड़ गया, सीमा आ गई। एक आमने है, एक सामने है। तो भेद द्वारा भी हम आत्माके सारको न पकड़ सकेंगे, तब फिर गुण न सही, स्वभाव सार होगा ? हां, हां, स्वभाव कहकर भी इस आत्माके समयसारको कौन जान सकेगा ? अगर भेदविधिसे जाना जा रहा है तो वही बात वही विघ्न यहाँ आ जाता है। एक अनादि अनन्त अहेतुक जो आत्म स्वभाव है वह है समयसार। इस समयसारकी दृष्टिकी क्या महिमा है, यह बात जब विदित हो जायगी तब यह समझ लेंगे कि इस समयसारकी दृष्टिको छोड़कर अन्य किसीमें दृष्टि की तो उसका क्या प्रभाव पड़ा ? यह समझा गया तो जल्दी समझमें आयगा कि समयसारका आश्रय करनेपर आत्माको क्या प्राप्त होता है।

३—समयसारकी सुध छोड़कर वाह्य सुधमें अनर्थ—

अच्छा देखो समयसारको छोड़कर अन्य अन्य पदार्थोंका इस जीवने आश्रय किया, धन वैभव आदिक वाह्य पदार्थोंका आश्रय लिया, उपयोगमें इनको महत्त्व दिया यह तो महा मूढ़ता है। हाँ परिस्थितिवश करना पड़ रहा है काम, हो रहा है काम तो कर लो मगर उनको जो महत्त्व देगा वह तो इस समयसारसे वहुत दूर है। कहाँ तो ये जड़ पत्थर कंकड़, ढेला आदिक वाह्य पदार्थ और कहाँ यह चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा। मानना चाहिए इस चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्माको अपना स्वरूप और महिमा बखान रहे है—जान रहे हैं किसकी ? जड़ वैभवकी, पुद्गलके ढेरकी। देखलो कितना अधिक वह बहिरा है, अंधा है, गूँगा है जो तत्त्वकी बात नहीं सुन पाता, जो तत्त्व की दृष्टि नहीं कर पाता और जो तत्त्व की बात बखान नहीं सकता। अब बताओ—क्या बहिरा अपने अन्दर कुछ तत्त्व नहीं पाता, क्या अंधा अपने अन्दर कुछ देख नहीं पाता ? क्या गूँगा अपने अन्दर कुछ गुनगुना भी नहीं पाता ? भैया वह कुछ भीतर ही भीतर सुनता सा तो है, देखता सा तो है, और कुछ गुनगुनाता सा तो है। यों मिथ्यादृष्टिकी दृष्टि बाहरी पदार्थोंकी ओर ही लगी रहती है, वह कुछ बाहरी पदार्थोंकी ओर ही बोलता रहता है, वह कुछ बाहरी पदार्थोंके प्रति सुनता भी है, उनकी ही वह दृष्टि करता है और उनके प्रति वह बोल भी लेता है। पर यह सब तो एक बाहरी छाया मायाकी बात है। इन पदार्थोंको आश्रयमें लेनेसे इसको क्षोभ, तृष्णा, आकुलता बनी रहती है। लोग तो कहते हैं कि हमारे देशका उद्धार कैसे हो ? बड़ा भ्रष्टाचार है। बहुत-बहुत भीतर प्रतीति है, पक्षपात है। तृष्णामें डूब गए अधिकारी जन बहुत द्रव्य संचित करके विदेशोंमें जमा कर रहे, बड़े अन्याय हो रहे और इस स्थितिमें दुःख बढ़ता ही जा रहा है। कैसे मिटे दुःख ? या तो सबपर डंडे का जोर हो या सदाचारका जोर हो। सदाचारके जोरमें यह बल तब ही प्रकट होता है जब कि कम से कम इतना बोध हो जाय कि जितना दिखने वाला ठाठ है यह सब भिन्न है, छूट जाने वाला है और इस चेतन कुटुम्ब आदिकसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं, ये भी छूट जाने वाले हैं। यहाँ तो लोग सोचते कि मैं खूब धन कमा करके धर जाऊँ ताकि मेरा परिवार खूब सुखी रहे। अरे किसी दूसरेका सुखी अथवा दुःखी होना तेरे अधिकारकी बात नहीं। मानो यहाँ कुछ दिन सुखसे भी रह लिए, पर यहाँसे मरकर मानलो पशु-पक्षी कीट-पतिंगा आदिकी पर्यायोंमें पहुच गए तो फिर किसका कौन क्या रहेगा ? क्या खबर है ? कितनी महा मूढ़ता है कि इस मिले हुए संगकी चाहे चेतन हो चाहे अचेतन, यह अज्ञानी जीव उसकी महिमा समझ रहा है, और जिसकी महिमा है, जो हमको सुखी शान्त बनायेगा, संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा करायेगा उसके लिए कुछ ध्यान नहीं है।

न उसके लिए तन लगाना चाहते, न मन देना चाहते, न धन भी लगाना चाहते और न बचन लगाना चाहते। धन तो क्षेत्रतः भी प्रकट भिन्न है, उसका व्यामोह तो प्रकट मूढ़ता है। नहीं चाहते यह कैसे जाना ? यह सब तुलनासे जाना जाता है, घर कुटुम्बके लिए कितना धन व्यय होता और जरूरत पड़े तो कर्ज लेकर भी व्यय करते, मगर कभी आत्महित के लिए कोई सत्संग बनानेके लिए कभी यह बात मनमें उत्पन्न होती है क्या ? अजी क्या है तन लगे, मन लगे, धन लगे, वचन लगे, किसके लिए ? धर्म के लिए, यह बात कभी मनमें आती है क्या ? और परिजनोंके लिए तो सब कुछ अर्पण करनेके लिए तैयार रहते हैं, यह सब मोहकी लीला है। जिसके इतना विकट व्यामोह पड़ा है कि बाह्य पदार्थ ही दृष्टिमें रहते हैं उसे समयसारके दर्शन कहाँ से होंगे ?

४ ज्ञानगम्य सत्पात्रलभ्य समयसार—

जैसे लोग कहते हैं कि सिंहनीका दूध लेनेके लिए स्वर्णका पात्र चाहिए। क्या चाहिए, हमको पता नहीं, मगर ऐसा कहा जाता है कि सिंहनीका दूध स्वर्णपात्रमें ही ठहर सकेगा, अन्य पात्र में नहीं, ऐसे ही मोक्षमार्गकी बात, धर्मकी बात अंतस्तत्त्वकी दृष्टि, सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन उसको ही प्राप्त होता है जो भव्य हो, जो निकट संसारी है, जिसका होनहार भला है। कहीं किसी के तिलक नहीं लगा कि यह ही मोक्षमार्गका अधिकारी है, जो संतजन हैं, जिनकी बुद्धि व्यवस्थित है वे सभी इसके पात्र हैं, अब यह उनकी मर्जी है, उनपर कैसा रंग चढ़ा है, कहां उनका उपयोग बसता है, यह उनकी अलग-अलग विचित्रताकी बात है, लेकिन योग्यता सबमें हैं कि इस समयसार तत्त्व-का ज्ञान कर सकें, अनुभव कर सकें। कोई अयोग्य नहीं है, जो मनुष्य हैं उनके पुण्य का भी उदय है, बुद्धि भी काम करती है। बड़े-बड़े कारखानोंके तो लेखा जोखा रख लें, उनकी व्ववस्था बनालें, जिस बुद्धिके बलसे बड़े-बड़े व्यापार वगैरह की व्यवस्था बन सकती उतनी बुद्धिकी भी जरूरत नहीं स्वदृष्टि करनेके लिए। इसकी बुद्धि बहुत काम देगी, पर रुचि हो, दृष्टि बदले तब ना। किसका आलम्बन लेना ? अपने इस शरीरके मन्दिरके भीतर जो एक प्रभु आत्माराम चैतन्य महाप्रभु विराजमान है, बस अन्दर दृष्टि देना और उस सहज स्वरूपका अनुभव करना यह ही तो काम है, उसी समयसार को यहां नमस्कार किया गया है।

५—वास्तविक नमस्कारका परिचय—

नमस्कारका अर्थ क्या है ? झुकना। उस समयसारके प्रति यह उपयोग झुकता है याने आत्माका अनादि अनन्त असाधारण सहज जो चित्प्रकाश है उसकी ओर यह उपयोग झुक रहा है, यह ही है वास्तविक नमस्कार। जैसे कोई पुरुष कड़ी छाती करके, छाती बाहर निकालकर सिरको और पीछे करके नमस्ते करे, तो बतलाओ उसने नमस्कार किया क्या? वह तो टेढ़ा हो रहा, घमंडमें आ रहा। वह तो यह समझता है कि इस तरह नमस्ते बोलनेसे हमारी महिमा बढ़ती है, हम बड़े कहलाते हैं। और कोई पुरुष जा रहा है, मुखसे कोई बोल नहीं रहा है, थोड़ा सिर झुक गया, थोड़ा हाथ झुक गया, यद्यपि यह झुकना भी नमस्कार नहीं, मगर यह मनके भावोंका अनुमान कराने वाला तो है ना, उसकी ओर अभिमुख तो हुआ, वह है नमस्कार। तो यहाँ निजमें प्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूप चिदानन्द भगवानकी ओर हमारा उपयोग झुके, वह ज्ञानस्वरूप ही ज्ञानका विषय रहे यह है वास्तविक नमस्कार।

६—बेजोड़ समयसारका नमस्कार—

यहाँ किसको नमस्कार किया जा रहा ? समयसारको। समयसार मायने चैतन्यस्वरूप चित्स्वभाव, इसको किन्हीं भी शब्दोंसे कहो, जितने शब्दोंसे बोलेंगे, उस अर्थका आलम्बन लेंगे तो समयसारका अर्थ, तत्त्व स्पष्ट होता जायगा। इस ही को बोलते हैं लोग परम पुरुष,पुरुष मायने आदमी नहीं हाथ पैर वाला, किन्तु आत्मतत्त्व, परम उत्कृष्ट, जिसमें दाग नहीं, लाग नहीं, जिसमें जोड़ नहीं, तोड़ नहीं, ध्यानसे अपने भीतर दृष्टि ले जाकर सोचें तो पता पड़ेगा कि आधारभूत कोई तत्त्व है ऐसा कि जो है सो है, जिसमें कोई जोड़ तोड़ नहीं। जोड़ और तोड़से जैसे मूल संख्या शुद्ध नहीं रहती, जो कहा है केवल वह सही रूपमें नहीं रहता, ऐसे ही आत्मामें कुछ जोड़ करके जानें तो समयसारको नहीं जाना जा सकता। क्या कोई जोड़ करके भी जान रहा ? हाँ हाँ सारा जगत इस आत्मामें जोड़ करके जान रहा है। क्या जोड़कर जान रहा ? मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, पंडित हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं, ये विकार, ये पौद्गलिक बातें, ये परतत्त्व ये औपाधिक हैं, इस चिदानन्द भगवान आत्मापर ऐसी कुमति लगी है कि यह भीतर ही भीतर बैठा धीरेसे इस पौद्गलिक माया, छाया भावोंको जोड़ रहा है। जोड़का ऐसा प्रभाव है कि जो इसका मूल स्वरूप है वह मूल स्वरूप अब नहीं रहता नजर में, जोड़में तो ऐसा बढ़ गया कि इस बढ़ावमें उस मूल स्वरूपका भी पता नहीं रहता। जोड़ करके अपने आपका अनुभव करने वाले जगतमें अनन्तानन्त जीव हैं। जोड़से अंतस्तत्त्व न मिलेगा।

७—बेतोड़ समयसारका नमस्कार—

अच्छा तो तोड़से अंतस्तत्त्व मिल जायगा क्या ? न मिलेगा। है क्या कोई तोड़ करने वाला ? हाँ तोड़ करने वाले भी हैं। मगर जोड़ करने वालेसे तोड़ करने वाले कम हैं। जिनको कुछ बाहिरी रूपमें धर्मकी बात, कल्याणकी बात चित्तमें समाई है और ये आत्माको जानने चले हैं सो आत्माके ज्ञान है, इसे यों निरखता है श्रद्धा पूर्वक कि आत्मा है ज्ञान है और ज्ञान आत्मामें है, उन्होंने आत्माको तोड़ दिया, अखण्ड न रहने दिया। उस ज्ञानको निकाल लिया, एकान्ततः आत्माकी जान निकालकर फिर आत्मामें जोड़नेकी कोशिश करते। निकाली जान जुड़े कैसे ? जो एकान्ततः आत्मा के गुणोंका भेद करते हैं वह भी व्यामोहमें है, और कुछ तो ऐसे हैं कि तोड़ करके जोड़ भी पसंद नहीं करते। कुछ दार्शनिक ऐसे हैं कि आत्मा और ज्ञानको तोड़ दिया और फिर ज्ञानको आत्मामें जोड़ने का भी भाव नहीं रखते, किन्तु बिल्कुल पृथक् निरखते है। ज्ञान है, यह अलग बात है, आत्मा है यह अलग बात है, भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। अच्छा फिर और कोई तो ऐसे भी हैं कि जो तोड़ करके आत्मामें जोड़ना भी नहीं चाहते और फिर इतना अलग रखना चाहते कि तोड़की आधारभूत प्रकृति विपरीत वस्तु है और आत्मा विपरीत वस्तु है। जैसे तोड़ कर दिया-आत्मा जुदा, ज्ञान जुदा और फिर ऐसा माना कि उस ज्ञानका स्त्रोत है प्रकृति जड़ पदार्थ, जड़का परिणमन है ज्ञान और आत्मा है एक चैतन्य स्वरूप। भले ही वे इस ज्ञानमें आ गए कि मैं दुनियाके लोगोंको आत्माको शुद्ध बतादूं, पर कभी-कभी युक्तिसे, शक्तिसे बाहरका सीमा तोड़ शुद्धपनेका भाषण बगराना इसकी विपत्तिके लिए होता है। ज्ञान तो चाही कि मैं दुनियामें आत्माको इतना शुद्ध मानता हूं कि मेरा तो मात्र चैतन्यस्वरूप है, ज्ञान स्वरूप नहीं है, उसमें तरंग नहीं उठती। ज्ञान तो प्रकृतिका धर्म है, जड़का धर्म है। तो यों अनेक लोग जोड़ करके आत्माको समझना चाहते और तोड़कर आत्माको समझना चाहते, मगर यह तो जोड़ और तोड़ सबसे रहित एक केवल अंतस्तत्त्व विलक्षण अनुपम समयसार है।

८—समयसारके परिचयमें निर्विल्पताके पौरुषकी संभवता—

देखो कल्याणके लिए सब समझते हैं कि विकल्प हटाकर निर्विकल्प बनो तब कल्याण होगा, पर विकल्प हटाकर निर्विकल्प बननेकी तैयारी कहां होती है ? जो कभी मिटे नहीं, जहां कहीं धोखा नहीं, आरामसे निर्विघ्न मार्गमें बढ़ते चले जायें वह तैयारी कहां ? इस समयसारके परिचयमें ही वह तैयारी है, अन्यथा समाधि लेने वाले बहुतसे संन्यासी साधुजन होते हैं, जो समाधि लगा लें, जमोनमें गड्ढा करलें, जमीनके अन्दर छिप गए, ऊपरसे मिट्टी डाल दी, २४ घंटे श्वांस रोक लिया। इसमें वे क्या करते यह तो ऐसा करने वाले लोग ही समझें, कहीं छल भी है कहीं उस प्रकारकी साधना भी है, पर इतनी समाधि लेनेके बाद फिर उनसे कहा जाय कि बोलो तुम्हें क्या इनाम चाहिए ? तो उनके मुखसे झट निकल पड़ेगा कि मुझे तो घोड़ा चाहिए, बगीचा चाहिए या जो भी चित्तमें ठान रखा हो उसकी मांग कर बैठते है। तो निर्विकल्प होना एक ज्ञानसाध्य बात है। तत्त्वज्ञान बिना किसी के अध्यात्म साधना, धर्मसाधना बन नहीं सकती। तब समझियेगा कि अपने आपके अन्दर ही तो बैठा है वह प्रभु जो सर्व सिद्धि देने को तैयार है, सदा तैयार रहा, कभी मुरका नहीं, कभी इसका स्वभाव हटा नहीं। चाहे जीव किसी भी पर्यायमें रहा हो, मगर जो एक समयसार हे, जो एक पदार्थ अनादि अनन्त भाव जो जीवका प्राण है, चैतन्य है, जीवत्व है वह सदा अन्तः ओजस्वी तेजस्वी प्रकाशमान स्व-चमत्कार है, सब समृद्धियोंका प्रदाता सदा तैयार बैठा है, मगर उन कर्मोंके प्रतिफलनमें मोहित हुए प्राणी इस उपयोगमें ऐसे कृपालु, परमपिता, निजमें बसे हुए अनन्तशक्त्यात्मक इस चैतन्य महाप्रभुकी ओर फूटी आंखोंसे भी नहीं देखना चाहते। फल क्या होता कि संसारमें ये जन्म मरणके चक्र सदा चलते रहते हैं। तब नमस्कार किसे किया गया यह ? जिसका आलम्बन लेना कल्याणका मार्ग है, जिसका इस समस्त ग्रन्थमें वर्णन चलेगा, जितने भी बेद, पुराण, ग्रन्थ, स्मृति याने चारों वेद प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग चारों वेदोंका जो एक प्रयोजन है, जो उन सब वर्णनोंका सारभूत है, जिसकी दृष्टि न होनेपर बड़ी बड़ी ऊंची विद्वत्ता पा ले तो भी कुछ नहीं पाया, उस अंतस्तत्त्वके लिए नमस्कार है।

९—सहज परमपुरुष परमेश्वर समयसार—

उपयोगको कहीं बाहर नहीं भटकाना है, अन्यत्र कहीं ले नहीं जाना है, कोई ज्यादह कठिन बात नहीं कही जा रही। अपने ही अन्दरके स्वरूपकी बात कही जा रही है। अपने शरीरके लिए जैसे उसका रंग रूप क्या वह दुर्लभ है, वह तो चिपका ही हुआ है, ऐसे ही इस आत्माके लिए इस समयसारका लाभ होना क्या दुर्लभ है ? वह तो स्वरूप ही है इसका। तो यह स्वरूप, यह समयसार, यह परमपुरुष यही परमेश्वर है। लोग तो मुझे दुःख न मिले, सुख ही सुख मिले, इस आशासे जिस किसी को भी परमेश्वर मानकर बाहर दृष्टि भटकाते रहते हैं। न जाने कितने ही खोटे देवी देवताओं की पूजा की, न जाने कहां कहां यह जीव भटका, मगर गुजारा कुछ न चला, सहारा कुछ न हुआ। अरे सहारा कहां से हो ? बाहरके पदार्थ इसके सुख दुःखके उत्तरदायी नहीं हैं। तो मेरी समस्त सृष्टियोंके लिए जिम्मेदार कौन है ? यही अन्तः बसा हुआ परमेश्वर मेरा ही सत्त्व ? प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वभावसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य करते रहते हैं। यह मैं भी निरन्तर उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप रहा करता हूं। कौन हूं मैं वह ध्रुव ? कौन हूं मैं वह स्थिर ? एक चीज क्या है ? एक-एक नहीं है तो पलटन नहीं है, अगर पलटन नहीं है तो वहाँ एक नहीं है, है ही कुछ नहीं। जैसे आम अनेक रंग

बदलता है। पहले काला, फिर नीला, फिर हरा, फिर पीला, फिर लाल, फिर सफेद। सड़नेपर आम सफेद हो जाता है। तो आमके इस रंग बदलनेमें कोई एक आधार शक्ति है ना? उसी की तो पलटन चली। पलटनके बिना एक नहीं। रहा आये कोई एक, पर कोई परिवर्तन नहीं है, उत्पाद व्यय नहीं है तो एक नहीं हो सकता। तो ज्ञानी उसमें से पलटनका सहारा तो लेते नहीं, किन्तु एकका सहारा लेते हैं। हैं दोनों बातें, पलटन भी हैं, एक भी है, द्रव्य भी है, पर्याय भी है। पर्यायको मना करके द्रव्यका निर्णय लेना झूठ बात है। द्रव्यको मना करके पर्यायका निर्णय करना झूठ बात है, मगर सब तरीकोंसे सब कुछ समझकर पर्यायोंका आलम्बन न लें, किन्तु एक ध्रुव द्रव्यका आलम्बन लें, यह बात तो की जा सकती है। जो एक ध्रुव है, अपने आपमें, जो समयसार है उस समयसार तत्त्व के लिए नमस्कार किया जा रहा।

१०—नित्य अन्तः प्रकाशमान परमेश्वरकी उपासनाका प्रभाव—

कैसा है परमेश्वर? मेरा परमेश्वर कौन है? अपने आपमें बसा हुआ वह सहज चैतन्य तेज। जिसको चमड़ेकी आँखोंसे नहीं देखा जा सकता, जिसको इस बहिर्मुखी इन्द्रियके द्वारा नहीं जाना जा सकता। ये इन्द्रियाँ सब बहिर्मुख होकर जाना करती हैं। अन्तर्मुख होकर जाननेकी कला इस इन्द्रियमें नहीं है, इसलिए इन्द्रियका व्यापार बंद करके परम विश्रामसे कोई स्थित हो तो उसको होंगे इस समयसारके दर्शन। जिसकी सुध खोकर शरीरका अवलम्बन लेनेसे संसारके जन्म संकट दूर हो जाते हैं, वह कौन है? यह चैतन्य तेज। वह एक तथ्य ज्ञान द्वारा ही जाननेमें आयगा। और उस ज्ञानको अगर थोड़ा भी ढीला बना देंगे, जैसे बड़े आराम प्रिय लोग कष्ट नहीं सह सकते अच्छे कामोंमें दिमाग नहीं लगा सकते तो वे व्यर्थके खेल–कूदोंमें अपना मन लगा देंगे। इस तरहसे इस मनको ढीला कर देते हैं। ऐसे ही इस ज्ञानकी बातको दृढ़ न किया जाय तो उनकी दृष्टिमें यह परमपरमेश्वर परमपुरुष समयसार समक्ष नहीं हो सकता। तो जिसमें इतनी हिम्मत हो कि आत्माके अतिरिक्त अन्य सब कुछ पदार्थ किसी भी अवस्थाको प्राप्त हों, उनसे मेरा क्या मतलब? मैं तो सहज परमात्मस्वरूप हूं। ऐसे निज परमेश्वररूप अपनेको निरखें, उस ही का आलम्बन लें तो संसारके समस्त संकटोंसे छूटनेका मार्ग प्रकट हो जायगा। उस अंतस्तत्त्वके प्रति इस मुझ उपयोगका बारम्बार झुकाव हो। इस तरह समयसारके नमस्कारकी बात कहने वाले इस प्रथम श्लोककी बात चल रही है।

११—समयसारकी परमज्योतिरूपता—

इस जीवका खुदका जो एक मात्र शरण है वह अपने अन्दर ही है, बाहर इसका कहीं कुछ शरण नहीं है। जब कर्मानुभागका वेग होता है तो यह जीव अपनेमें संतोष नहीं पाता। मोही बाहरके चेतन अचेतन पदार्थोंसे अपनी तृप्तिका ख्याल बनाता है, पर तृप्तिका आधार अपने अन्तः प्रकाशमान खुद यह कारण समयसार है, जिसका बाहर क्या स्वरूप? खुद ही स्वरूप है। खुद ही तो यह अनादि अनन्त ध्रुव एक स्वरूप जो परमज्योति है बस वही है मेरा परमपिता समयसार, उत्कृष्ट ज्योति। जैसे ज्योति प्रकाशका कारण है, स्वयं प्रकाशरूप है, ऐसे ही यह सहज चैतन्य स्वरूप, यह स्वयं ज्योतिस्वरूप है, सतत जाननहार। इसका नाम तब ही तो आत्मा रखा गया है। आत्माका अर्थ है अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते है। जैसे दीपककी लौ निरन्तर प्रकाशित रहती है। क्या कभी ऐसा होता है कि लौ तो है और

थोड़ी देरको प्रकाशस्वरूप न रहे, अप्रकाशरूप हो गया। बुझ जाय यह बात अलग है, पर जब तक लौ है तब तक वह नित्य प्रकाशमान है, और यह आत्मा तो कभी बुझता भी नहीं है और ज्योतिस्वरूप है इस कारण अनादिसे अनन्तकाल तक सदा ज्योतिस्वरूप रहा और निरन्तर जानता ही रहा। भले ही आवरण होनेसे कम जाने, मगर जाननेसे शून्य यह जीव कभी नहीं रहा। ऐसा यह परमज्योति स्वरूप अंतस्तत्त्व है।

१२—ज्योतिर्मय होनेके लिये परमज्योतिसे प्रकृष्ट अर्थना—

निज परमज्योतिसे प्रार्थना करें कि हे परमज्योतिर्मय मुझको अंधेरेसे उठाकर उजलेमें ले जावो। अंधेरा क्या है ? वाह्य पदार्थोंको विषय बनाकर जो रागद्वेष मोहका परिणाम बर्तना चल रहा है वह है अंधेरा। हे परमज्योति, ऐसा प्रसाद करो कि जिस प्रसादसे यह मैं उपयोग अंधेरेसे हट कर ज्योति स्वरूपमें ही रहा करूं। तमसो मा ज्योतिर्गमय। कितना अन्तर है अंधेरेमें रहनेमें और उजेलेमें पहुचनेमें। जहां अंधेरा है भले ही मोहकी नींदमें समझ रहा है कि मैं बड़ा विवेकी हूं, बुद्धिमान हूं, मैं लोगोंको बहुत धोखा देकर अपना बहुत बड़ा काम कर रहा हूं, पर उसे यह पता नहीं कि मैं खुदको धोखा दे रहा हूं या दूसरेको। हे प्रभु, तू मुझे अंधेरेसे उठाकर ज्योतिमें ले जा। ज्योति क्या है ? यह सहज ज्ञान स्वरूप। ज्योति क्या है ? यह सहज चैतन्य। चैतन्य रूप यह उपयोगरूप रहे, इसमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि भावना वासना न जगे, मात्र जाननहार रहे, चेतन हार रहे, यही हुआ मेरा इस परम ज्योतिसे मिलन। ऐसा हो क्यों नहीं सकता ? जिस मोह विषका पान किया है उसका वमन कर दिया जाय तो यह ज्ञान सुधा क्यों न मिल पायेगी ? एक उपयोगमें दो बातें नहीं समाया करती। संसारके विषय कषाय प्रयोग और सहज परमात्म स्वरूप इस परमज्योतिका मिलन, उन दो का परस्पर विरोध है, अगर विषय कषायोंमें चित्त है तो संसार बढ़ानेका काम करते जाइये, आसान है सब। और यदि परम ज्योतिमें अपना ज्ञान आता है तब क्या है ? निरन्तर आनन्दका उछाल बनाते जाइये, बन जायगा। बनाना क्या है। सहज आनन्द की अद्भुत उछाल, उस ही से भव भवके बांधे हुए संकटकर्म ध्वस्त हो जाते हैं। इस परमज्योति स्वरूप अंतस्तत्त्वके दर्शन करो। यह है कारण समयसार। वह स्वरूप जो परमात्मा बननेपर कुछ नई बात नहीं बनी। जो स्वरूप है वह आवरणरहित हो गया। जैसे पाषाणकी मूर्ति बनानेके लिए कोई चीज बाहरसे लाकर नहीं लगानी पड़ती। जो उस पाषाणके अन्दर था वही निरावरण हो गया। ऐसे ही मुक्त, सिद्ध, अरहंत भगवंत परमपिताको पानेके लिए कुछ नई चीज नहीं बनाना है, यह तो परिपूर्ण स्वभाव सहज ही बना हुआ है। पर हमारी जो बुद्धि भ्रान्त है, जो आवरण पड़ा है वह आवरण हटे। यह आवरण ज्ञानकी प्रबल वायुसे ही हट सकता है और अन्य क्रिया कलापोंसे या अन्य पदार्थोंसे यह आवरण नहीं हटता। शुद्धत्वके उद्यममें परमज्योतिस्वरूप समयसारको यहां नमस्कार किया गया है। तो इस परमज्योतिकी ओर यह ज्ञान झुक गया, अभिमुख हो गया, यह मैं हूं इस प्रकार मानकर उनमें अभेद बन गया, यह ही है वास्तविक नमस्कार।

१३—समयसारकी परमब्रह्मरूपता—

यह समयसार परमब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्म कहते हैं उसे—स्वगुणैः, वृंह्णाति इति ब्रह्म, अपने गुणसे जो बढ़ा हुआ ही रहे उसे कहते हैं ब्रह्म। यह ब्रह्मस्वरूप सहज अंतस्तत्त्व चैतन्यमात्र यह अपने चैतन्यमें बढ़ते हुए स्वभावको ही रखता है। आवरण जब तक है उसका निमित्त पाकर यह कमजोर तो है, मगर इसके भीतर बढ़नेका स्वभाव तो है ही है। घटनेका स्वभाव नहीं रखता यह आत्मा।

घटते हुएमें भी घटनेका स्वभाव नहीं है, स्वभाव बढ़ते हुएका ही रहता है, इसी कारण इस समय-सारको परमब्रह्म कहते हैं। यह सर्व सृष्टियोंका आधार है, सर्व पर्यायोंका स्रोत है, इस कारण भी यह समयसार परम ब्रह्मस्वरूप कहलाता है। जहाँ बड़े-बड़े परमपद प्रकट होते हैं वह परमब्रह्म कोई अलग चीज नहीं, इस कारण आचार्य संतोंने पूजाके मंत्रोंमें परमब्रह्मका प्ररूपण किया है ॐही परम-ब्रह्मणे अर्हत्परमेष्ठिने नमः। यह परमब्रह्म परमात्मस्वरूप है। यह परमब्रह्म परमात्मा बननेके उपाय स्वरूप है। जो-जो भी विकास है वह सब परमब्रह्मस्वरूप है इसी कारण दशलक्षण धर्मके प्रत्येक मंत्रोंमें परमब्रह्मका प्रयोग किया गया है। जैसे कि ॐह्री परमब्रह्मणे उत्तमक्षमा धर्मांगाय नमः। मोक्षमार्ग परमब्रह्म, मोक्ष परमब्रह्म, यह बढ़नेका स्वभाव सतत रख ही रहा है क्या वीतराग सर्वज्ञ होनेपर यह बढ़नेका स्वभाव रख रहा है ? हाँ रख रहा। अच्छा, तीन लोक, तीन कालके सब पदार्थोंका ज्ञान करनेपर भी क्या यह बढ़नेका स्वभाव भी रख रहा है ? हाँ रख रहा है, फिर और अधिक जानता क्यों नहीं ? अधिक कुछ है नहीं इसलिए जानता नहीं, पर बढ़नेका स्वभाव इसका है, तब ही यह बात कही गई कि जैसे जितना लोकालोक हैं ऐसे असंख्यात लोकालोक होते तो उनको भी केवलज्ञान जानता। यह समयसार परमब्रह्मस्वरूप है।

१४—समयसारकी सहज परिपूर्णता—

यह परिपूर्ण है समयसार। अधूरा नहीं है। कोई भी सत् अधूरा नहीं होता। यह तो लोग अपने आप कल्पना करते हैं कि मेरा यह काम अभी अधूरा है, पर अधूरा कुछ हुआ ही नहीं करता। सत् सभी परिपूर्ण होते है। जो भी है, परमाणु है, आत्मा है, सब परिपूर्ण हैं क्योंकि वे सत् हैं। मैं आत्मा सत् हूं। यह मैं समयसार चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्व, यह परिपूर्ण है, इसमें अधूरापन नहीं है। जो परिपूर्ण स्वभावका आलम्बन करता है वह पर्यायमें भी परिपूर्ण विकास वाला बनता है। परिपूर्णका आधार परिपूर्ण है, ऐसा पूर्ण यह सत् स्वरूप है। जिसकी पूर्णताका बखान करते हुए अन्य दार्शनिक भी यह कह देते हैं, चाहे लक्ष्य न भी बना पाये हो मगर कहते हैं कि पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ..... यह ब्रह्मस्वरूप, यह अंतस्तत्त्व, यह चैतन्यस्वरूप पूर्ण है। सुन रखा जो परम ब्रह्म, वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। यह जो जाना अनुमानसे, आगमसे जिस प्रकार समझा वह भी सामने है, 'यह' पूर्ण है। और जो अपने अन्तः विराजमान अनुभवमें आया वह भी जाना गयाकि 'यह' पूर्ण है। हिन्दी में इदं अदः इन दो शब्दोंके वाच्यका पृथक् पृथक् शब्द नहीं है संस्कृतमें शब्द है इदं, अदः दोनों ही सामने हैं इस ज्ञाताके, पर एक को कहा गया इदं से और एकको कहा गया अदः से। हिन्दीमें दोनोंका अर्थ है 'यह'। इस ज्ञाता पुरुषको मुक्त आत्मा कहीं दूर नजर नहीं आ रहा। वह कहीं लोकके अन्त तक दृष्टि ले जाता हो और वहां ही गुनगुनाता हो कि यह हैं सिद्ध भगवान, इतनी देर विलम्बका काम ज्ञानी नहीं कर रहा। वह भी इस आत्मभूमिकामें सामने है, यह है मुक्त निरंजन शुद्धतत्त्व ऐसा सामने आ जानेका कारण क्या है कि वह आत्माका ही स्वभाव रूप है ना। स्वभावका आवरण मिटे, तो मुक्त हो गए। लो यह मुक्त आत्मा इस स्वभावके निकट ही है, उसकी दृष्टिमें बसा हुआ है। जैसे एक बांस कुछ हिस्सेमें निरावरण है कुछ हिस्सेमें ढका हुआ है तो जैसे सावरण निरावरण दोनों एक आधारमें हैं, ऐसे ही ज्ञाताके निगाहमें सावरण निरावरण अंतस्तत्त्व एक ही आधारमें है और इसीलिए वह यों निरख रहा है कि यह पूर्ण है, यह पूर्ण है। एक

'यह' में साक्षात्कार, एक 'यह' में अन्तः मिलाप है। ऐसा अपने गुणोंसे बढ़नेका ही स्वभाव रखने वाला परमब्रह्म समयसार, यह है अन्तः प्रकाशमान, इस ओर जो उपयोगको झुकाता है वह वास्तवमें नमस्कार करता है, जिसके फलमें संसारके संकट फिर यहाँ ठहर नहीं सकते। धुन ही तो है, ज्ञान ही तो है। ज्ञानको रमा डालें अपने आपके स्वरूपमें, फिर किसी परकी आधीनता या किसी परसे सुख शान्ति पानेकी व्यग्रता नहीं रह सकती। तृप्त रहना है खुदको, खुदकी ही प्रभुतामें। यह परम ब्रह्म परमेश्वर परिपूर्ण है।

१५—समयसारकी परमप्रधानता—

यह समयसार समस्त लोकमें एक परम प्रधान है। जगतमें कितने पदार्थ हैं, उन सब पदार्थोंके स्वरूपको रख लीजिये सामने। एक तो सब जगह अकेला द्रव्य है, लोकके एक-एक प्रदेशपर ठहरा हुआ है। ये समग्र पदार्थोंके परिणमन कारणभूत बन रहे हैं। हाँ हाँ समझा, काल द्रव्य है। आकाश बड़ा महान एक अखण्ड अचेतन अमूर्त है और इस आकाशमें ही जितने में लोकाकाश भाग है वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य भी ठहरे हैं, सो जीव पुद्गलकी गतिका कारण है धर्मद्रव्य। और गमन करते जीव पुद्गलकी स्थितिका कारण है अधर्म द्रव्य। पुद्गल, परमाणु, प्रदेश, प्रमाण, कालाणु ये सब बातें, बड़ी नीरस लग रही हैं, रूखी सूखी लग रही हैं एक जीव द्रव्यको न माना जाय तो। क्या है ? बेकार पड़े। काम क्या ? उपयोग क्या ? हाँ आगे बढ़ो। एक चेतन शेष अचेतन। चित्स्वरूप, चेतने वाला, प्रतिभासने वाला, जानने वाला। इन सब पदार्थोंको सामने रखकर तुलना करते हुए जानेंगे तो इनमें परम प्रधान कौनसा पदार्थ है ? यह चैतन्य समयसार। आप कहेंगे कि तुम जाननहार चैतन्य पदार्थ हो इसलिए तुमको सर्व पदार्थोंमें प्रधान यह चेतन लग रहा। अरे निष्पक्ष दृष्टिसे भी जाँचो तो महिमा जानोगे इस चैतन्यस्वरूपकी। यह परम प्रधान है। जो सबकी व्यवस्थाका हेतुभूत है। न होता चेतन तो बाकी सब चीजें भी क्या होतीं ? 'हूं' भी शून्य और 'हैं' भी शून्य। यह जगतकी व्यवस्था, यह जगतका चमत्कार परिणमन, ये सब किसकी संज्ञापर हो रहे हैं ? वह है एक समयसार चैतन्य पदार्थ। तो यह समस्त द्रव्योंमें चेतन प्रधान है, हम हैं, खुद ही में है वह अनुपम निधि, खुदको भूलकर भिखारी बन रहे हैं। बाह्य पदार्थोंसे सुख शान्तिकी आशा कर रहे हैं। यह अंतस्तत्त्व मैं हूं सब द्रव्योंमें परम प्रधान। उसकी ओर यह उपयोग झुके, यही है समयसारके प्रति वास्तविक नमस्कार।

१६—समयसारकी अनादिता—

यह चैतन्य प्रभु कबसे है ? जबसे हमने जाना तबसे है, उससे पहले न था क्या ? था। हमारे लिए कुछ न था। यह तो अनादिसे है, इस चैतन्य ज्योतिकी आदि नहीं। निज स्वरूपका आदि नहीं। अब समझ लो कि अनन्तकाल जो बीत चुका है वह इसका कैसा खराब गया ? निगोदमें गया, स्थावरोंमें, अन्य कीड़ा-मकोड़ाकी गतियोंमें गया, अनेक बार जन्म मरण हुए, पशु पक्षी हुए, सब कुछ बन बनकर भाड़ ही झोंका, काम कुछ नहीं किया। पौरुष कुछ नहीं किया। ऐसा मनुष्य बननेसे क्या लाभ ? मनुष्य किसमें आनन्द मानता है ? आहारमें आनन्द मानता। और ये पशु-पक्षी जिनका जो भोजन है, घास मिल गया, भुस मिल गया, कुछ अन्नके दाने मिल गए तो उनको जब इष्ट भोजन मिलता है तो क्या वे इन मनुष्योंसे कम सुख मानते हैं ? क्या मानता है यह मनुष्य सुख ? पुत्र मेरे हैं, लोग मेरे हैं, अरे यह तो बिल्ली, कुत्ता, गधा, चिड़िया, बँदरिया आदि, ये अपने बच्चोंसे मोह

रखकर, प्रेम रखकर सुख नहीं मानते क्या ? कोई कमजोर भी कुतिया है, उसके बच्चे जन्में हैं तो उन बच्चोंकी प्रीतिमें वह कुतिया कुछ नहीं देखती । कितने ही प्रबल कुत्ते आयें उन बच्चोंकी ओर तो वह कुतिया उन सबका मुकाबला करती है और उस मुकाबलेमें जीतती वह कुतिया है । बड़े-बड़े बलवान कुत्ते भी उससे हार खाकर चले जाते हैं । तो ये गधी, कुतिया, बिल्ली, बंदरिया आदिक ये ये अपने बच्चोंसे सुख नहीं मानते हैं क्या ? अरे जैसा सुख ये मनुष्य मानते उससे कम सुख ये पशु–पक्षी नहीं मानते । फिर मनुष्य बनकर क्यों एक नम्बर घटाया मनुष्यका ? कुछ अधिक दो हजार सागर त्रस पर्यायको मिलते हैं जिनमें अच्छे मनुष्य होनेके कोई ७–८ नम्बर हैं । न होते मनुष्य तो क्या था ? ऐसा ही आनन्द (सुख) मिलता कबूतर, बंदर आदि बनकर । कबूतर, बंदर आदि ही बन लेते, कमसे कम इतना फायदा तो होता कि इस जीवको मनुष्य होनेका नम्बर न कटता । मनुष्य होकर यदि विषय कषायोंमें अपना समय गमा दिया तो इस मनुष्यपनेका नम्बर कट गया और यदि यह आखिरी नम्बर हुआ मनुष्यका तो, जितना उस त्रस पर्यायमें मनुष्य होनेकी बात है और गमा दिया, इसी तरह तो स्थावरोंमें उत्पन्न हो जावे, फिर ठिकाना नहीं । तो सोचिये मनुष्य होनेका लाभ क्या ? क्या पाते हैं सुख ये मनुष्य ? परस्पर प्रीतिका, मैथुनका, काम सेवनका । तो इन बातोंमें ये गधे, घोड़े, कुत्ते, बिल्ली, बंदर, कबूतर आदि पशु पक्षी वगैरह क्या वैसा ही सुख नहीं पाते जैसा सुख मनुष्य पा लेते हैं ? बल्कि मनुष्योंको तो कुछ अड़चन है ? उन्हें एकान्त चाहिए, मगर इन पशु–पक्षियोंको तो सदा एकान्त है । उनकी दृष्टिमें तो ये मनुष्य बेवकूफ हैं, और जहाँ सारे बेवकूफ हों उसके लिए तो एकान्त है । तो इन पशु–पक्षियोंको, इन कबूतरोंको, इन बंदरोंको क्यों सरम नहीं आती कामसेवन करते हुए ? मनुष्य बैठे रहते हैं फिर भी वे कहाँ सरम करते ? उनकी दृष्टिमें तो ये मनुष्य पत्थर जैसे प्रतीत होते हैं, वे पशु–पक्षी इन्हें कोई मनुष्य जैसा थोड़े ही मान रहे । तो क्या यह कामसेवनका सुख पशु–पक्षीके भवमें रहकर नहीं लूटा जा सकता था । कम की बात नहीं कह रहे, जितना सुख मनुष्य मानते हैं उतना ही सुख क्या ये पशु–पक्षी नहीं मानते ? वे भी मानते । तो इन बाहरी सुखोंकी एक कामना तो पशु–पक्षी बनकर भी सिद्ध होती है । इसके लिये यह मनुष्य जीवन नहीं मिला । यह मनुष्य कहलाता वह देहधारी जिसके श्रेष्ठ मन हो । इसे नर भी कहते हैं याने धर्म मोक्ष ऐसे पुरुषार्थोंमें जो ले जाय अपनेको उसे नर कहते हैं । तो सार यही है, जीवनकी सफलता इसीमें है कि जीवन भी न दीखे, मनुष्य पर्याय भी न दीखे, इसको दीखे केवल एक सहज चैतन्य स्वरूप । ऐसा यह कारण समयसार अनादि है । इसकी आदि नहीं, पर ज्ञान नहीं है इसलिए इसको कुछ नहीं है । अगर ज्ञान हो जाय तो मालूम पड़े कि ओह अनुपम निधान यह ही तो हूं मैं ।

१७—समयसारकी अनन्तता—

यह समयसार चैतन्यस्वरूप अनन्त है, इसका अन्त नहीं आने का । लोग घबड़ाते हैं जिन्हें यह पता नहीं है कि मेरा स्वरूप ऐसा ही यह अविकार है और यह सदाकाल रहता है, न इसमें कष्टकी बात है, न इसमें विनाशकी बात है । कष्ट मानता है यह जीव । इस सत्यको भूलकर बाहरी पदार्थों के संयोग वियोगमें यह जीव अपना हिसाब लगाकर कष्ट भोगता है । समस्त बाह्य पदार्थोंको एक ही जातिमें कर रखो - सर्व बाह्य है, तो इसको मार्ग मिल जाय मुक्तिका, किन्तु एक जातिमें नहीं रखता । जो अज्ञानी इनमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि बनाता है, वह इस द्वैत बुद्धिमें आकर संसार भ्रमण ही करता है । इस प्रकार जो इस समयसारके स्वरूप तक अपना उपयोग नहीं बना पाते वे हर समयमें "बरबाद

हुआ, मैं नष्ट हो गया" ऐसा मानते हैं। धन्य है यह सम्यग्दृष्टि जो मरणके समयमें यह जानता है कि यह मैं तो पूराका ही पूरा जो यहाँ था वह परिपूर्ण अब यहाँसे जा रहा हूं, न मेरा कुछ यहाँ छूटा और न यहाँ मेरा लगार था। ऐसा यह मैं एकत्व विभक्त आत्मस्वरूप हूं, उसके लिए कहाँ मरण है ? मृत्युञ्जयमंत्र और है क्या ? जब कोई प्राण नष्ट होनेको होते हैं, एक भव बिगड़ता है तो लोग बड़ा उपाय करते, मृत्युञ्जय जाप करा लो, कोई अमरफल खिला दो। आजकल तो मृत्युञ्जयके लिए बहुतसे रसायन बन गये। वह रस खिला दो। अरे मृत्युञ्जय तो यह ज्ञान है। जिसको यह ज्ञान है कि यह हूं मैं परिपूर्ण, मेरा यहां कुछ नहीं है, जो मैं हूं सो पूराका पूरा जा रहा हूं, ऐसी सच्चाईके साथ जिसकी दृष्टि बने उसकी मृत्यु है कहां ? मरण कहीं नहीं है, एक घर छोड़कर दूसरे घरमें चला गया। अच्छेमें गया, बुरेमें गया, कहीं गया। गया वही एक। और, इस निज एकको जो निरख रहा उसके लिए लोक और परलोक भी नहीं हैं, यह हूं मैं, परलोक क्या चीज ? जिनके द्वैत बुद्धि है उनके लिए परलोक है, इहलोक है, विनाश है, मरण है, कष्ट है। इस विभक्त एकत्वके निश्चयको प्राप्त इस कारण समयसार परमेश्वरको न कहीं कष्ट है, न कहीं विनाश। ऐसा मैं अनन्त हूं। अपनी अनन्तताका जिसको भान नहीं है और जिसको इस अनुपम निधान चैतन्यस्वरूपका भान नहीं है वह जीव हाय-हाय में पड़ा रहता है, निरन्तर व्याकुल रहता है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंके आवेशमें रहकर पतित, भ्रष्ट या किन-किन शब्दोंमें कहा जाय, जो कि बड़ी हेय स्थितियां हैं उन स्थितियोंका भोग करता है। अपने अनादि अनन्त चैतन्यस्वरूपकी सम्हाल करो। हे चैतन्य महाप्रभु, तेरा यह निधान अनुपम है, ज्ञानको ही तो इस निधानमें लेना है, असुविधाकी कोई बात भी तो नहीं है। लगा अपने उपयोगको इस निज अंतस्तत्त्वमें, ऐसा नमस्कार करो कि यह ज्ञान इस ही अनादि अनन्त अहेतुक परम ज्योतिर्मय इस परमेश्वर समयसारकी ओर ही रहे। हूं मैं यह, और यहां ही जो कुछ परिणाम बन रहा है यह ही है मेरा सर्व कुछ, इससे बाहर मैं नहीं, उस ही में मैं रहूं, उसी में तृप्त रहूं, यही वास्तविक मेरा नमस्कार है।

१८—समयसारकी अव्यक्तरूपता—

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव, परिवर्तनमयी संसारमें रुलने वाले इस उपयोगका वास्तविक शरण क्या है जिसका आलम्बन लेनेसे यह समस्त संसरणका संकट दूर हो जाय ? उस ही परम शरणको यहां नमस्कार किया जा रहा है। वह परमशरण है आत्माका सहज स्वरूप। यह सहज स्वरूप अव्यक्त है। यही तो कठिनाई है कि लोग इस आत्माके बारेमें संदेह करते, निषेध करते, पर यह स्पष्ट इतना है कि जो निषेध कर रहा, जो संदेह कर रहा है वही तो आत्मा है, जो जाने सो आत्मा। तो यह इन्द्रिय द्वारा व्यक्त नहीं है इस कारण यह अव्यक्त कहलाता है और यथार्थ रूपमें भूतार्थ स्वरूपमें मन द्वारा भी व्यक्त नहीं हो पाता इस कारण इस समयसारको अव्यक्त कहते हैं, जो इन्द्रियसे प्रकट न हो सो अव्यक्त, लेकिन ज्ञानी जीवको तो बिल्कुल स्पष्ट रूपसे व्यक्त है। अव्यक्त तो अज्ञानी जनोंके लिए है, क्योंकि अज्ञानी जन देहको ही आत्मा मानते हैं, सो देहमें रहने वाली इन्द्रियके द्वारा ही सारा निर्णय बनाना चाहते। सो इन्द्रियके द्वारा अमूर्त तत्त्व तो दिख नहीं सकता। इस कारण अज्ञानी जनोंके लिए अव्यक्त है और ज्ञानी जनोंके लिए व्यक्त है। अगर ज्ञानी जनोंकी दृष्टिमें वह स्पष्ट न हो तो फिर कैसे उसका आलम्बन बने और कैसे संसरण संकटोंसे मुक्ति हो ? युक्तिसे भी जाने। ये आत्मा जब यहां इतना नजर आ रहे कि कोई कम जानता कोई और अधिक जानता,

तो किस बातका यह फर्क है कि यहां एकसे एक अधिक, अधिक जाननहार दिख रहे है। मानना तो होगा ना, कि बाह्य आवरण है कुछ ऐसे निमित्त कि यद्यपि परिणति स्वयंकी योग्यतासे चल रही है, मगर ऐसी ही क्यों चल रही है, ऐसी ही योग्यता क्यों बनी हुई है, यह प्रश्न उठता चला जायगा, जब तक कि कोई निमित्तभूत उपाधि न मानी जा सके। तो एक आवरणके कम अधिक क्षीण होनेसे ज्ञानमें भेद हैं। जैसे जैसे आवरणका क्षयोपशम होता जाता वैसे ही वैसे ज्ञानमें प्रकाश नजर आ रहा है, तो कोई आत्मा ऐसा भी होता कि जहां आवरणका पूरा विनाश है, रंच भी आवरण नहीं है, वहां इतना पूर्ण विकास है, कि उस पूर्ण विकाससे यह ज्ञान होगा कि यह भी स्वभाव है इस जीवका। अगर पूर्ण विकासका, केवल ज्ञानका स्वभाव न हो तो किसी भी प्रकार इस आत्मामें केवल ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता। तो वह ज्ञान स्वरूप सहज ज्ञान स्वरूप ज्ञानी जनोंको व्यक्त है, किन्तु अज्ञानी जनोंको अव्यक्त है। जिनको आज अव्यक्त है वे भी यदि ज्ञानाभ्यास तत्त्वमनन, आत्मदृष्टि द्वारा विकल्पका परिहार आदिक उपायोंका आलम्बन करें तो उनके भी व्यक्त होगा। जो आज अज्ञानी हैं वे अज्ञानी ही रहेंगे ऐसा कुछ नहीं है। जो ज्ञानी हुए हैं वे भी कभी इन प्राणियों जैसे अज्ञानी थे। अज्ञानीको अव्यक्त है और ज्ञानियोंको व्यक्त है यह समयसार।

१९—अज अविनाशी समयसार—

यह समयसार न तो उत्पन्न हुआ है और न यह नष्ट हो सकता। यह तो एक सत्त्व है, चेतन पदार्थ है। कोई भी सत् न तो कभी उत्पन्न होता न कभी विनष्ट हो सकता। जो है सो अज है, अविनाशी है, ऐसा ही अपने आपके स्वरूपके बारेमें समझें, यदि एक स्वरूपकी लगन हो जाय और अपनी दृष्टिमें यह सहज स्वरूप ही अपना सर्वस्व बस जाय तो फिर इसको कोई शंका, भय, कष्ट कुछ भी नहीं रह सकता। तो यह कारण समयसार याने जो भी स्वरूप व्यक्त होकर मुक्त कहलाता वह स्वरूप न उत्पन्न हुआ और न विनष्ट होता है। ऐसा शाश्वत अन्तः प्रकाशमान होने वाला है। इसका ज्ञान ज्ञानोपयोगसे इसके अभिमुख होता है। यही कहलाता है वास्तविक अद्वैत नमस्कार। इस जीव ने शान्ति लाभके लिए क्या—क्या विकट चेष्टायें नहीं की। उन सब चेष्टाओं द्वारा इसने अपने आपको थका डाला, दुःखी कर डाला, कायर बना डाला। पर थोड़ी सी तो बात थी कि अपना यह उपयोग अपने स्रोतकी ओर अभिमुख हो जाय और जहांसे यह उपयोग परिणमन हुआ है उस ही शक्तिकी ओर अभिमुख हो जाय और यह उपयोग लक्षण पर्याय अपनी शक्तिमें अभेद बन जाय, यह हूं मैं। जैसे किसीका प्रिय बालक घरमें ही कहीं कमरेमें ही छिपकर बैठ जाय और भूल हो जाय उस माँको कि मेरा बेटा कहीं घरसे बाहर निकल गया है तो वह माँ घरसे बाहर जाकर उसे ढूँढ़ती फिरती है, सब जगह पता लगाती है, जब पता नहीं लगता तो बड़ी हैरान होकर वह घर लौट आती है। घर आनेपर जब देखा कि वह बेटा तो इस घरमें ही खेल रहा तो उसे देखकर एक बार तो वह उसपर झल्ला ही जाती है—अरे कहां छिप गया था तू ? ·· तो ऐसे ही ये ज्ञानी जीव अपने अन्तः प्रकाशमान इस समयसार प्रभुको न जान सका और कुछ न कुछ अपना आधार, सर्वस्व, स्वामी जाने बिना चैन नहीं पड़ती, यह तो प्रकृति है जीवकी। तो यह बाहरमें सब खोज रहा है, यहां सुख मिलेगा, यहां मेरा महत्त्व होगा, यहां मेरा ज्ञान बसा है। सारी जगह डोल आता है। बहुत बहुत डोल चुकनेके बाद यदि सुयोग हुआ और इस आत्माको अपने आपमें इस चैतन्य प्रभुका दर्शन हुआ, अनुभव हुआ तो जिस समय मिला है उस समय तो इसे आनन्द ही होगा, पर इसके बाद वह आनन्द ठहरेगा तो नहीं,

क्योंकि इसमें घूमनेका, खोजनेका,श्रम करनेका बहुत बहुत संकार बना डाला । तो एक बार यह ज्ञानी भी झुँझलाकर बोलेगा—अरे मेरे प्राणाधार ! तुम यहीं थे, अनादिसे कभी दिखे नहीं । यह अपने आपके ही अन्तः प्रकाशमान इस परमशरणकी चर्चा चल रही है ।

२०—निर्द्वन्द्व समयसार—

यह समयसार निर्द्वन्द्व है, द्वन्द्वसे रहित है । इसमें दूसरा कुछ है ही नहीं । यह तो यह ही है । न दो रूप है न नानारूप है, न इसमें दूसरा कुछ है । इसके स्वरूपमें, मेरे स्वरूपमें किसी अन्य पदार्थका प्रवेश नहीं है । तब यह मैं एक ही तो हूं, निर्द्वन्द्व हूं, एक ही मैं क्यों कहूं ? एककी संख्यासे भी क्यों बँधूं, और वास्तविकता भी यही है कि यह आत्मा जब तक एककी संख्यासे बंधा हुआ है, यह हूं मैं एक हूं, तब तक उसको अनुभूतिका आनन्द प्राप्त नहीं होता । अपने आपके बारेमें एकका विकल्प भी सारे आनन्दको भंग कर देनेका कारण बनता है । व्यवहारनयसे निश्चयनयके निकट जानेके लिए यह सब प्रयोग है । मार्ग यह है, लेकिन आत्मीय आनन्दका कारणभूत समयसारका जहां अनुभव जग रहा है वहां कैसी स्थिति है ? तो दूसरे तो यह ही कहेंगे कि वह निर्द्वन्द्व स्थिति है । वहाँ एक अनेक, शुद्ध अशुद्ध किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं है । अशुद्धका तो विकल्प नहीं । क्या शुद्ध विकल्प करना भी अवगुण है ? हाँ शुद्ध विकल्प करना भी एक ऐसा अवगुण है कि जिस विकल्पके समय उस शुद्ध अंतस्तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती, क्योंकि जब तक मैं मान रहा हूं कि यह शुद्ध है तो इसके मायने है कि अशुद्ध था । जिसमें पहले विकार स्वीकार कर लिया गया अब वह वातावरण अच्छा न रहा इसलिए अशुद्ध शुद्ध, एक अनेक गुण पर्याय समस्त विकल्पोंसे रहित यह समयसार तो एक निर्द्वन्द्व है, इस निर्द्वन्द्व समयसारकी ओर जब निर्द्वन्द्व विधिसे यह उपयोग अभिमुख होता है तो यह ही है अपने परमशरण समयसारका वास्तविक नमस्कार ।

२१—सदाशिव समयसार—

इस समयसारका नाम है सदाशिव, सदामुक्त । स्वरूपदृष्टिसे देखो तो स्वरूप तो सदा ही मुक्त है । अगर स्वरूप बंधा हुआ हो याने बंधनका स्वरूप कहलाये तो बंधन कभी हटाये ही नहीं हट सकता । स्वरूप मुक्त है तो यह मुक्त बन सकता है, स्वरूप यदि बद्ध है तो यह कभी बद्धसे दूसरी बात नहीं कर सकता । स्वरूपको देखो, अन्य कुछ मत देखो । धन यह तो प्रकट भिन्न है इसे चर्चामें लाना भी एक लज्जाकी बात है । विकार यह तो स्वरूप नहीं है, विकार है, विकारकी ओरसे बात नहीं कही जा रही, स्वरूपकी ओरसे बात कही जा रही है । आत्माका सहज स्वरूप याने आत्माके सत्त्वके कारण आत्माका जो एक पारिणामिक भाव है वह है सदामुक्त सदाशिव । नय विधियोंसे तत्त्वका ज्ञान न होनेपर ये ही बातें भिन्न–भिन्न दर्शनोंके रूपमें प्रचलित हो जाती है । अन्य दार्शनिक भी मानते हैं कि कोई सदाशिव वह तो है एक और मुक्त हैं अनेक । याने जो अनादि अनन्त सदा समस्तपर भावोंसे मुक्त है, निराला है वह तो है एक और जो समस्त कर्मोंसे मुक्ति पाकर शुद्ध हुए हैं वे हैं अनेक । यह बात माना तो है अन्य दार्शनिकोंने और बहुत अच्छी बात है, लेकिन ऐसी भिन्नता आ गई उनकी दृष्टिमें कि सदाशिव तो कोई अलग व्यक्ति है और कर्मोंसे मुक्त होने वाला कोई अलग व्यक्ति है, बस यह सब अंधेर मच गया । जरा अपने आपके स्वरूपको देखो जो स्वरूप है सो स्वभाव है, आत्माके ठीक सही स्वभावको निरखना, मगर उस स्वभावमें यह भी भेद डालें कि यह इसके आत्माका स्वभाव, यह मेरे आत्माका स्वभाव और चाहे फिर यह भी चिल्लाये कि स्वभाव स्वभाव सब एक

समान है निर्णयकी बात तो अलग है, पर जहां आत्मानुभूति और आनन्दका प्रसंग है उस प्रकरणमें इतनी भी बात जहां पड़ गई हो कि जो प्रभुका स्वभाव सो मेरा स्वभाव, सो ही सब जीवोंका स्वभाव, वहां स्वभावकी अनुभूति नहीं बनती। स्वभावकी अनुभूतिके कालमें न मेरेकी खबर है न प्रभुकी खबर है न जगतके जीवोंकी खबर है। केवल एक ज्ञानोपयोगमें स्वभाव ही विषय है। वह किसी व्यक्तिसे बँधा हुआ होकर विषय नहीं है ऐसी दृष्टिमें आप क्या कहेंगे कि वह तो सदाशिव है? वहां नाना रूप दिखे ही नहीं, क्योंकि जब उस ज्योतिर्दर्शनमें ही नानापन नहीं तो फिर यह स्वभाव, यह सदाशिव, यह कैसे नाना कहा जा सकता है? तो नित्य अन्तः प्रकाशमान जो चैतन्यस्वभाव है वह कहलाता है सदाशिव। अब जरा पर्यायपर दृष्टि दें तो यह कर्मोंसे लिप्त आत्मा इस सदाशिव ईश्वरके आश्रयसे जब समस्त कर्मोंसे छूट जाता है तो वह पर्यायमें हो गया मक्त, कर्मोंसे मुक्त। तो देखो कर्मोंसे मुक्त होनेके लिए सदामुक्त अन्तः प्रकाशमान कल्याणमय, मंगलस्वरूप इस निज समय-सारका आश्रय लेना होता है। इसकी ओर ज्ञानोपयोग अभिमुख रहे, तो यही कहलाता है अद्वैत नमस्कार।

२२—अमल आदर्श समयसार—

क्या है यह समयसार? अपने आपका स्वरूप। यह तो एक निर्मल दर्पण है। निर्मल दर्पणमें सामने की सब चीजें प्रतिबिम्बित हो जातीं, उसे न तकना, ऐसा तकनेमे निर्मलता का महत्त्व न जान पावेंगे अनुमान भर रहेगा। तो फिर वह दर्पणको निरखनेकी तरकीब ही बड़ी गुप्त है। कोई दर्पणको देखले और कुछ भी प्रतिबिम्ब न देखे, इस ढंगसे आप किसी दर्पणको निरखें तो चलो, यह ही एक बड़ा टेढ़ा काम पड़ जायगा। आप मुख सामने करेंगे तो मुख प्रतिबिम्बित हो जायगा। कैसे आप देख पायेंगे कि यह निर्मल दर्पण है, जो अपने आपमें अपनी द्युतिसे अपने आपसे चकचकायमान है, है ना दर्पणका ऐसा स्व-रूप। सो इसी ढंगसे इस आत्मतत्त्वको देखिये तो सही। यह आत्मा भी पर्यायसे रहित कभी बनता नहीं, हर समय किसी न किसी पर्यायमें है, लेकिन पर्यायमें हैं इस तरहसे आत्माको निरखनेमें हम आत्माकी उस सहज महिमाको न पहिचान सकेंगे। ये पर्याय एकदम गौण कर दीजिये, केवल एक जिसे कहते हैं अर्थ परिणमन, अगुरुलघुत्व गुणका ही मात्र परिणमन उसके माध्यमसे उस सूक्ष्म परिणमनको भी गौण करके अन्तः प्रकाश करें तो विदित होगा कि यह निर्मल दर्पणकी तरह अपने आपको द्युति अपने आपमें चकचकाय-मान है। ऐसा परमशरण परमपिता, समयसार यह कहीं बाहर नहीं है, यह अपने आपके ही स्वरूपकी बात है। इस स्वरूपकी ओर जो ज्ञानोपयोग अभिमुख रहता है ऐसी अभिमुखताको कहते हैं समयसारका वास्तविक नमस्कार।

२३— समयसारकी निराबाधता—

इस समयसारकी बात सुननेमें समझनेमें बड़ी कठिनाई हो रही है। चित्त चंचल होता है तो हट हट जाता है सो बड़ी बाधा हो रही हे और इसी समयसारके अभिमुख होनेमें बड़े विघ्न आ रहे, लो ये बाधाएं आती हैं। ये विघ्न आ रहे हैं, किन्तु यह बाधा होना, यह विघ्न होना समयसारमें नहीं हैं। यह तो एक प्रवर्तमान उपयोगमें है, किन्तु लक्ष्यभूत वह समयसार आत्माका सहज स्वरूप, वह तो सदा निराबाध है। स्वरूप स्वरूप ही है, आवरणकी हालतमें स्वरूप प्रगट नहीं आ रहा, मगर स्वरूप स्वरूपमें प्रकट ही है। उस प्रकटपने का आनन्द नहीं आ रहा, मगर स्वरूप तो अनन्त आनन्द स्वभाव वाला ही है। स्वरूप स्वरूपमें है, प्रकट है, इतने से कुछ इस जीवको लाभ नहीं है। पर ऐसा है तभी तो यह जीव उससे

लाभ ले सकता है। तो यह कारणसमयसार बाधाओंसे रहित है, निर्विघ्न है। इस स्वरूपमें बिघ्न नहीं, स्वरूप परिपूर्ण है, यद्यपि आवरण है, ढका है, प्रकट नहीं है न ही स्पष्ट विदित होता, मगर जो सत्त्व है वह तो सत्त्व ही है, उसमें कोई बिघ्न नहीं आता। ऐसा यह निराबाध मेरा स्वरूप सहजभाव कारण समयसार, इसकी जो उपयोगदृष्टि करे तो ऐसी दृष्टि को कहते हैं अद्वैत नमस्कार।

२४— निगम समयसार—

समयसार निगम है, आगमसे भी बढ़कर है। आगमका बहुत बड़ा आलम्बन है, जिसके विषय में कहा गया है कि जो यह आगम न होता, वाणी न होती तो अन्य जीव अपने हितपंथको कैसे समझ पाते ? "जो नहिं होत प्रकाशनहारी, तो किस भांति पदारथ पांति, कहाँ लहते रहते अविचारी। आगम का बहुत बड़ा आलम्बन है, पर यह आगम इस निगमको पहिचानके लिये है। आगमज्ञान और निगम-परिचय इनकी पद्धतिमें भी अन्तर देखिये। आगम, आ मायने चारों ओर से गम मायने आये, चारों ओर से ग्रहण किया गया, आया, ऐसा ज्ञान। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, इन समस्त आगमोंके अध्ययनसे जो ज्ञान पाया वह आगम है। इस आगमज्ञान का प्रयोग क्या करना ? इस आगमसे हमें क्या समझना, क्या पाना ? इस समस्त आगमने किसका संकेत किया ? जिसका संकेत किया वह चारों ओरसे आने वाली बात नहीं, किन्तु अपने ही अन्तः उपलब्ध होने योग्य चीज है इस कारणसे इस अंतस्तत्त्वका परिचय कहलाता है निगमपरिचय, उस लक्ष्यकी उपलब्धि, यह है निगम और उसके समझनेके लिये जितना भी उपदेश है वह है आगम। तो आगमके आलम्बनसे बढ़ते बढ़ते हम इस निगम तक पहुँच जायेंगे। यह कारणसमयसार निगम है। भीतर ही बैठा हुआ भीतर ही यह स्वयँ अपने आपमें द्युतिमान है। बातें कितनी ही कर लें, पर अनुभव बनेगा विकल्प तोड़कर। सद्विकल्पोंसे हम विकल्प टूटनेके नजदीक आते हैं और जहां विकल्प टुटे, एक परम विश्राम हुआ वहाँ इस अनुभव द्वारा गम्य होता है यह समयसार। जैसे मिश्री मीठी होती है ऐसा कहनेवालेने मिश्रीका ज्ञान किया और वही मिश्रीको मुखसे चखकर मिश्रीका ज्ञान करे तो आप कह देंगे ना, कि ज्ञान तो यह है। मिश्री चख कर जो एक रसास्वाद सहित अनुभव जगा कि वह कहलाता है मिश्रीका ज्ञान। शब्दोंसे, युक्तियोंसे खूब सुना, मिश्रीका परिचय लिया, कबूल नहीं किया तुमने कि हाँ हमने मिश्रीका ज्ञान किया, पर उसके खा लेनेपर कबूल कर लिया कि हाँ समझे तो अब है मिश्री। तो ऐसे ही इस समयसारका परिचय शब्दोंसे नहीं बनता, युक्तियोंसे नहीं बनता, यह तो स्वयं एक परम विश्राम लेकर निर्विकल्प होकर अनुभव द्वारा ही यह जान पायगा कि यह है समयसार। इस निगम समयसारके प्रति जो उपयोग अभिमुख होता है ऐसी अभिमुखताको कहते हैं समयसारका नमस्कार।

२५—समयसारकी निरञ्जनता—

यह कारणसमयसार निरञ्जन बताया गया, अंजन रहित, कीचड़ रहित कह देते, धूल रहित कह देते। अञ्जन रहित कहनेका कितना आन्तरिक मर्म है कि सब मैलोंमें जो ऊपरसे चिपकाये गए मैल हैं उन सबमें बहुत घने तौरसे लगने वाला मैल अञ्जन होता है। जरा आँखमें अंजन आप लगा लीजिए तो देखिये वह किस तरह घनिष्ट चिपट जाता है और शरीरमें कोई दवा लगा लिया तो उसका घनिष्ट चिपकाव नहीं है। दूसरी बात, वह आंखमें चिपकाव है जो सबको देखनेका साधन है। तो ऐसे ही आत्मामें जो विचार, विमर्श, वितर्क, परिचय आदिक जो जो कुछ भी अञ्जन हैं, ये हैं आत्मामें लगे हुए भीतरी मल। जो आत्माके गुणों जैसी ही मुद्रा रख रहे, आत्माका स्वरूप ज्ञान है

ना, तो ये भी कमियां, ये भी विकार, विकल्पके रूपमें, विचारके रूपमें याने ज्ञानकी जाति जैसे बनकर यह हमला कर रहे हैं ना। किसीपर हमला तब बढ़िया होता है जब उसकी बिरादरीका बन जाय, उसके कुटुम्बका बन जाय, उसके बहुत नजदीकका बन जाय तो फिर ये विचार, वितर्क आदिक बड़े कड़े मैल है, इन समस्त अञ्जनोंसे यह समयसार पृथक् है। यह तो केवल एक चैतन्यस्वरूपमात्र है। इस तरहसे कोई अपने आपमें अड़ जाय, आग्रह करके रह जाय, बस मुझे कुछ न चाहिए, मुझे कुछ परवाह नहीं, किसीसे लगाव नहीं, किसीका ध्यान नहीं, जो हो सो हो, शरीरका भी जो हो सो हो, मैं तो एक यह शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूं, निरञ्जन हूं, इस निरञ्जन कारण समयसारका जो उपयोग करना है, इसकी ओर अभिमुख होना है, यह ही अभिमुखता एक ऐसे अद्भुत आनन्दको लिए हुए है कि यह आनन्द आत्मामें ऐसा सुखाव कर देता है, ऐसी सफाई कर देता है कि यह कर्मधूल जैसे सूखी हुई धोतीको जोरसे झिटक देनेसे सारी धूल झड़ जाती है, दूर हो जाती है, ऐसे ही यह कर्मधूल आत्मानुभवके इस आनन्दसे इस आनन्दके कारण हुए जो पर पदार्थोंकी झटक, उसके बलसे ये भव-भवके बांधे हुए कर्म बन्धन भी तड़ तड़कर सब झड़ जाते हैं। तो जिस परमशरणका आलम्बन लेनेसे सारी समृद्धियाँ बनती हैं उस परम शरण निरञ्जन कारण समयसारके अभिमुख हुए ज्ञानको ही तत्त्व में लिए रहना, यह है समयसारका वास्तविक नमस्कार।

२६—अपना शरण ढूढ़नेका यत्न—

हम आप संसारी जीवोंकी किसी न किसीपर शरणकी दृष्टि रहती है और उसे शरण मानकर चलते हैं। यह बात आप प्रत्येक मनुष्यमें पायेंगे। घर-घरमें पायेंगे। इसको किसी न किसीको शरण मानकर रहनेकी चलनेकी आदत है। तो अब यह विचार करें कि मेरे लिए ऐसा कौनसा शरण है जिसकी ओरसे कभी धोखा न हो और आत्माकी पूर्ण सिद्धि भी प्राप्त हो? कुछ ऐसा खोजने चलेंगे तो इस लोकमें कोई भी पदार्थ ऐसा न मिलेगा कि जो धोखा न दे। धन वैभव, कुटुम्ब, मित्र, स्त्री, पुत्रादिक मिले हैं, मगर इनका वियोग होगा, यह धोखा तो अनिवार्य है और जीवनमें भी कितने ही धोखे चलते रहते हैं। तो जगतमें ऐसा कोई पदार्थ न मिलेगा कि जिसकी शरण गहें और कोई धोखा न हो। तो बाहरमें शरण ढूढ़नेकी आदत छोड़नी होगी। उसमें कोई सिद्धि नहीं है, ऐसा अनादिसे करते चले आये हैं, मगर इसमें मेरेको कोई शान्तिका मार्ग न मिला। तब बाहरमें शरण ढूढ़नेकी आदत त्याग कर कुछ अपने आपमें ही शरण ढूढ़नेकी बात करनी होगी। कौन है शरण? अच्छा, किस बातके लिए शरण ढूढ़ रहे? हमारा धन बढ़े, घर बढ़े, संतान बढ़े, इसके लिए शरण ढूढ़ने चले हो क्या? तो ज्ञानीकी आवाज है यह कि हमें बाहरमें कोई शरण नहीं है, ये तो प्रकट असार है, माया जाल है, इनमें हम अपने लिए कोई शरण नहीं खोज रहे। हम शरण खोजना चाहते हैं कि हमारी ऐसी परिणति बने कि हम शान्त हैं, क्षोभ रहित हों, विकल्प न उठ रहे हों, ज्ञानका विषय ज्ञानस्वरूप बन रहा हो, ऐसी स्थिति चाहते हैं और उसके लिए शरण ढूढ़ रहे हैं। निष्कर्ष क्या निकला कि हम निर्विकारकी स्थिति चाहते हैं। विकार कर करके हम तो परेशान रहे, अपना कुछ न हुआ, सब बाहरी बातें हैं, जैसा जिसका मन चाहता वैसा करता। जैसा पुद्गलका योग नियोग है होता। परेशान हो गया बाहरमें कुछ ढूढ़कर, कुछ ललचाकर, कुछ अपनाकर। अबतो बाहरमें मुझे कुछ नहीं ढूढ़ना है। ये बाहरी पदार्थ इनका संयोग एक विकारका ही तो कारण बनता है, पर निर्विकार स्थिति होनेके लिए इनकी ओरसे कोई सहयोग नहीं। तो मतलब यह ही तो निकला कि अब हम किसी निर्विकारकी

शरणमें पहुंचे ।

२७—अविकार सहज परमात्मतत्त्वकी शरण्यता—

हाँ चलो निर्विकारको ढूढ़ने । बाहरमें ढूढ़ने चले तो मिला कौन ? सशरीर भगवान व शरीर-रहित भगवान । मिला तो सही मगर वहां हम दृष्टि दें, इतनी दूर उपयोग दौड़ायें, लोकके अन्तमें हैं, उस जगहमें है, ऐसी हम दृष्टि अपनायें और यह हैं सिद्ध, यह हैं मुक्त जीव, यों बाह्यमें हम उपयोग दौड़ायें तो वहां उपयोगमें निर्विकल्पता न रही । कर तो रहे हम निर्विकारका ही आश्रय, मगर बाहरमें निर्विकारका आश्रय कर रहे इसलिए निर्विकल्पता नहीं । चित्तवृत्तिकी स्थिरताके लिए धोखा ही चल रहा है । तब फिर थोड़ा और आगे आयें, बाहरसे अन्दर आये, भीतरमें ही सोचने लगे—यह हैं सिद्ध भगवान, यह हैं अरहंत और भीतर सोचें या बाहर सोचें, अपनेको भेदरूपसे सोचा गया है तो प्रभाव तो यही है कि हम अभेद दशामें नहीं आ पा रहे । अरे-अरे यह कैसी कृतघ्नपनेकी बात की जा रही है कि जिस प्रभुकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे आये हुए शास्त्रोंके द्वारा हम कुछ बोध और समझ पा सके, पर निर्विकल्प समाधिके लिए चलनेको हुए तो यहां बिल्कुल भगवानकी बात ही छोड़ रहे । भगवानकी बात कहां छोड़ रहे, हम तो द्वैतपनेकी बात छोड़ रहे, द्वैतका आश्रय करनेमें असिद्धि है, अद्वैतका आश्रय करनेमें सिद्धि है, तो उस प्रभुको कुछ और निकट लायें तो स्वभावके रूपमें उनको निरखने लगें, पर ऐसा निरखा जाय कि फिर स्वभाव ही स्वभाव मात्र दृष्टिमें रहे, यह प्रभुकी बात, यह मेरी बात, या इनकी बात, सब जीवोंका स्वभाव समान है, यह तो एक पंचायतकी बात है । ये अभेदानुभूतिके लक्षण नहीं हैं । स्वभाव इस तरहसे जाना जाय कि उस ज्ञानके साथ व्यक्ति जुड़ा हुआ न रहे तो अभेदानुभूतिकी पात्रता होती है । अच्छा तो अर्थ यह हुआ ना कि निर्विकार कोई बाह्य पुरुष है परम पुरुष परमात्मा अरहंत सिद्ध, उसका आश्रय लेनेसे यह निर्मल पर्याय नहीं उत्पन्न हुई, शुभोपयोग रहा, पुण्यबंध रहा तब क्या करना चाहिए ? क्या हम अपना आश्रय करके ध्यान बनायें ? हम तो हैं बुरे, संसारी विकार वाले । उनके ध्यानसे कैसे सिद्धि होगी ? यह तो बहुत बड़ी समस्या आ गई कि भगवानके आश्रयसे सिद्धि यों नहीं कि प्रभु परद्रव्य है, हमारे आश्रयसे सिद्धि यों नहीं कि हम संसारी है, विकारी है, तो उपाय क्या मिल पायगा ? किसका शरण लें कि हममें निर्मल पर्यायकी संतानें चल उठें ? अच्छा लेना तो अपना ही शरण है, पर अपनेको पर्यायरूपसे शरण मत लें । समयसारको देखें । परिणतिको न देखें । परिणतिसे परिणत अपना सहारा न लें । यद्यपि यह रहता है सदा परिणतिसे परिणमता, मगर इस नातेसे सहारा न लें किन्तु एक अपने सहज स्वरूपको देखें ।

२८—अविकार समयसारकी उपासना—

कैसा है वह परम शरण स्वरूप ? अविकार, निर्विकार नहीं किन्तु अविकार । निर्विकार और अविकारमें अन्तर कितना आया ? निर्विकारका अर्थ है निर्गतः विकारः यस्मात् स निर्विकारः . . . जिससे विकार निकल गए उसे कहते हैं निर्विकार और अविकारका अर्थ है, नास्ति विकारः यत्र स अविकारः जहाँ विकार नहीं वह अविकार है । एक दृष्टि यह बनायी कि विकार निकल गया और एक दृष्टि यह की कि विकार नहीं, तो इनमें अन्तर क्या आया ? देखो निर्विकार कहकर हम स्वभाव की महिमा घटा रहे, ख्यालमें क्या आ रहा है कि इसके विकार था । स्वभावको देखनेकी बात कह रहे हैं । निर्विकार कहा तो इस महिमाके प्रसंगमें निन्दाका शब्द है । जैसे किसीसे कहा जाय कि आपके पिता जेलसे मुक्त हो गए, निकल गए तो बात तो यह कहा कि जेलमें नहीं हैं, घरमें आरामसे रहते हैं,

मगर जेलसे निकल गए ऐसा कहनेमें तो गाली भरी हुई है याने कोई ऐब किया था, जेलमें पहुंच गया था, अब जेलसे निकल गया। ऐसे ही निर्विकार कहनेमें स्वभावकी निन्दा है, यह स्वभाव विकारी था, अब विकारसे हट गया। अगर स्वभाव विकारी था तो विकारसे कभी हट नहीं सकता। स्वभाव अविकारी है, विकारका वहाँ प्रसंग नहीं। देखना है किस ढंगसे कि मैं सहज जैसा कि मैं सत्व रखता हूं, जो कि मैं स्वभाव रखता हूं वह सहज स्वरूप, वह तो चैतन्यमात्र है, जिसका कि कार्य चेतना है। यहांसे ही देखो अंतरंगसे। विकारकी यहां गुंजाइस है क्या ? भीतरमें निरखिये जैसे दर्पण है, स्वच्छ है, निर्मल है उस दर्पणमें दर्पणकी ओरसे प्रतिबिम्ब छायाकी गुंजाइस है क्या कि होता रहे। चीज सामने हो, उपाधिका सन्निधान है, विकार आ गया दर्पणमें छाया प्रतिबिम्ब हो गया, मगर दर्पणके स्वरूपकी ओरसे देखो तो दर्पणमें छाया नहीं, विकार नहीं। प्रतिविम्ब न हो तो यह चकचकायमान स्वच्छ है, ऐसा परमाणुपुञ्ज है। ऐसे ही अपने आपको स्वभावकी ओरसे देखें तो विकार नहीं, कर्म नहीं, संसार नहीं, बंधन नहीं, मनुष्य नहीं, दुःख नहीं, कष्ट नहीं। स्वभाव स्वभावका निर्णय करके देखें, इस स्वभावमें मात्र चेतना है। अगर स्वभावमें विकार होता तो किसी भी उपायसे हट नहीं सकता था। ऐसा अविकार समयसार जिसकी ओर यह ज्ञानोपयोग अभिमुख रहे तो यह कहलायगा समयसारका वास्तविक नमस्कार।

२९—रागरहित अविकार समयसारमें प्रवेश करनेका, साहस करनेका अनुरोध—

जैसे जाड़ेके दिन हों और कुछ बच्चे तालाबमें नहाने जायें और तालाबके किनारे तालाबके ही थोड़ा भीतर घुसे हुएमें एक बड़ा ऊँचा पत्थर है सो किनारेसे बढ़-बढ़कर उस पत्थरपर पहुंच गये हैं जहां से गिरें तो पानीमें नहा लें, मगर जाड़ा लग रहा, हिम्मत नहीं हो रही, वायुके झकोरे चल रहे। कोई बालक उस सिलापर बैठा है कुकड़ू, कुछ सोचमें पड़ गया, नहानेकी हिम्मत नहीं होती, उस पानीमें गिरनेका साहस नहीं होता, जाड़ा तेज लग रहा। कोई बालक अपने मनसे कुछ न सोचकर उछलकर पानीमें गिर जाता है तो उसका सब जाड़ा खतम हो जाता। पानीमें पड़ेके बाद जाड़ेकी तकलीफ नहीं रहती। साहस बनाया कि अपने कामको सिद्ध कर लिया। यहाँ यह देखो कि विकल्प, वेदना, ममता, रागद्वेष, बाहरी पदार्थोंपर दृष्टि होना ये सब बाह्य वायुके झकोरे ये वेदनायें इस जीवको लगी हैं। अब इसके मनमें आया कि चलो ज्ञान सरोवरमें अवगाह लें, आत्माका जो एक स्वच्छ सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें प्रवेश करें, उसमें ही स्नान करें ऐसा मनमें आया। आ रहा मनमें और इसके लिए श्रम भी कर रहा, पौरुष कर रहा, प्रयत्न कर रहा, तीर्थ यात्रा करता, सत्संग करता, स्वाध्याय करता, ये सारे प्रयत्न कर रहा मगर यह रागद्वेषादिकी बेदना, यह दंड, यह संस्कार, ये सब इस जीवको बरबाद कर रहे, लेकिन क्या होनी, कैसा भाव पड़ा कि इस ज्ञानसरोवरमें जो सामने नजर आ रहा, चर्चा द्वारा, कुछ समझ द्वारा, इसमें अवगाह नहीं हो पा रहा। एक बार साहस करने भरकी बात है। इस रागके संसारको तोड़कर इस ज्ञानसरोवरमें अवगाह करना, ऐसा किया नहीं क्या किसीने ? भला बतलावो—छोटी उम्रका सुकौशल, जवानीमें प्रवेश किया हुआ सुकौशल जिस समय अपने पिता मुनिकी मुद्रा देखता है और कुछ घरकी घटना समझ पाता है तो एकदम विरक्त हुआ। हो गया ऐसा कटाव कि पहला ही बालक, सुकौशलकी स्त्रीके गर्भ में था, उस समय लोग तो स्त्रीको ललचाते, बच्चा होनहार हो तो बड़ी खुशी मनाते, बड़ी प्रतीक्षा करके आगेका प्रोग्राम बनाते, पर जिसको सहज चैतन्यस्वरूपका भान हुआ है और समस्त तथ्योंका परिचय हो गया है उसका

मोह ऐसा कटा कि वह विरक्त होकर चल दिया जंगलमें। सब समझाया मंत्रियोंने। लोगोंकी दृष्टिमें यह तो बड़ा गजबका काम हुआ। अभी दो चार वर्ष ही शादीको हुए, गर्भिणी स्त्री है, राज्यको सम्हालनेके दिन हैं, क्या मूर्खता समा गई, इस तरह परखने वाले अज्ञानी उस समय बहु संख्यामें थे। मंत्री समझाये, सबने परिश्रम कर लिया, पर एक बार सही ज्ञान होनेपर फिर अपना परिणमन अज्ञान-रूप कैसे लिया जा सकता है।

३०—प्रकट हुए ज्ञानको प्रसंगों द्वारा अज्ञानरूप किये जानेकी अशक्यता—

सामने पड़ी हो रस्सी और जान गए साँप तो वहाँ घबड़ाहट है, क्लेश है। हिम्मत करके आगे बढ़े और रस्सीको रस्सी ही है ऐसा पहचान गये, छूकर सब तरह परीक्षा करके पहिचान गए कि यह रस्सी है, अब पहले जैसा कि यह साँप है, जो आकुलता मचाये थे वैसा अज्ञानका परिणमन कैसे किया जा सकता? जहाँ प्रबल भेद विज्ञान है, स्वरूपका भान हो गया, वहाँ अज्ञान अवस्था कैसे नापी जा सकती है? वास्तविकता तो यह है कि ऐसी स्थितिमें भी चले गए तो कहीं वह बच्चा या स्त्री निराश्रय तो नहीं हो गए, कोई किसीको आश्रय नहीं देता, सबका अपना-अपना भाग्य है। संसारी अवस्थामें जो हो रहा है वह सब कर्मानुभूतिके अनुसार चल रहा। अब कोई समाजमें धर्मात्मा पुरुष बने, उससे कहा जाय कि भाई तुम सब कुछ एकदम छोड़ दो तो वह कहेगा कि अजी दया आती है, छोटे-छोटे बच्चे हैं, कच्ची गृहस्थी है, अगर हम इन्हें छोड़ देंगे तो ये बच्चे लोग क्या करेंगे? इन पर हमें दया आती है। तो दया नहीं आती, वह तो मोहके अंकुर ही उस रूपमें प्रकट हो रहे। राग-भावका एक बार भी कटाव बन जाय उपयोगमें तब वह अनुभूति प्राप्त हो सकती है। रागभावका लेश रहते हुए आत्मानुभव पाना अशक्य है। इस ही दृष्टिको लेकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यने बताया कि परमाणुमात्र भी जिसके राग है उसके स्वानुभूति नहीं। देखना कौन-सी बात कही जा रही है। आगम में तो लिखा है कि छठे गुणस्थान तक राग है और यहाँ कहा जा रहा कि परमाणुमात्र भी जिसके चित्तमें राग रह रहा है वह आत्माका अनुभव नहीं कर सकता। इसका भाव यह है कि उपयोगके समयमें यदि परमाणुमात्र भी राग है तो आत्माका अनुभव नहीं हो सकता। कोई मनुष्य ५ भाषावोंका जानकार है—हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत और प्राकृत। अब मान लो कोई संस्कृत भाषामें लिखा हुआ पत्र उसके पास आया है। उसे वह पढ़ रहा है तो उस समय शेष चार भाषाओंका व्यापार तो उसका नहीं चल रहा, सिर्फ एक संस्कृत भाषाका उपयोग है, ऐसे ही जब इस अविकार ज्ञानघन चैतन्यस्वरूपका ही उपयोग हो, लेशमात्र भी रागका उपयोग न हो तो वहाँ आत्माकी अनुभूति बनती है। तो वह कौन-सा शरण है कि जिसका शरण गहनेसे निर्मल पर्याय बनती है वह है अविकार समयसार, मेरा ही सहज स्वरूप, उपाधि रहित, उपाधिके प्रभावसे दूर है, अव्यक्त तो है मगर अव्यक्तमें ही, गुप्तमें ही, अन्तर्दृष्टिके द्वारा व्यक्त किया जाता है।

३१—अविकार समयसारकी सुध न रहनेपर विडम्बना—

अहो यह कारण समयसार जो मेरा स्वरूप है, अनादिसे है, मैं ही हूं, इसको भूलकर बाहर दृष्टि लगा लगाकर हमने इस भगवान आत्माको अनादि-कालसे झकझोर डाला। ओह, इतनी हिंसा की हमने। इस सहज भगवान, सरल भगवान अविकार स्वरूप इस आत्माको मुझने, उपयोग ने अनादि कालसे झकझोर डाला। इतने बड़े अन्यायका तो बहुत बड़ा दण्ड है। हाँ हाँ, सो दण्ड पाया है। निगोदमें रहे, स्थावरोंमें रहे, कीट पतिंगेके भवोंमें रहे, निज भगवान आत्मापर अन्याय करनेका

फल यह सब संसार है। इससे मुक्त होनेका उपाय है निज अविकार सहजस्वरूपका आलम्बन लेना, ज्ञानमें एक चित्प्रकाश ही रहे, अन्य बात न रहे। बात समझनेमें कोई कठिनाई तो नहीं, किसीसे किया जाय या न किया जाय। किसीसे उपयोग ऐसा बन सके या न बन सके, मगर बात तो बिल्कुल साफ है ना कि एक अविकार चैतन्य चित्प्रकाश यह ही ज्ञानमें हो तो इसके आत्मानुभव हो, मोक्ष मार्गमें बढ़े और बाहरी पदार्थ कीर्ति इज्जत, नाम आदिक ये अगर दृष्टिमें रहे तो उसे आत्माका अनुभव नहीं है। संसारके लोग बड़े पुरुषोंसे ईर्ष्या किया करते हैं। धनमें कोई बढ़ा हुआ है तो उससे ईर्ष्या। इज्जत, प्रतिष्ठा, कीर्तिमें जो बढ़ा हुआ है उससे ईर्ष्या, और और बातें सब लगा लो, जिन-जिन बातोंसे लोग ईर्ष्या करते हैं तो आप यह देखें कि ईर्ष्या करने वालोंकी कितनी बड़ी मूढ़ता है याने ईर्ष्या करने वालेके चित्तमें यह बैठा है कि धन ही सार है तब ही तो धनीको देखकर ईर्ष्या होती है, लोगोंमें नाम बढ़ जाय, कीर्ति बढ़ जाय, यह ही सार है, यह बात किसीके चित्तमें बैठ जाय तब ही तो ईर्ष्या होती है, यह नहीं देखता कि यह बेचारा अज्ञानी कहाँ बह गया ? बहुत गरीब है, कितना परतत्त्वोंमें चला गया, यह तो निरखता नहीं और ईर्ष्या करता है। यह सब अज्ञानका ही प्रताप है। उपयोग निज समयसारको निरखें बस यह है काम, यह है कल्याण। इसके पानेके लिए मेरा सब कुछ बलिदान। तन कुछ नहीं, यह तो जल जाने वाला है, सम्बन्धी मित्र कुछ नहीं, ये तो खुदमें परिपूर्ण हैं, पर पदार्थ हैं, इनका सब कुछ इनमें है, उनसे मेरेको अटक क्या ? जो घरके, कुटुम्बके लोग हैं वे भी उतने ही निराले है जितने निराले जगतके अन्य जीव हैं। रंच भी सम्बंध नहीं। अज्ञान बढ़ाया जाता, यह खुदका अपराध किया जाता, सम्बंध रंच भी नहीं। तो परमाणुमात्रके प्रति भी राग न हो जिस उपयोगमें वह उपयोग आत्मस्वरूपकी अनुभूति करता है। इसका उपयोग यह है कि निरंजन चित्प्रकाश अविकारके नातेसे चित्प्रकाशका आश्रय लें, ज्ञानमें केवल वही चेतना मात्र उपयोगमें हो तो इसमें हमारा मोक्षमार्ग रहता है।

३२—निराकार समयसारका वास्तविक नमस्कार—

यह समयसार निराकार है। आत्माके बारेमें कितनी तरहके विचार आत्मानुभूतिके विघ्नरूप बनते हैं। साक्षात् कह रहे हैं। वैसे तो माना गया है कि आत्माकी सारी बात जानो, क्या अशुद्ध अवस्था है, क्या क्षेत्र है, क्या काल है, क्या द्रव्य है सब कुछ जानें। इस आत्माका तो रग रग पहिचान लें। जितना बन सके उतना परिचय बनायें, सब कुछ परिचय बनानेके बाद भी अब यह देखो कि कौन-कौनसा परिचय आत्मानुभवमें बाधक है ? परिचय बाधक नहीं, किन्तु परिचयका उपयोग बाधक है। आत्माको परखनेकी ५ विधियाँ हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, गुण और पर्याय। आत्माको द्रव्यकी दृष्टिसे देखें—ओह अनन्त गुण पर्यायोंका पिण्ड है यह आत्मा। जब अनन्तगुण, अनन्त पर्यायें इसके चित्तमें है, उपयोगके विषय बन रहे हैं तो वहाँ अभेदानुभव कहाँ से हो ? यह तो सीधी गणितकी बात है। क्षेत्रसे परिचय पाया है कि आत्मा-देह प्रमाण है। इस समय यह जीव ५–६ फिट लम्बा है, एक हाथ फैला है। इस शरीरसे एक क्षेत्रावगाह है, अमूर्त है, चेतन है, पर इतने प्रमाणमें है यों अरे जब क्षेत्र दृष्टिसे परखा, आकार रूपसे परखा तो आकार जब उपयोगमें है तो वहाँ आत्माकी अनुभूति नहीं है। अच्छा तो हम परिणतिके रूपमें आत्माको देखेंगे, कैसी परिणति बन रही है, इस समय हम किस अवस्थामें हैं, क्योंकि अवस्थासे रहित जीव कभी नहीं होता। तो हम किसी अवस्थारूपमें इस आत्माको देख रहे हों तो आत्मानुभूति नहीं है, वह विकल्प है। तब हम गुणके रूपसे देखेंगे—ओह,

आत्मामें ज्ञानगुण, दर्शन गुण, चरित्र गुण, आनन्द गुण, शक्ति आदिक अनन्त गुण हैं। इस रूपसे इस आत्माको परखेंगे तो भाई परख तो लो; मार्ग तो है परखनेका मगर इस परखके उपयोगमें आत्मानुभव नहीं है, तब फिर देखो आकार रूपमें आत्माको परखनेसे सिद्धि नहीं मिलती। आत्मानुभूति नहीं हुई, तब फिर कैसे देखें उस समयसारको ? स्वभावमात्र, स्वभाव लम्बा चौड़ा है क्या ? स्वभाव किसी दिशाका नाम है क्या ? स्वभाव किसीका पिण्ड है क्या ? आत्माका स्वभाव है सहज चैतन्यमात्र। ज्ञानमें मात्र यही स्वभाव रहे जिसके रहनेसे न तो मैं रहता, न भगवान रहते न कोई रहता। कहाँ ? ... उपयोगमें। सत्ता मिटानेकी बात नहीं कह रहे, उपयोगमें मैं भी नहीं, भगवान भी नहीं, जीव भी नहीं, कुछ भी नहीं, यह क्या है, इसे कौन बताये ? उस आत्माके अनुभवके समय एक निर्विकल्प स्थिति है। जो स्वभावका आश्रय करनेमें ही बनता है। तो ऐसा एक अविकार समयसारका आश्रय करना ही एक परमशरण है और वह है निराकार अविकार चैतन्यस्वरूप। उस रूप अपनेको अनुभवना, मैं यह हूं, मैं यह हूं, ऐसा दृढ़ अभ्यास बन जाय कि मैं यह हूं, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ न सुहाये। जब न रह सकें इसमें तो मित्रजनोंसे, कुटुम्बी जनोंसे, सहयोगी जनोंसे इस ही तत्त्वकी चर्चा करें। मोह रागका दोष कम हो जायगा। ऐसे इस अविकार निराकार चेतनामात्र समयसारका शरण करना ही, इसकी ओर अभिमुख होना ही वास्तविक समयसारका नमस्कार है।

३३—समयसारकी संसारशिरोमणिता—

जिसका शरण पाना है, जिसकी ओर दृष्टि रखना है, जिससे अपनी सारी सिद्धियाँ होना है ऐसा यह स्वरूप, समयसार सर्व प्राणियोंके अन्दर नित्य अन्तः प्रकाशमान है। चाहे कोई सा भी भव हो, एकेन्द्रिय है, निगोद है, उसका कुछ भी स्वभाव व्यक्त नहीं हो पा रहा है, बड़ा आवरण है, न कुछ जैसी दशा है, इतने पर भी स्वभाव वही परिपूर्ण है, अन्तःप्रकाशमान है। यदि स्वभाव न रहे, मिट जाय तो जीव ही मिट जाय। तो ऐसा वह अपना सहज स्वरूप समयसार उसके लिए यहाँ अभिमुखता रूपी नमस्कार किया जा रहा है। यह समयसार संसारके जितने पदार्थ हैं उन सब पदार्थों में शिरोमणि है। सब कुछ हो, पाँचों द्रव्य हों खूब और एक जीव द्रव्य ही भर न हो तो उसकी स्थिति विचारो, क्या स्थिति है ? प्रथम तो पुद्गल काहेके लिए ? जब जीव ही नहीं है तो यह तो भोगोपभोगके साधन हैं, भोगोपभोगरूप हैं। जो जीव द्वारा अग्राह्य वर्गणायें हैं वे तो आँखों ही नहीं दिखती है, ऐसा कुछ है। बाकी ये सब जीवग्राह्य हैं। जीव न होता तो यह सकल ही क्यों होती पुद्गलकी ? जीवने आहार वर्गणाओंको ग्रहण किया और यह वृद्धिको प्राप्त होता, जब कि ये ईंट भीट, कड़ी बर्गा आदिक ये सबके सब जो दिख रहे हैं, ये सब जीव सम्बंधसे ही बने हैं। जीवद्रव्य न हो तो यह काठ ही काहेके लिए होता ? और, धर्म अधर्म किसलिए ? आकाशका कौन प्रयोग करे ? काल भी क्या बात रही ? एक जीव द्रव्य भर न हो तो यह सारा संसार सूना। यह हलचल ही कुछ नहीं, बात ही कुछ नहीं, ज्ञान भी क्या, ज्ञेय भी क्या ? तो यह जीव द्रव्य संसारके समस्त पदार्थोंमें शिरोमणि हैं। कोई सोच सकता कि मैं जीव द्रव्य न होता और मैं परमाणु रहता तो बड़ा अच्छा था। कोई कष्ट न होता, विकल्प न होते, कुछ बात ही न होती, कुछ भी बन रहा, स्कंध बने, जीव द्वारा ग्रहणमें आये, कुछ भी हो, परमाणुका क्या बुरा-भला ? मैं क्यों जीव हुआ ? इसमें कोई बात चलती है क्या ? क्यों हुआ ? न होता, अरे जो सत् है वह है ही है। अनादिसे ही है, अब तो इसमें कुशलता है कि विकल्प भ्रमदृष्टि, कषाय, आकुलता, ये विपरीत परिणमन न रहें और शुद्ध परिण-

मन जगे। पवित्र यह आत्मतत्त्व बने तो वहाँ दुःख नहीं, इतनी ही बात नहीं, किन्तु अनन्त आनन्द बनेगा। निराकुलताका नाम आनन्द तो कहा है पर केवल इतनी ही बात नहीं कि आकुलता नहीं इसका नाम आनन्द है। आनन्द तो जीवका एक सहज गुण है। अभावरूप नहीं, निषेधरूप नहीं कि आकुलता नहीं यह ही आनन्द है। यह तो हम आपको समझानेके लिए बात है। क्योंकि हम आप आकुलतासे भरे हैं। आकुलता हमारा आपका एक माप है। इसे सुख है कि नहीं, शान्ति है कि नहीं उसकी माप है आकुलता। कितना कम है, बिल्कुल नहीं है, यह तो आनन्दका माप है, पर आकुलता का न रहना इसका नाम आनन्द नहीं। आनन्द तो एक विधिरूप गुण है, स्वभाव है जीवका, आनन्द तो परम आल्हादमय अवस्था है जो अब कभी चंचल नहीं होना है, स्थिर अवस्था है, शुद्ध पर्याय हुई, तो ऐसा जो एक आनन्द स्वभाव वाला है, ज्ञानस्वभाव वाला है वह तत्त्व तो संसारके सर्व पदार्थों में शिरोमणि है।

३४—समयसारकी सर्वदर्शिता व सर्वज्ञरूपता—

इस अन्तस्तत्त्वका स्वरूप देखो सर्वदर्शी और सर्वज्ञ स्वरूप है। स्वभाव जब एक वस्तु है। आत्मा चैतन्यस्वरूप, तो चेतनामें कैद कहाँसे लगे कि तुम सामनेकी ही बात जानना। आजकी ही बात जानना। उस चेतनमें, उस चेतनके स्वभावमें, उस चेतनके परिणमनमें न तो क्षेत्रकी कैद है न कालकी कैद है, न द्रव्यकी कैद है, इतना बड़ा जानना, इतना छोटा जानना, ऐसी कुछ कैद नहीं है। क्योंकि चेतनेका स्वभाव है. यदि बाह्य पदार्थोंकी कलाके कारण ज्ञान बने तो कैद है मगर चेतनामें स्वयंकी ओर से, स्वयंकी कलासे ज्ञान प्रकट होता है, बाह्यपदार्थोंकी कलासे ज्ञान नहीं बनता इसीलिए यह असीम है, स्वभाव सर्वदर्शी है और सर्वज्ञ है।

३५—अपने एकमात्र स्वामी समयसारको अभेद नमस्कार—

समयसार, हमारा यही तो एक स्वामी है, बाहर कहीं भी डोल आये, सिवाय थकनेके और चोट लगनेके और कुछ बात न आयगी। लड़का घरसे निकलकर बाहर खेलने जाता है, खेल रहा, पिटकर वह रोकर आयगा घरमें और तब वह खटियापर सो जायगा। बाहरमें उस लड़केको कोई आराम मिलनेका नहीं। जहाँ कुछ बालक जुड़ते हैं और उनमें ये खेल रहे हैं, मन भर रहे, पर उस खेलका अंतिम परिणाम लड़ाई है। जब तक मार-पीट नहीं हो जाती तब तक खेल बन्द नहीं होता। तो ऐसे ही समझो कि यह उपयोग बाहर दौड़ रहा अनेक पदार्थोंके साथ खेल रहा, नाना पुद्गल, चेतन अचेतन रूपी पदार्थ, सुंदर रूप, रस, गंध, स्पर्श, यश कीर्ति आदिक न जाने क्या-क्या बातें हैं, उन सबके साथ यह उपयोग खेल रहा है। उसका परिणाम यह निकलता है कि यह रोकर आयगा, पछताकर आयगा और अपने घरमें, अपने स्वामीकी शरणमें आयगा तो इसे आराम मिलेगा, विश्राम मिलेगा, इसे विश्राम मिलनेकी कोई और जगह नहीं है संसारमें। जो परमें विश्राम मान रहे हैं वे धोखा खायेंगे और बड़ी चोट सहेंगे। जो सम्पदामें ममता रखते हैं, कुटुम्बीजनोंको देखकर बड़ा हर्ष मानते हैं, अपनेको बहुत बड़ा अनुभव करते हैं वह सब जितना जो बड़ा अनुभव करेगा संसारी रूपसे वह उतना ही अधिक चोट खायगा, दुःखी होना पड़ेगा। तो संसारमें कहीं भी उपयोगको शरण लेनेके लिए भेज दो, जावो शरण गहो, पर यह उपयोग बाहरसे रोता हुआ ही आयगा और आखिर जब अपने आपके अन्दर ही बसा हुआ यह समयसार स्वामी-इसकी छायामें आयगा तो इसे आराम मिलेगा। इस सहज ज्ञान परमज्योति चैतन्य महाप्रभुकी ओर जो शरण लेता हुआ दृष्टि रखता है

तो ऐसी दृष्टि रखनेका नाम है समयसारका नमस्कार। समयसार अज्ञानी तो नहीं है जो आपके हाथ जोड़नेको देखकर आपपर प्रसन्न हो जाय। इसका नमस्कार तो इसकी ओर अभिमुख होना, इसका आत्मसात् करना, इसमें रुचि जगना, यह ही इसका नमस्कार है। हाथसे नहीं, सिरसे नहीं, लेकिन जब समयसारकी रुचि है और विकल्प हो तो सिरपर हाथ लगे हुए हैं और जब श्रद्धा चल रही है तो मन, वचन काय भी नम्र होता है, ऐसा योग न बनेगा कि आत्मा या उपयोग तो इस समयसार प्रभुकी ओर नम्र हो और हाथ और सिर कड़े बने रहें ऐसा योग नहीं होता। यह तो बाहरकी जो प्रवृत्ति है वह अन्तः प्रवृत्तिका अंदाज करने वाली है। लाभ तो अन्तर्वृत्तिसे है। इस अन्तर्वृत्तिके लिए सबसे महान साहस यही करना होता है कि मेरा इस आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है, ऐसा कटाव बने समस्त परतत्त्वोंसे तो इस जीवको समयसारके दर्शन होते हैं। कोई सोचे कि कुछ कुछ राग भी चलता रहे और कुछ-कुछ समयसारका अनुभव भी होता रहे, सो ऐसा धीरे-धीरे राग उत्पन्न होना और धीरे-धीरे समयसारका अनुभव होना, यह बात नहीं होती, राग भी छूटता है तो इकदमसे है। छूटता है और अनुभव भी होता तो इकदमसे होता है। यहाँ धीरे-धीरे वाली बात नहीं है। अभ्यास करनेकी बात अलग है, तो एक अन्तर्दृष्टिमें निर्विकल्प युक्तिसे अपने आपमें सहज अंतस्तत्त्वका दर्शन करें, अभिमुख हों यही है इस समयसारका अद्वैत नमस्कार।

३६—मेरा उत्तरदायी समयसार—

मेरा धनी मैं, मेरा जिम्मेदार मैं। दूसरा कोई भरोसा इस आत्माका उत्तरदायी नहीं। कोई भरोसा रखता हो कि हमारा पति हमारा जिम्मेदार है, हमारा अमुक पंडित, हमारा अमुक गुरु जिम्मेदार है तो गुरुकी बात तो दूरकी रही, भगवान भी मेरे जिम्मेदार नहीं, प्रभु सर्वज्ञ, ईश्वर, सिद्ध भगवान, सशरीर परमात्मा ये भी कोई मेरे जिम्मेदार नहीं। अगर जिम्मेदार हों तो भगवान नहीं। कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका उत्तरदायी नहीं होता, ऐसा है यह बेसरम संसार। यहाँ कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका जिम्मेदार है ही नहीं। स्वरूपदृष्टिसे देखो प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अपनी पर्यायका उत्पाद करता है, अपनी ही पूर्व पर्यायका विलय करता है और स्वयं यह खुद ध्रुव रहता है। इसकी फैक्टरीमें दूसरेका साझा नहीं है, समस्त पदार्थोंकी फैक्टरी केवल उन ही में खुदमें है। यह कोई किसी दूसरेके साझेमें नहीं। हाँ विषम परिस्थितियाँ जो होती हैं वे निमित्त नैमित्तिक योगसे होती हैं, पर इसे तो कैवल्य चाहिए। प्योरिटी, पवित्रता नहीं किन्तु एकत्व। प्योरिटीका शुद्ध अर्थ पवित्रता नहीं है किन्तु एकत्व है, कैवल्य है। अब कैवल्यमें पवित्रता होती ही है। एकत्वमें पवित्रता होती ही है। तो प्योरिटीका अर्थ पवित्रता करना फलित अर्थ है। शुद्ध अर्थ नहीं। शुद्ध अर्थ है कैवल्य, एकत्व। अपने आपमें अपना कैवल्य हो, केवलपना रहे बस यह ही है आत्माका एक कल्याण-भूत काम। ऐसा होनेके लिए मेरा कौन सहयोगी है? कौन सहयोग दे देगा? मैं अपने ही दुर्भावोंको न तजूँ तो फिर मेरा कोई मददगार नहीं। दूसरा अगर मददगार है, निमित्त है तो दुर्भावोंमें निमित्त तो हो जाता है, विकारोंमें तो निमित्त हो जाता है, पर आत्मानुभूतिमें कोई दूसरा निमित्त नहीं है, रहा यह कर्मक्षय, कर्म उपशम तो इसका तो निमित्त नैमित्तिक भाव व्यवस्थित है, मगर आश्रयभूत पदार्थोंमें निमित्तपनेकी बात व्यवस्थित नहीं है।

३७—विषम कार्योंकी निष्पत्तिविधि—

विकारके प्रसंगमें ये तीन बातें बहुत समझकर चलना है। जितने भी विकार होते हैं जीवमें

या जो कुछ भी विचार होते हैं उनमें तीन कारण हुआ करते—(१) उपादान (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। आश्रयभूत पदार्थ वे हैं जो पञ्चेन्द्रियके विषयभूत हैं, बाहरी चीजें हैं या और और देवशास्त्र गुरु आदिक हैं, और निमित्त कारण है कर्मका उपशम, उदय, क्षय, क्षयोपशम आदिक। तथा उपादान है यह जीव, जिसमें इतने तत्त्व प्रकट होते हैं। अब जिन लोगोंने इन बाहरी आश्रयभूत पदार्थोंको निमित्त नैमित्तिक कह कहकर इस निमित्त शब्दकी जान निकाल दी है, उदाहरण दे देकर, सम्यक्त्वका निमित्त समवशरण है अगर, तो यह जीव समवशरणमें कई बार गया सम्यक्त्व क्यों न हुआ ? इसलिए निमित्त कुछ चीज नहीं। खूब उदाहरण दिये जाते हैं मगर जैनशासनसे कितना द्रोहका काम है यह कि आश्रयभूतका तो उदाहरण देते और निमित्त कहकर इसके कर्मसिद्धान्तका खण्डन करते। भला कोई यह तो बताये कि जीवकी कमजोरीके कारण आज तक मुक्ति न हो सकी तो यह कमजोरी आजसे अनन्तकाल पहले क्यों न मिटा ली ? अब भी क्यों नहीं मिटा ली जाती, क्योंकि वह अपनी बात है, अपनी योग्यता है तभी मिटा लेते। तो जैनशासनका सिद्धान्त एक अमिट सिद्धान्त है जिसके विषयमें कोई जबान नहीं हिला सकता। किसी दर्शनने कर्मकी बात सामने नहीं रखी। वीतराग ऋषि संतोंने अपने ज्ञान द्वारा प्रभुकी दिव्यध्वनि परम्परा द्वारा कर्मका सही-सही रूप बताया। कितने रूपमें ? ओहो, पहाड़ कितना बड़ा है यह वही जान सका है जो पहाड़पर चढ़ने का उद्यम करे। दूरसे देखकर तो कह देंगे कि पहाड़ यह ही तो है, झट ऊपर चढ़ जायेंगे, तो वह गप्प है केवल। जब किसी तत्त्वज्ञानमें प्रकृतमें कर्मसिद्धातमें चलियेगा तो मालूम पड़ेगा कि कितना गहन विषय है कर्मसिद्धान्तका। आश्रयभूतमें गड़बड़ी है, वह कारण बने या न बने। सम्यक्त्वका कारण समवशरण नहीं है, जिनबिम्बदर्शन नहीं है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारण ये बाहरी उपदेश नहीं हैं। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारण भूततो सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम है अन्य कुछ नहीं है।

३८—शुभोपयोगियोंके लिये शुभोपयोगकी हेयताका उपदेश—

अब यह एक शंका दूसरी हो सकती है कि आश्रयभूत वस्तु निमित्त नहीं है तो हम क्यों दर्शन करें ? क्यों आगम सुनें, क्यों यह करें। तो देखिये भाई-अशुभोपयोगके बाद निर्मल पर्याय किसीके भी प्रकट नहीं हुई तो जिस-जिस जीवके निर्मल पर्याय प्रकट हुई है शुभोपयोगके बाद हुई है। अशुभोपयोगके बाद कोई सी भी निर्मल पर्याय प्रकट हो नहीं सकती। ढंग ही यह है, तो मूर्तिदर्शन, शास्त्रश्रवण, गुरुभक्ति ये सब हमको नम्र बनाते हैं, मार्गकी ओर झुकाते हैं, वे-वे सब शुभोपयोग हो रहे हैं, जिस तरहके शुभोपयोगके बाद निर्मल पर्याय बन सकती है वह तो होगा, उनसे अलग हटना कर्तव्य नहीं है, मगर तत्त्व यह बतलाता है कि सिवाय सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंके, उपशम, क्षय, क्षयोपशमके अन्य कुछ भी कारण सम्यक्त्वका निमित्त कारण नहीं है। जैसे यहाँ कहेंगे कि जिन मूर्तिके दर्शन भी नहीं किया और सम्यक्त्व हो गया, समवशरणमें भी नहीं गया जीव और सम्यक्त्व हो गया तो यह बतलावो कि ७ प्रकृतियोंका उपशमादि भी न हुआ और सम्यक्त्व हो गया, यह तत्व व्यवस्था है क्या ? हम आगममें सब कुछ जानकर फिर निष्कर्ष रूपसे निश्चयनयका सहारा लें, विकल्पोंसे हटकर निर्विकल्पदशामें आयें, यह कुछ पौरुष तो है, मगर पहलेसे ही हम अनभिज्ञ रहें तो वह पौरुष न चलेगा। किसीने कह दिया कि देखो मकानकी दूसरी मंजिलपर पहुचना होता है सीढ़ियोंके छोड़नेसे, होता कि नहीं होता। सीढ़ियाँ छोड़ेंगे तभी तो मंजिलपर पहुचेंगे, सीढ़ियोंको पकड़नेसे भी ऊपरकी मंजिलपर पहुच सकेंगे क्या ? अच्छा सुन लिया किसीने,

ओह—सीढ़ियोंके छोड़नेसे ऊपर पहुंचते हैं तो हम तो बस अब सिद्ध हो ही गए। हम तो पहलेसे ही सीढ़ी छोड़ बैठे हैं, हमारा काम तो बन ही गया। कहा है ना कि सीढ़ियोंके छोड़नेसे, दूसरी मंजिलपर पहुंचते हैं, तो इस तरह छोड़नेसे दूसरी मंजिलपर पहुंचना नहीं होता, किन्तु ग्रहण करके छोड़नेसे, सीढ़ी पर चढ़कर सीढ़ीको छोड़नेसे ऊपर पहुंचना होता है, तो ऐसे ही समझो कि शुभोपयोग छोड़नेसे शुद्धोपयोग होता, पर शुभोपयोगमें चलकर छूटनेसे होगा शुद्धोपयोग। यों तो शुभोपयोग सारे संसारका छूटा ही हुआ है, तो क्या वे प्रभु हो गये ? तो इस समयसारको प्राप्त करनेका जो साधन है उस साधन में लग रहे हैं, मगर प्राप्त तब होगा, अनुभव तब होगा जब कि निरपेक्ष, असहाय, परके आश्रय बिना सहज ही स्वयंकी दृष्टि परिणति बनेगी। तो ऐसा करनेके लिए अभ्यास करें अभीसे कि किसी बाह्य पदार्थमें हमारा राग लगाव न जाय। जाय तो बात करें उससे। जिस पदार्थमें लगाव जाता हो उस पदार्थसे पूछो कि तुम मेरे जिम्मेदार हो क्या ? तुम मुझे संसारकी भटकनासे बचा लोगे क्या ? सवाल करें उससे। उत्तर सही मिलेगा और लगाव मिट जायगा।

३९—सत्संगसे निःसंग अनुभवका क्रमविचार—

जिसने वस्तुकी स्वतन्त्रताका परिचय पाया है, जिसके बलपर प्रत्येक पदार्थको भिन्न-भिन्न स्पष्ट समझ रहा है उस पुरुषको पूर्वसंस्कार वेगके कारण कदाचित योग लगाव बनता हो तो वह उससे साधी बात करके निवृत्त हो जायगा, निर्विकल्पताका अभ्यास करना। सत्संग है, साथमें ८–१० भाई हैं, एक ही ध्येयके हैं, कल्याणार्थी हैं, बहुत वात्सल्य है परस्परमें, फिर भी सबके साथ पूरा कटाव करनेपर ही अनुभूति बन सकेगी, और, ऐसा ही वात्सल्य धर्मात्माओंमें बताया जाता है, सो ही बात बताते हैं, वात्सल्य करते हुए ऐसी स्थिति बनायें कि हम सबको भूल जायें और निर्विकल्प होकर आत्माका अनुभव करें, ऐसा हम सब साधर्मियोंसे कह रहे हैं, इसी उद्यमके लिए सत्संग है कि उस सत्संगका भी ख्याल छोड़ें, विकल्प छोड़ें और आत्मानुभव प्राप्त करें। इसीलिए साधर्मियोंका सत्संग होता है। बाहर दिल लुभाना, दिल साधना, सुख दिलाना इसके लिए साधर्मियोंका सत्संग नहीं, किन्तु सभी कोई सभी साधर्मी जनोंको भूलकर विकल्पका परिहार कर अपने अन्दरमें निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य ज्योतिको ज्ञानमें लें और वहाँ एक अनुभूति प्राप्त करें, इसके लिए है साधर्मी जनोंका सत्संग। तो कौन हमारा जिम्मेदार रहा ? मेरा यह चिदानन्द, अलख, जो दूसरेके लखनेमें नहीं आ रहा, मेरेको खूब समझमें आ रहा।

४०—स्वभावकी स्वसंवेद्यता होनेके कारण अनुभूतिकी सुगमता—

देखो–यह बात तो निरखो कि क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय और क्रोध, मान, माया, लोभ प्रकृति याने कर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म है। द्रव्यकर्म मायने कर्म और भावकर्म मायने परिणाम। कभी मानका परिणाम हुआ, क्रोधका परिणाम हुआ, विचारका परिणाम हुआ, यह परिणाम और वे ज्ञानावरणादिक आठ कर्म इन दो में मोटी चीज कौन है ? कर्म मोटी चीज है, स्थूल है, पौद्गलिक है, मूर्तिक है और कषाय ? इसमें रूप रंग नहीं, पौद्गलिक नहीं, जीवके ही गुणकी परिणति है, सूक्ष्म है, मगर यह तो बताओ कि आप अपने अनुभवसे कषायको स्पष्ट जान सकते हैं या द्रव्यकर्मको स्पष्ट जान सकते हैं। आप अपने भावोंको स्पष्ट जान सकते हैं, कषायको जान सकते हैं, यह मेरी गल्ती, यह मेरेको कषाय, पर ज्ञानावरण आदिक कर्मको स्पष्ट नहीं जान सकते, इसका कारण क्या कि कषाय तो खुदपर बीत रही इसलिए स्वसम्वेद्य बन रहे और कर्म दूसरे पदार्थ हैं वे मूर्तिक हैं, तो भी हमारे ज्ञानके विषय नहीं बन पाते। तो अब देखो कषाय सूक्ष्म है या अकषाय चित्प्रकाश सूक्ष्म है, अकषाय चैतन्यप्रकाश सूक्ष्म

है और इस आत्माका अधिक समय अधिक लगाव, अधिक बात उस चैतन्यप्रकाशके समय है, उस कषायके साथ नहीं है, तब अधिक सुगमतया सुसम्वेद्य चैतन्यप्रकाश होना चाहिए, न कि कषाय। और हो क्यों रहा ? बस धुनिमें, रुचिमें कमर कसकर उतरनेकी कमी रही। भगवद्भक्तिका सदुपयोग करें, साधर्मी सत्संगका सदुपयोग करें, वह सदुपयोग यह है कि सर्वको भूलकर केवल एक निर्विकल्प आत्मामें विश्राम लें, जिसकी मुद्रा है अपना ही चैतन्य स्वरूप अपने अनुभवमें आये तब, ऐसे इस चिद्रूप स्वयंभू सहज प्राणवंत इस कारणसमयसारके प्रति हमारी अभिमुखता बने, इस ही में हमारी धर्मसाधना है और आत्मकल्याण है चाहे कितना ही चिग जायें, पर श्रद्धा यह ही रहे कि मेरा यह सहज स्वरूप यह ही मेरा परम शरण है, यह ही मेरा स्वामी है, इसके ही आश्रयमें हमारा कल्याण है।

४१—उपयोगकी उपयोगके स्रोतमें सम्यक् उपयुक्तता—

यह जीव अपने सुख शान्तिके लिए अनेक प्रयत्न करता है फिर भी यह शान्त नहीं हो पाता इसका कारण क्या है ? कारण सीधा है, जिस कामका प्रयत्न करके उसमें यह फिट बैठ नहीं पाता। सीधी सी बात है, जिस दिन फिट बैठ जायगा उस दिन शान्त हो जायगा, याने ये बाह्य पदार्थोंमें ममता करके यत्न करता है कि शान्ति मिले, तो यह जीव है यहाँ और बाह्य पदार्थ हैं वहाँ इससे अत्यन्त भिन्न, विनश्वर, कुछ सम्बंध नहीं, और यह उपपोग उसमें लगता है उसको विषय करता है तो फ़िट कैसे बैठेगा ? यह सब भिन्न है , विनश्वर है, मिटेगा, इसको रोकर यहीं आना पड़ेगा, तो फिट तो न बैठा। हम जो यत्न करते हैं वह जब फिट नहीं बैठता तो शान्ति कहाँ मिल जायगी ? उपाय कर रहे हैं कि कभी फिट बैठ जाय। फिट बैठेगा कैसे ? जहाँ की चीज वहाँ ही रहे तो फिठ बैठ जायगा। उपयोग हमारे आत्माका यह परिणाम है। वह उपयोग अपने आपके स्वरूपमें लगे तो स्वयं फिट बैठ जायगा। जब कभी आत्मानुभवकी प्रतीति चलती है और कुछ मन नहीं रमता तो कहते हैं कि हमारी इसके साथ पटरी नहीं बैठ सकती। तो ऐसे ही इस जीवके इन बाह्य पदार्थोंके साथ कभी पटरी ही बैठ नहीं सकती। जबरदस्ती क्यों ऊधम किया जा रहा है ? जहाँ पटरी बैठ जाती है, जहाँ यह फिट बने वहाँ उद्यम हो तो कुछ हाथ आये, कुछ लाभ हो, कुछ लगे ऐसा कि हमने कुछ काम कर लिया और रहा सहा सो और किया जायगा। मगर इन बाह्य पदार्थोंमें जो उपयोग रमाया तो यह तो न फिट होनेकी जगह है, न पटरी बैठनेका काम है। अब जिससे पटरी बैठती नहीं और जबरदस्ती उसके पीछे लगे तो उसे कोई सिद्धि नहीं होती, ऐसे ही जहाँ हमारी पटरी नहीं बैठ रही है वहीं हम बैठ कर रहे हैं तो तो वहाँ शान्ति नहीं मिल सकती। क्या रहा काम ? शुभोपयोगमें चल रहे हैं, बैठेगी पटरी कभी। ठीक लक्ष्य बन गया है। वस्तु स्वरूपको पहिचान लिया है। बनेगा कभी काम।

४२—अनेक स्वाभ्यासके अनंतर सम्यक् उपयोग बन जानेकी संभवता—

गुरुजी एक दृष्टान्त दिया करते थे कि एक बार एक बाबू साहबने किसी देहाती कुम्हारको एक पायजामा दे दिया। उस कुम्हारने जीवनमें कभी पायजामा देखा ही न था। उसने तो धोती, तौलिया आदि देख रखा था। तो वह कुम्हार सोचने लगा कि यह पायजामा तो कोई सिरमें बाँधने की चीज होगी। सो सिरमें बाँध लिया, पर सिरमें सही न बैठा तो सोचा कि कहो हाथोंमें पहननेकी चीज हो। जब हाथोंमें पहना तो वहाँ भी फिट न बैठा। फिर सोचा कि सायद कमरमें बाँधनेकी चीज होगी। कमरमें बाँधा तो वहाँ भी फिट न बैठा। यों करते-करते एक बार पैरोंमें भी डाल दिया तो वहाँ फिट बैठ गया। वह बड़ा खुश होकर उछल पड़ा और बोला—ओह फिट बैठ गया, यह चीज

यहीं पहननेकी है। तो ऐसे ही यह उपयोग इन संज्ञी पञ्चेन्द्रियोंमें मिला है। असंज्ञी तक तो मनका निराकरण है किंतु काम करनेके प्रमादमें संज्ञाका निराकरण नहीं है। इसके लिए बड़ी योग्यता मिली और इसका लाभ न लिया तो यह हम आपका एक बड़ा अपराध है। असंज्ञी बेचारे क्या करें, उनको तो कुछ ज्ञान ही नहीं है, वे यदि उपयोग न कर सकें तो उन्हें हम इतना बड़ा अपराधी न कहेंगे। हम आपको मनुष्य पर्याय मिली है, श्रेष्ठ मन मिला है, सब प्रकारके अच्छे साधन मिले हुए हैं लेकिन बाह्य-पदार्थोंमें उपयोग भ्रमाकर दुःखी हो रहे हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, नामवरी, इज्जत प्रतिष्ठा आदि भले लग रहे हैं, पर है यह सब एक स्वप्न जैसी बात। वास्तविकता कुछ नहीं है, पर मन खुश हो रहा। जैसे स्वप्नमें किसीको राज्य मिल जाय, अच्छे विषयोंके प्रसंग मिल जायें, खूब उन्हें भोग रहे, मौज मान रहे तो क्या वहाँ स्वप्न देखने वालेको झूठा प्रतीत होता ? अरे वह तो बड़ा खुश होकर मौज मानता है। मानो स्वप्न देखने वाला स्वप्नमें लड्डू खा रहा हो तो क्या उसका स्वाद वह पायगा नहीं ? पायगा, पर वहाँ वास्तविकता कुछ नहीं है, नहीं पटरी फिट बैठ रही फिर भी जबरदस्ती लग रहे तो उसका फल शान्ति कैसे हो सकता ? तो अब समझिये—कहाँ भटके ? यह उपयोग कैसे जमकर रहे ? बाह्य पदार्थोंमें उपयोग लगानेसे तो प्रकृत्या ही यह उपयोग हिलता डुलता रहेगा, फिट नहीं बैठ सकता, क्योंकि सब भिन्न बातें हैं। तो उपयोग जहाँ है, जिसका है उसका जो स्रोत है, जिसका यह परिणाम है वह यदि अपने स्रोतमें ही अपना उपयोग लगा दे तो वहाँ फिट बैठ जाय। तो बराबरका क्षेत्र है, बराबरकी चीज है, बराबरमें फिट बैठ जायगा। ऐसा पौरुष बनानेके लिए हमको करना क्या है ? करना है वस्तुस्वरूपका सही निर्णय। उसके ही प्रतापसे यह उपयोग अपने निज धाममें फिट बैठ सकेगा।

४३—जीवनका मुख्य काम तत्त्वज्ञान—

मुख्य काम पड़ा है तत्त्वज्ञानका। वस्तुस्वरूपका सही निर्णय। वस्तुस्वरूपका सही निर्णय कैसे हो ? तो देखिये मोटी बात-कोई भी मूल वस्तु है तो वह सदा रहती या नहीं ? सदा रहती है और उसकी अवस्था भी कुछ न कुछ रहा करती। अवस्थाके मायने पदार्थमें द्रव्य और पर्याय, ये दो तथ्य ऐसे हैं कि इनमें त्रिकाल बाधा नहीं है। द्रव्य बिना पर्याय नहीं, पर्याय बिना द्रव्य नहीं। है कोई ऐसी चीज कि जिसकी पर्याय न हो ? है तो नहीं मगर जबरदस्ती भी इसकी की कुछ लोगोंने। जैसे एक ब्रह्मवाद मानता कि ब्रह्ममें कोई परिणति नहीं है, कोई अवस्था नहीं है, तो भले ही जबरदस्ती इस तरहसे माना जावे मगर हाथमें कुछ न आयगा। उपयोगमें कुछ न बैठेगा। समझमें कुछ न आयगा। सिद्धि तो होती है प्रयोग की। बात-बातमें तो सिद्धि नहीं होती। तो पर्याय बिना द्रव्य नहीं और द्रव्य बिना पर्याय नहीं। होती तो नहीं, पर कुछ लोगोंने इसकी भी जबरदस्ती की। द्रव्य नहीं है, पर्याय पर्याय माना जा रहा है, मायने क्षण-क्षणमें नये-नये पदार्थ पैदा होते। उनकी अवस्था एक ही मान लिया—पूर्ण वस्तु और नया-नया पैदा होता, दूसरे क्षण भी नहीं ठहरता। पैदा हुआ, खतम, फिर पैदा हुआ, खतम। मगर वस्तुका स्वरूप इस भाँति समझिये, अनुभवसे विचारो, व्यवहारमें देखलो, सब तरहसे यह निर्णय बनेगा कि वस्तु शाश्वत है और प्रति समय उसकी अवस्था बदलती रहती है। यह ही बात तो हममें है। हम सदा काल हैं और प्रति समय हमारी अवस्था बदलती रहती है। एक मोटा ज्ञान लीजिए। अगर हम सदा काल नहीं हैं ऐसा हमारे चित्तमें आये तो यह भाव न बनेगा क्या कि मुझे पड़ी क्या है धर्म करनेकी ? जब मुझे सदा रहना ही नहीं है तो फिर मैं धर्मके चक्करमें क्यों

पड़ूँ ? धर्म मैं करूँ और मोक्ष किसी दूसरे जीवको हो तो उस धर्मके करनेसे हमें क्या फायदा ? यहाँ व्यवहारमें भी देख लो, मान लो रसोई आप तैयार करें और उसे भोगे कोई दूसरा ही जीव, तो आपको फिर रसोई बनानेका कष्ट करनेसे क्या लाभ ? यों किसी भी मामलेमें कोई बात न बन सकेगी। अच्छा तो जब मैं शाश्वत हूं यह बात चित्तमें बैठे तो कल्याणकी वाञ्छा उत्पन्न होगी। हित करें, कल्याण करें। हमारी यात्रा तो सदा चलती रहेगी, हमारी शुभ यात्रा रहे, शुद्ध रहे, संतोषमयी रहे वह काम करना चाहिए। जब यह समझा कि हमारी अवस्था होती है, मिटती है और बनती है तो हममें यह साहस जगेगा कि हममें जो मोहकी, रागकी, अज्ञानकी अवस्था है उसे मेटकर रहेंगे और कोई नई अवस्था आयगी, क्योंकि इसका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई अवस्था सदा नहीं रहती। तो कोई कहे कि आनन्दकी भी अवस्था मिल जायगी, वह भी सदा न रहेगी सो ऐसी एकान्ततः बात नहीं है। वह है एक सहज अवस्था, निमित्तनिरपेक्ष अवस्था, कैवल्य अवस्था, जिसका परसे कुछ सम्बंध नहीं, तो वहाँ यह धारा चलती है कि वह शुद्ध पर्याय हुई और तुरन्त मिटी। फिर क्या होगा ? शुद्ध पर्याय ही होगी। जब वह केवल रह गया तो उसमें अशुद्धताका काम नहीं है। सो उसकी कोई चिन्ता न करे कि अगर एक बार हम मुक्ति पा लें तो ऐसा न हो कि फिर भी वह मुक्ति मिट जाय। तो वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, पहले तो यह निर्णय करना।

४४—तत्त्वज्ञानसे मोहसंकटका विनाश—

अब देखिये—उसमें जो द्रव्यकी बात कहता है उसे कहते हैं निश्चयनय और जो पर्यायकी बात कहता है उसे कहते हैं व्यवहारनय। छूटा दोनोंमें कोई नहीं। न द्रव्य छूटा और न पर्याय छूटा। मगर वस्तुको खण्डित कहकर कहने की विधि है व्यवहार। पर्यायको बताता है व्यवहारनय इसलिए उसका नाम व्यवहारनय है और निश्चयनयमें अखण्ड वस्तुको बतानेकी विधि है। तो शुद्ध निश्चयकी बात और शुद्ध व्यवहारकी बात इन दो नयोंके द्वारा वस्तुस्वरूपको पहिचान लेंगे। प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। घरमें आये हुए स्त्री पुत्रादिक जीव ये एक जीव द्रव्य हैं, द्रव्यपर्यायात्मक है, उनकी पर्याय उनमें ही होती है, उनसे बाहर एक सूत भी उनसे कुछ नहीं आता। मुझसे एक सूत भी बाहर कुछ नहीं जाता। कितना न्यारापन है। यह न्यारापन जब दृष्टिमें आता है तो वहाँ मोह नहीं ठहर सकता। अब हमारी पुरानी कुटेबके कारण राग रहे तो रहे पर मोह नहीं ठहर सकता।

४५—मोह और रागकी स्थितिका परिचय—

मोह कहते हैं अज्ञानको। मोहमें और रागमें बहुत अन्तर है। मोह होनेसे कहलाता मिथ्यादृष्टि और राग होनेसे कहलाता असंयमी। कोई रईस रोगी पलंगपर पड़ा है, उसकी सेवा करने वाले बहुतसे लोग हाजिर हैं। एयर कंडीसनके कमरेमें हैं, पलंग भी स्प्रिंगदार है, बड़ा आराम है, डाक्टर लोग भी समय-समयपर आकर औषधि दे जाते हैं। उस सेठसे मिलने वाले लोग भी बराबर आते जाते रहते, बड़ी पूछताछ करते रहते। यों उस सेठको बड़ा आराम है। कोई तकलीफ नहीं, पर यह तो बताओ कि उस सेठको क्या उन सभी साधनोंमें मोह है ? मोह तो नहीं है। हाँ राग जरूर है। उसे वे सब चीजें बड़ी प्यारी हैं, मानलो कदाचित् दवा मिलनेमें देर हो जाय तो वह डाक्टरपर भी झल्लाता है, पलंगपर भी कुछ गड़ने लगे तो वह झल्लाता है, किसी भी प्रकारसे उसके आरामके साधनमें बाधा आये तो वह झल्लाता है, पर यह तो बताओ कि इतना होनेपर भी उसे मोह है क्या ? मोह तो नहीं है। क्योंकि यदि मोह होता तो वह चाहता कि मुझे ये बातें सदा मिलती रहें।

यह डाक्टर मेरे पास जिन्दगी भर आये, यह दवा मुझे जिन्दगी भर मिलती रहे, पर ऐसा भाव तो उसका नहीं है, इससे जानो कि इन सब बातोंमें उसे मोह रंच नहीं हैं। राग जरूर है। राग और मोहमें बड़ा अन्तर होता है। वह दवा पीता है तो इसलिए कि दवा पीनेसे छुट्टी मिले, उस दवामें उसे आशक्ति नहीं। ऐसे ही ज्ञानी जीव परिस्थितिवश कुछ भी काम करते हैं—खाना-पीना, उठना बैठना, आना जाना, बोलना चालना आदि, वे सदा इस भावसे, इस मुद्रासे करते हैं कि ये सारी बातें हमारी छूट जायें।

४६—परमविश्रामका साधकतम यथार्थ निर्णय—

जब यह परिचय हो जाता कि मेरा आत्मा मेरे ही द्रव्य गुण पर्यायमें है, इतनी ही मेरी दुनिया है, इतना ही मेरा परिणमन है, इससे बाहर मेरा कुछ नहीं। इस प्रकार इन सब चराचर पदार्थोंमें उनका सब कुछ उनके ही प्रदेशमें है, उनसे बाहर कुछ नहीं, जब ऐसा सही निर्णय हो जाता तो वहाँ मोह नहीं ठहर सकता। उसकी धुन होती है आत्माके अनुभवके लिए। उसका मन विश्राम चाहता है। अब तक अज्ञानमें रहकर उपयोगको थका डाला, भ्रमा डाला। आज तत्त्वका निर्णय हुआ है कि मैं मैं हूं, अन्य अन्य हैं, निजको निज परको पर जान यह स्थिति हमको मिली है, तो आज मन बड़ा शान्त है यह विश्राम चाहता है। मेरा भ्रमका कष्ट दूर हो गया है। यह मनका विश्राम कैसे हुआ कि हमको वस्तु स्वरूपका सही निर्णय मिला और उसका खूब मनन हुआ। और मनन होकर प्रकट भिन्न एक-एक पदार्थ स्पष्ट दृष्टिमें आया। अन्यकी तो बात जाने दो—ये स्कंध भी जों दिख रहे हैं—भींट मकान, आदि और अब ये भी अणु-अणु स्वतंत्र स्वतंत्र मेरी दृष्टिमें हैं, देखो जैसा मेरी दृष्टिमें है स्वतंत्र-स्वतंत्र, भिन्न-भिन्न, अणु-अणु, अगर ऐसा यहाँ हो जाय तुरन्त भींटमें तब तो फिर यह छत गिर जायगी, भींट गिर जायगी, यहाँ बैठे ये सब लोग दब जायेंगे। डरिये नहीं, ऐसा होगा नहीं। चीज जहाँकी तहाँ है पर उसके प्रति ऐसा उपयोग बने कि ये सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं, इनका अणु-अणु सब कुछ इनमें है, इनसे बाहर इनका कुछ नहीं, इन पर मेरा कोई अधिकार नहीं। ये सब मायारूप हैं, यह वस्तुके स्वरूपका सही ध्यान आया कि झटउसकी वजहसे एक बहुत बड़ा विश्राम मिला, नहीं तो यह उपयोग मोहमें अटपट दौड़ दौड़कर सदा बेचैन रहता था। हाँ तो उपयोग अब जरा आरामें आया। आराम मायने क्या ? आ राम, राम मायने आत्मा। आत्मा उपयोगमें आये यही सच्चा आराम है, और जगह आराम नहीं है। तब अन्यकी बात तो दूर रहो, अपने आपकी पर्याय होते हुए भी उन पर्यायोंमें जब नहीं अटक रहा यह ज्ञानी और सीधा पर्यायोंमें प्रतिघात न पा कर उनमें से निकलकर सीधा एक ध्रुव चित्स्वरूपपर आ गया है तो वहाँ तो एक विचित्र ही स्वाद आता है। ज्ञानमैं ऐसी करामात है कि बीचमें कोई भी अटक आये, किसी भी अटकमें यह न अटकेगा और जिसका लक्ष्य बनाया वहीं पहुंच जायगा। सब कला ज्ञानमें है। जब लोगोंने ऐसी कला पुद्गलमें भी डाल दी, तो फिर जीवका (चेतनका) तो कहना ही क्या है। हड्डीका फोटो लेने वाला एक एक्सरा यंत्र होता है। जिस व्यक्तिकी हड्डीका फोटो लेना होता है उसे उस यंत्रके पास खड़ा कर दिया जाता है। सुनते हैं कि वह यंत्र कपड़े पहने होनेपर भी न कपड़ेकी फोटो लेता, न रोम, चाम, खून, मांस, मज्जा आदि की फोटो लेता, वह तो सीधे हड्डीकी फोटो ले लेता है। जब ऐसी कला पुद्गलोंमें पायी जाती तो फिर जीवका तो कहना ही क्या है ? यह ज्ञान न तो कर्मसे अटका, न विकारसे अटका, न पर्यायसे अटका, न शुद्धपर्यायसे अटका, इसने जब अपना एक लक्ष्य बनाया तो

सीधा सहज चैतन्यस्वरूपको दृष्टिमें ले लेता है। ज्ञानकी लीला अद्भुत है, बस यही एक सर्वस्व है।

४७—स्वानुभव सर्वस्व संपदा—

कल्याण यह है कि उपयोग अपने स्रोतमें फिट बैठ जाय। इस उपयोगमें अपना आप फिट बैठेगा तो अपने स्वामीके साथ बैठेगा दूसरेके साथ नहीं बैठ सकता। इस उपयोगका जो धनी है, स्वामी है, जिम्मेदार है उसके साथ तो बैठ जायगा, अन्यके साथ नहीं बैठ सकता। तो क्यों जबरदस्ती करें? अन्यके साथ क्यों बैठे? वहाँसे मन हटाया जाय तत्त्वज्ञानके बलसे और यहाँ ही चित्त लगे, यहाँ ही अनुभव बने तो बस यह ही सर्वस्व सम्पदा है। लोग तो चिन्तामणिकी बात सुनकर उसे जगह-जगह ढूढ़ते फिरते हैं, मिल जाय कहीं बाहरमें तो सब बात सिद्ध हो जाय। बाहरमें कुछ भी ढूढ़ेंगे तो वह क्या है? वह चिन्तामणि पत्थर है, काठ है, मिट्टी है, क्या है? कोई पौद्गलिक ढाँचा ही तो होगा उसका। वह पौद्गलिक ढाँचा क्या कभी चिन्तामणि बन सकता है? अरे ऋषी संतोंने अलंकारमें कहा कि आत्माका जो अनुभव है वह एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है कि जो यह चाहे सो मिल जाय। जहाँ कोई चाह ही न रहे, वहाँ समझो सब कुछ मिल गया। आत्माके अनुभवकी यह कला है कि कोई चाह नहीं रहती। जहाँ चाह नहीं रहती उसे कहते हैं सब कुछ मिल गया। यों है यह चिन्तामणि। ऐसा अनुभव ही चिन्तामणि है, अन्य कुछ चिन्तामणि नहीं। ऐसा अपने अंतस्तत्त्वका अनुभव जगे बस वह काम करना। उसके लिए मुख्य है तत्त्वज्ञान। एक भजनमें आया है कि वस्तुतत्त्व दुर्ग दृढ़ है,वस्तुका जो स्वरूप है वह एक ऐसा मजबूत किला है कि यह त्रिकालमें भी नहीं हो सकता कि किसी एक पदाथ में किसी दूसरे पदार्थका प्रवेश हो जाय इतना मजबूत किला है प्रत्येक पदार्थका स्वरूप।

४८—बेमेलके जोड़की जबरदस्तीका दुष्परिणाम—

कैसा अटपट काम हो रहा संसारमें कि मेल खाता नहीं और मोही जोड़ बनाता जबरदस्ती। इस जीवका, इस उपयोगका सिवाय एक अपने स्रोतभूत आत्मस्वरूपके, आत्मतत्त्वके अन्य कुछ नहीं है। इससे ही मेल बैठता है उसका। दूसरेसे मेल तक बैठता नहीं है। मगर कैसी मोहनी धूल इसपर पड़ी हुई है कि जिससे मेल नहीं बैठता, जबरदस्ती उनका जोड़ लगाता है। लोकमें लोग मोहवश समझते हैं कि हमारा इससे मेल है, पर व्यवहारमें भी जिससे यह समझ रखा कि इससे मेल हो ही नहीं सकता और फिर उससे जोड़ा जाय तो उसे तो बेवकूफ कहेंगे। जब मेल ही नहीं बैठता तो जबरदस्ती मेलकी बात क्यों थोपी जा रही है? तो ऐसे ही आत्माको छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थमें उपयोगका मेल नहीं बनता। सब बेमेल बात है। बेमेल बातमें हम जबरदस्ती जोड़ कर रहे हैं तो यह एक ऐसी विडम्बना है कि जैसे कोई बकरा और हाथी दोनोंको एक साथ एक गाड़ीमें जोड़े। ऐसा बेमेल जोड़ देखकर तो लोग हँसेंगे, बल्कि उसे तो लोग पागल कहेंगे। इसी तरह जो हमारी गाड़ी नहीं चल रही, जो हम शान्ति नहीं पा रहे सो बेमेल जोड़ बना रहे जबरदस्ती। खोटे कामोंका फल कौन पायगा? कोई दूसरा भोगने न आयगा, भोगना खुदको ही पड़ेगा। जो जिन्दगी हमारी शेष है सो जरा पुण्यका उदय है आगे जैसा चाहे यह बर्ताव बनाले, मगर बेमेल जोड़का बर्ताव है, उसका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। उसका फल तो स्वयंको ही भोगना पड़ेगा।

४९—अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिकी धुन—

भैया! अन्तस्तत्त्वकी रट लगायें। जब कभी कोई बच्चा अपनी मातासे बिछुड़ जाता है तो वह निरन्तर उस माताकी रट लगाता है। बताओ माता कौन? माता प्रमाता, जो प्रमाण करे याने

अपने हितके लिए जो प्रमाणभूत हो उसे कहते हैं माता। तो यह उपयोग बालक अपनी अनुभूति मातासे बिछुड़ गया, इस बिछुड़े हुए बालकका कर्तव्य है कि उस आत्मानुभवकी रट लगाये। थोड़ी देर सबेरमें आकर आत्मानुभूति माँ आ जावे और इस उपयोग बालकको अपनी गोदमें बैठाल ले तो फिर इस उपयोग बालकको किसी प्रकारकी कोई विपदा न रहेगी। ऐसा फिट बैठ जाय यह उपयोग, तो उसे कहते हैं धर्म। जैसे कहते हैं कि धर्म करो, तो वह धर्म कोई सम्प्रदायकी चीज नहीं है, वह धर्म कोई क्रियाकाण्डकी चीज नहीं है। अपना उपयोग अपने स्रोतमें समा जाय, एकरस हो जाय, वही विषय रह जाय, फिट बैठ जाय, इस उपयोगका जुदे रूपसे पता न पड़े, बस यही है धर्मपालन। देखो भगवानके, केवलीके, सिद्ध भगवानके मुख्यतया उपयोग नहीं बताया है, आप कहेंगे कि लिखा तो है ? ८ उपयोग। लिख तो दिया है पर उपयोग मुख्यतया है नहीं तो फिर लिखा तो है ? हाँ लिखा तो है, उपचारसे *है क्योंकि वहाँ उपयोग उस सहज धारासे एकरस है कि वहाँ पता नहीं पड़ता कि इसने उपयोग लगाया* है और संसारी जीवोंको पता पड़ रहा। केवलज्ञान तो सही है, पर उपयोग उपचारसे है। ऐसी तो कई बातें बतायी जाती हैं प्रभुमें। जैसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान, व्युपरक्रियानिवृत्ति ध्यान, शुक्ल ध्यान। भगवानके ये ध्यान हैं क्या ? ध्यान तो कहते हैं मनकी एकाग्रताको, मनके निरोधको। जहाँ मनका निरोध नहीं, मनकी एकाग्रता नहीं, वहाँ ध्यानका स्वरूप ही नहीं घटित होता। और आगममें कहा तो है ?···हाँ कहा तो है पर उपचारसे। कितनी ही बातें उपचारसे बनती हैं। तो सिद्धोंमें उपयोग उपचारसे है, हममें मुख्यरूपसे हैं तो ऐसा हमारा यह उपयोग इस कारण समयसारमें ऐसा अभेद बन जाय कि यह फिट बैठ जाय तो सदाके लिए हमारा संसार संकट दूर हो जायगा।

५०—चिदानन्दमय समयसारके प्रति अभेदनमस्कार—

भैया, हम आप लोगोंके ध्यानमें कौनसी बात रहनी चाहिए जिससे कि शान्ति मिले ? वह क्या है ? अपना सहज स्वरूप, याने परद्रव्यके सम्बंधके बिना मेरा अपने आप सहज जो स्वभाव है उस रूपमें अपना प्रत्यय करूँ, अनुभव करूँ, बस यही एक धर्मपालन है, इसीको कहते हैं समयसारकी दृष्टि। समयसार क्या ? मेरा अविकार चैतन्यस्वरूप, यह स्वरूपतः अविकार है, उपाधिवश इस चैतन्य में विकार बनता है, मगर स्वरूप इसका विकाररहित है, ऐसे अविकार समयसारकी दृष्टि रखना, इसमें उपयोग देना यही एक सारभूत बात है। वह स्वरूप कैसा है ? चिदानन्द स्वरूप याने चैतन्य और आनन्द। इतनी ही बात जहाँ दृष्टिमें न रहे तो फिर क्या पार पड़ेगा। स्वरूप ही है यह चैतन्य, मायने जानना, देखना और आनन्द याने परम आल्हादमय निराकुल स्वरूप, ये दोनों जिसके स्वरूपमें हैं वह चिदानन्द समयसार हम आपके ध्यानमें रखे जानेके लिये होना चाहिए। यह ही धर्मपालन है। यह काम यदि न किया जीवनमें तो यह जीवन व्यर्थ है। विषयकषाय तो पशुपक्षी बनकर भी सेये जाते हैं, कीड़ा पतिंगा बनकर भी सेये जाते हैं, मगर यह समयसारका दर्शन उत्कृष्ट संज्ञी पर्यायमें बनता है, ऐसे समयसारके प्रति हमारी एक दृढ़ दृष्टि हो, ऐसे समयसारको हमारा नमस्कार हो तो यह बहुत चित्तमें प्रसाद उत्पन्न करेगा।

५१—अलख निरञ्जन कारणसमयसारके प्रति अद्वैत नमस्कार—

यह अज्ञानियोंके लक्ष्यमें नहीं आता समयसार अथवा इन्द्रियों द्वारा लखनेमें नहीं आता, अलख है, जिसे लोग कहते हैं अलख निरञ्जन, तो वह अलख निरञ्जन कौन है ? मेरा ही सहजस्वरूप, जो लखनेमें नहीं आता, साधारणजन जिसको नहीं देख सकते। ज्ञानीजन तो अनुभव करते हैं, ज्ञानी पुरुषोंकी

दृष्टिमें तो स्पष्ट है और उसका आत्मसात् होता, अनुभव होता परंतु सर्वसाधारण जनोंके लखनेमें यह चैतन्य स्वरूप नहीं आता। यह समयसार अलख है, अथवा इन इन्द्रियोंके द्वारा लखनेमें नहीं आता। इन्द्रिय और मनसे अतीत हैं वह स्वरूप अर्थात् उस स्वरूपका अनुभव इन्द्रिय और मनसे परे है। ऐसा अलख, इन्द्रिय द्वारा लक्ष्यमें न आने योग्य और आत्मज्ञान द्वारा स्पष्ट लखनेमें आये ऐसे सहज चैतन्यस्वरूप समयसारके प्रति हमारी ऐसी एक दृढ़ दृष्टि हो कि उससे एक नवीन उल्लास आये, अपना मार्ग मिले, इसे कहते हैं धर्मपालन। इस अलख निरञ्जन कारण समयसारकी हमारा अभिमुखतारूपी नमस्कार हो।

५२—अशुद्धोपयोगके स्रोत समयसारका स्मरण—

इस समयसारकी वर्तमानमें यद्यपि परिणति अशुद्धोपयोगरूप चल रही है, मगर अशुद्धोपयोग जिसका परिणमन चल रहा है उस सहज अंतस्तत्त्वको देखो। न हो कारणसमयसार तो अशुद्धोपयोग भी कहाँसे बने? अशुद्ध ही सही याने निर्विकार नहीं, रागद्वेषकी कोई मात्रा इसके साथमें है न फिर भी किसी रूपमें आधार तो समयसार है। शुभोपयोग हो तो भी अशुद्ध, अशुभोपयोग हो तो भी अशुद्ध, ऐसा अशुद्धोपयोगी बन रहा है, मगर यह अशुद्धोपयोग भी उस समयसारका अनुमान कराता है। जैसे कमरे में उजेला हो और बल्ब नहीं दिखता जिससे कि उजेला चल रहा है, किन्तु एक खिड़कीसे कोनेमें उजेला भर दिख रहा है तो वह उजेला उस दीपक या उस बल्बका अनुमान कराता है। तो ऐसे ही हमारे ये छुटपुट प्रकाश अथवा अशुभ व शुभरागादिक भाव ये भी उस चैतन्य प्रकाशका अनुभव कराते। न होता वह चैतन्यप्रकाश तो अशुद्धोपयोग कहाँ से होता? तो यह अशुद्धोपयोगी है, इस तरह से भी देखें निश्चयनय विधिसे, तो देखते देखते, आखिर उसके स्रोतका विचार करते-करते यह ही समयसार हमारी दृष्टिमें आयगा।

५३—स्वयंभू समयसारके प्रति अद्वैत नमस्कार—

यह समयसार चैतन्यस्वरूप है और स्वयंभू है। किसने बनाया इस चैतन्यस्वरूपको? यह तो अनादिसिद्ध है और जो चेतनका स्वरूप है वह सदाशिव है। किसी भी बाह्य वस्तुका सम्बंध यहाँ स्वरूपको नहीं बिगाड़ सकता। स्वरूप तो स्वयंभू है, अपने आप होने वाला है। प्रत्येक पदार्थका स्वरूप स्वयंभू होता है। किसी अन्य पदार्थकी कृपासे किसी पदार्थका स्वरूप नहीं बनता। ये सब सत् हैं, सब अपने आप अनादिसे हैं और अपने आपमें ही अपना परिणमन करते चले जा रहे हैं। इस कारणसे यह समयसार स्वयंभू कहलाता है। समयसारके अनुभवका आनन्द आनेपर ही तो समयसारका परिचय कहलायगा। वह आनन्द किस कलापर आता है, वह है सहज ज्ञानकला। जैसे सिद्धपूजामें कहते कि समयसाररूपी पुष्पकी मालाके द्वारा। कैसी माला है वह? सहजकर्मकरेण विशोधया, सहज कर्मरूपी हाथोंसे जो रचा गया है, सहजभावसे रचा गया है याने वह समयसारका अनुभव सहज वृत्तिसे रचा हुआ है और वह हमारे चित्तमें रहे, हमारे वशमें रहे, समयसार अनुभूतिके वशमें रहे, मायने सब हमारे अधिकारकी बात रहे। कोई भव्यात्मा जरा दृष्टि लगाये, कि उसे समयसारकी अनुभूति मिलेगी। यह समयसारकी अनुभूति परमयोगके बलसे प्राप्त होती है। वह है सहज सिद्ध समयसार मायने अपने आपका सहज स्वतंत्र विशुद्ध निरपेक्ष स्वरूप। उस स्वरूपमें जो यह मैं हूं ऐसा अनुभव करता है वह संसारके समस्त संकटोंसे पार हो जाता है। यह समयसार, जिसकी कि सीधी लीला चले तो तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं, और जिसकी उल्टी लीला चले तो संसारमें

जितने ये जीव दिख रहें हैं, नाना परिणतियोंमें ये प्राणी पाये जा रहे हैं ऐसी सृष्टि बनती है । स्वरूपतः तो यह जो है सो ही है, मगर कोई भी द्रव्य पर्यायशून्य नहीं होता । तो यह समयसारस्वभाव चैतन्यस्वरूप चेतन अर्थ ही तो है । यह भी परिणमन रखता है । वह परिणमन यदि औपाधिक है, विपरीत है, स्वभावके अनुकूल नहीं है तो उसकी उल्टी लीलामें इन जगतके प्राणियोंके समूहमें जो बातें पायी जाती हैं वे बनती हैं, और जिसकी सीधी लीला हो तो तीन लोक तिहुँकाल उनके ज्ञानमें ज्ञेय हो जाता है और अलौकिक अद्भुत आल्हाद उनमें प्रकट होता है, उल्टी लीलामें यह अपने भावकर्मका करने वाला है और निमित्तदृष्टिसे द्रव्यकर्मका करने वाला है और कभी यह सुलझ जाय, अपने आपके स्वरूपको समझ जाय तो यह फिर इन सब विभावोंसे एकदम विछुड़ जाता है । अपने आपके सहज अंतः स्वरूपमें विश्राम करता है, ऐसे इस समयसारमें अभिमुख ज्ञानीजन रहते हैं । ऐसी वृत्तिके द्वारा मेरा अद्वैत नमस्कार है ।

५४—सद्भावात्मक चित्स्वभावमय समयसारका अभिनन्दन—

यह परमशरण समयसार चित्स्वभावरूप है, भावात्मक है, कहीं अभावस्वरूप नहीं है । कोई चीज सदा है, उसकी शुद्ध सत्ताका परिचय न होनेसे जीवोंको संसारके कष्ट लग गए, परमें दृष्टि दी, परमें लगाव है तो कष्ट हो रहा है । बिल्कुल साफ विदित है, साफ अनुभवकी बात है, परकी ओर उपयोग लगा, उसका आसरा किया, सहारा लिया, आशा बनाया तो उसका फल क्या मिला ? विह्वलता, आकुलता । और, अपने इस चैतन्यस्वभाव, इस सद्भावात्मक पदार्थकी ओर दृष्टि की कि यह मैं हूं, तो देखिये इस अनुभवमें बाहरकी सब चीजें छूट जाती हैं । चैतन्यस्वभावमात्र मैं हूं, जहाँ ऐसी दृष्टि की हो वहाँ फिर संसार संकट नहीं रहते । यह समयसार ऐसा भावात्मक चैतन्य स्वभाववान है । किसकी बात कह रहे हैं ? अपने आपकी बात कह रहे हैं, अपने स्वरूपकी बात कह रहे हैं जो ध्रुव रहता है, सदा रहता है ऐसे अपने अन्तः परमात्माकी बात कही जा रही है ।

५५—सर्वभावान्तरच्छिद् समयसारका अभेद नमस्कार—

ये प्रभु सर्वभावान्तरछिद् हैं । सर्व भाव अंतरच्छिद्, जब ऐसी संधि करते हैं तो अर्थ होता है कि समस्त पदार्थोंको जानने वाला समस्त पदार्थोंके अंतः स्वरूपको पहिचानने वाला, सर्वभावान्तरच्छिदे । सो देखो चेतनमें यह सहज स्वभाव है ही कि जगतमें जो कुछ पदार्थ हैं, इसके जाननेमें आयें । और सर्वभावान्तरच्छिद्का दूसरा अर्थ है सर्वभावान्तर छिद्, समस्त भावान्तरोंको हटा देने वाले, दूर कर देने वाले । स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ इसके साथ बद्ध नहीं हो पाता । प्रत्येक पदार्थ समस्त पदार्थोंसे अपने स्वरूपको दूर ही रखते हैं । दूसरी बात जो आत्मामें भावान्तर है याने स्वभावके अतिरिक्त जो भाव है रागद्वेष, विषय, कषाय विचार-वितर्क, इन समस्त भावान्तरोंका छेदने वाला है जब समयसारकी अनुभूति होती है तो ये विभाव नहीं टिक पाते । वहाँ तो स्वभावदृष्टि रहती है । तो स्वभाव दर्शनका इतना प्रताप है कि रागद्वेषादिक कष्टदायी समस्त भाव इसके दूर हो जाते हैं । कैसे दूर होते हैं, उसके लिए पुरुषार्थ क्या करना होता है ? तो पुरुषार्थ पहला तो है तत्त्वज्ञान, जिसके बलपर सम्यग्दर्शन होता है । जो पदार्थ जिस प्रकार अवस्थित है वह पदार्थ उस ही रूपमें अपनी श्रद्धा में रहे, बस सम्यग्दर्शन है । पूरे सारे पदार्थ एक दूसरेसे अत्यन्त जुदे हैं या नहीं ? मिलनेकी गुंजाइस भी नहीं । एक पदार्थसे कैसे मिल सकता है ? सत्ता न्यारी-न्यारी है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थका परिणमन अपने आपके प्रदेशमें होता है । मेरे प्रदेशसे बाहर मेरा परिणमन नहीं चलता, न्यारे-न्यारे हैं ना सब

पदार्थ। देहका अणु अणु मुझसे न्यारा है कि नहीं, खूब परख कर लो मैं चेतन हूं, देह चेतन है, मेरी कला अन्य है, इनकी कला अन्य है, क्योंकि इनका सत्त्व न्यारा न्यारा है तो जब सब न्यारे-न्यारे हैं तो बस ऐसा ही ज्ञान किए रहें, और ऐसा ज्ञान करके उपयोगको इन सबसे हटाकर अपने चैतन्यस्वरूपमें लगालें, देखो इस प्रक्रियासे सर्व भावान्तरोंका छेद होता है या नहीं। तो प्रथम उपाय करना है तत्त्व-विज्ञान, दूसरा उपाय है भेदविज्ञान, परसे भिन्न अपना स्वरूप समझना। तीसरा उपाय है अभेदविज्ञान, याने समस्त पदार्थोंसे निराला जो अपना चैतन्यस्वरूप है उसे उस अखण्डरूपसे ही अनुभवना, बस यह ही क्रिया दृढ़ होती जाय, बनती जाय, इसीमें सम्यग्ज्ञान आया, इसीमें सम्यक्चारित्र आया। वास्तविक चारित्र यही है कि आत्माके सहज स्वरूपमें उपयोग रम जाय, लेकिन ऐसी बात आसानीसे नहीं हो सकती। यों ही न हो जायगी। वारवार अज्ञानके संस्कार इसको चिगाते हैं, रागद्वेषकी कणिका जरा-जरासी बातमें उत्पन्न होती है, उन सब विपत्तियोंको दूर करनेका काम एक इस अभेद चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे होता है, मगर जब नहीं बनता यह तो आत्मतत्त्वका धुनिया किस प्रकारसे अपना मन चलाता, वचन बोलता, शरीरकी चेष्टा करता, उसे कहते हैं व्यवहारचारित्र। व्यवहारचारित्रका आत्महितसे सम्बन्ध तो है मगर किस रूपसे है, क्यों करना आवश्यक है, किस पदवीमें आवश्यक है, और करने वाला कैसा अपना लक्ष्य रखे, ये सब सही निर्णय अपने परमार्थ तत्त्वको ठीक बनाने वाले होते हैं, आत्मतत्त्व का दर्शन रागद्वेष विषय कषाय सबको दूर भगा देता है। परमार्थका प्रत्यय करते हुए ऐसा कार्य करो जिसमें क्रोध न आये, घमंड न हो, छल कपट न बने, तृष्णा न जगे ऐसा कोई उपाय बनावें।

५६—अविद्यासंस्कारवश हुए उत्पातोंकी निवृत्तिके लिये व्यवहार चारित्रकी क्षमता—

भाई अनेकों पुरुष कषायके जगानेका उपदेश देते हैं, उसका उपाय सिखाते हैं, बारबार रटते हैं, बोलते हैं और उस कषायके प्रतिकूल भी कोई चेष्टा करते हैं, सब बात किए जानेपर भी कषायोंपर विजय पाना इस जीवको सुगम नहीं होता। जैसे कहते कि जलसे भिन्न कमल है, यह स्वभाव विभावोंसे पृथक् अपनेको निरखमें आये, ऐसी बात प्रयत्न करनेपर भी नहीं होती तो ऐसी स्थितिमें फिर मनको कैसे प्रवर्तांना चाहिए? क्या हिंसा झूठ चोरी आदिक पापके कामोंमें? तब तो फिर आत्मानुभवका पात्र भी न रहेगा। तब क्या करना चाहिए? अणुव्रत पाले, महाव्रत पाले, संयमसे रहे, स्वाध्याय करे, सत्संग करे, ये सब व्यवहारके काम करने होते हैं। पर व्यवहारके काम करके भी लक्ष्य कहाँ रहे? बाह्य क्रियायें करके भी ज्ञानीका लक्ष्य अन्तः स्वरूपपर रहता है। जैसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। कुछ समय पहले महिलायें कुयेंसे पानी भरकर घर लाती थीं, तीन-तीन घड़े तक सिरपर रख लेती थीं, उन घड़ोंके नीचे सिरपर एक कुनड़ी सी रहा करती थी। अब वे महिलाये चलते हुएमें आपसमें शरीरकी तमाम चेष्टायें भी करती थी, मुखसे बातें करतीं जातीं, कुछ गर्दन भी हिलती, हाथ भी हिलते, बर्तन भी हिलता, ये सब बातें होकर भी कारण क्या है कि उनकी गगरियाँ नहीं गिरती? तो कारण यह है कि उन्होंने एक सम्हाल कर ली, ऐसा अभ्यास बन गया, जो मूल धाम है, साधन है, जहाँ गगरीका आधार है वह स्थिर रहा और घूमता तो ऐसा घूमता कि उसके साथ गगरी भी घूम जाय उसके अनुकूल, तो एक ऐसा अभ्यास है, ऐसी नजर है जिससे बोलचाल करके भी उन महिलाओंकी नजर उस एकाग्रता पर, स्थिरतापर रहती है। उसकी ओर दृष्टि रहती है। नटोंका खेल आप लोगोंने देखा होगा। नट लोग क्या करते? हाथमें एक बाँस लिए रहते और बड़ी पतली डोरीपर एक छोरसे दूसरी छोरपर चलकर पहुंच जाते हैं। उनके हाथमें जो बाँस होता है उसका बैलेंस लेते और उनकी दृष्टि अपने आपके

कदमोंपर रहती और ऐसा काम करके दिखा देते हैं जो हर एकसे नहीं किया जा सकता तो जब ज्ञानी ने सब सार समझ लिया कि जगतमें सार एक समयसार है, अन्य कुछ नहीं है, तो अब उसकी ही धुन रहेगी। बाह्य काम तो परिस्थितिवश करने पड़ेंगे। यही कारण है कि वह समस्त भावान्तरोंका छेदक है। जहाँ स्पष्ट तत्त्वज्ञान है वहाँ रागादिक विभाव फड़कते नहीं। जो बात हेयरूपसे जान ली गई और जो बात उपादेयरूपसे जान ली गई उसका तो फिर वह ज्ञान बनता ही रहता हैं। दूसरा बहकाये तो बहकमें नहीं आता, क्योंकि उसने स्पष्ट और सही सब कुछ समझ लिया।

५७—समयसारका सर्वभावान्तरच्छित्त्व—

रागद्वेष विषय कषाय भावान्तर है जिनमें योग उपयोग रहनेसे यह एकदम बेसुध भूलमें रहता है, जिसकी सुध नहीं हो पाती वह समयसार क्या है? तो निर्विकल्प होकर अपने उपयोगमें उस समयसारके स्वरूपको निहारकर अनुभवसे जान लेना चाहिए कि मैं क्या हूं। ज्ञानी जन किसी पर पदार्थके प्रसंगमें नहीं अड़ते, क्योंकि वे जानने हैं कि ये मेरे कुछ नहीं, मेरेसे छूटे हुए हैं। सही ज्ञान है। ज्ञानियोंको कुछ परिश्रम करके कोई बात नहीं करनी पड़ती धर्मके लिए। उनकी सहज वृत्तिसे होती जाती है। ये क्रोधादिक भाव संसारके फलरूप हैं, कर्मोंके फल है, उपाधिसे उत्पन्न हुए हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, जिनको इस तत्त्वका प्रखर ज्ञान है वे पुरुष परपदार्थोंसे न्यारे अपने आपके सहज चैतन्यप्रकाशका अनुभव करते हैं और इसी अनुभवके बलपर सारे भावान्तर इसके दूर होते हैं। सबका काम, सब पदार्थोंका काम अपने आपके गुणोंसे होता है। कोई किसीको गुण नहीं देता, कोई किसीको परिणति नहीं सौंपता। भले ही निमित्तनैमित्तिक योग है और विभाव परिणमन निमित्तनैमित्तिक योग बिना बनता नहीं, इतने पर भी प्रत्येक पदार्थका परिणमन उसका अपने आपके चतुष्टयमें हुआ, अन्यत्र नहीं हुआ, ऐसा यह सहज सिद्ध चित्स्वभावरूप समयसार जो समस्त अन्य भावोंका छेदन करने वाला है बस उसकी ओर दृष्टि हो। अपने आपमें उस रूपका अनुभव बने कि मैं यह हूं अखण्ड एक शुद्ध चैतन्य, फिर समस्त भावान्तर उसके दूर हो जाते हैं।

५८—सहज ज्ञायकस्वभावताके प्रति अभिमुखतारूप नमस्कार—

जहाँ इतना तथ्य है कि यह ज्ञान करने वाला ज्ञाता समस्त पदार्थोंको जानता तो है, मगर समस्त पदार्थोंका जानना जाननस्वभावके कारण अन्दरमें स्वयंमें उत्पन्न होता है। जिसका जो स्वभाव है वह अपने आपमें सहज होता है। वह ज्ञान, वह सहज स्वभाव निज स्वरूप, केवलका सत्त्व कैसे बिखर सकता है। किसे हम नहीं जानते तो दुःखी होते हैं? निज सहजसिद्ध भगवानको न जाननेसे दुखी होते हैं और अपने भगवानको पहचान लें तो दुःख नहीं रहता। यह समयसार समस्त परभावोंका छेदन करने वाला है। भावान्तर समयसारसे कैसे अलग हैं, कैसे न्यारे हैं? तो देखो एक भींटमें अगर नीला रंग पोत दिया तो समझो नीले रंगने भींटको नीला नहीं किया, किन्तु नीले रंगने अपने आपको उस रूप फैला दिया। जो पहले एक डलेके रूपमें था उसे पीसकर पानीमें घोलकर कूचीके साधनसे भींटका आधार बनाकर जो उस नीले रंगमें फैलाया तो जों थोड़ी जगहमें रखा था वह इतने बड़े विशाल रूपमें फैल गया किन्तु उस नीले रंगने भींटमें कुछ नहीं किया। भींटमें जो कुछ हो रहा सो भींटके कारणसे हो रहा, ऐसे ही इस ज्ञानी जीवने अपने ज्ञानके द्वारा अपने ही ज्ञानमें यह सब कुछ जान लिया, इन बाह्य पदार्थोंमें जाकर इस ज्ञानने कोई चोट नहीं लगाया। इस ज्ञाताका स्वरूप ही ऐसा है कि सहज स्वभावसे यह सर्व विश्वका ज्ञाता बना रहे, ऐसा है यह ज्ञानी चेतन समयसार समस्त

पदार्थोंसे निराला। परिणमन तो सब जानते ही हैं, इसके राग हुआ, इसके क्रोध हुआ, और अन्य-अन्य भाव भी होते रहते हैं, पर वहाँ यह दृष्टि तो दें कि जितने भी ये परिणमन चल रहे हैं ये सब इस सहज स्वरूप समयसारके आधारपर चल रहे हैं। इस अलख निरञ्जनको जो भी विरला जीव पहिचान लेता है वह संसार समुद्रसे पार होता है। यहाँ ऐसा लेखा लगाना ठीक नहीं कि यहाँ कोई धर्ममार्गमें भी नहीं लगता। अरे अनन्त जीवोंमें कोई एक संख्या बैठती है जो धर्ममें लगते हैं, तुम यहाँ के मनुष्योंको, साधर्मियोंको, किसी को देखकर क्यों चिन्ता बनाते कि धर्म मार्गमें नहीं लग रहा कोई। अनन्तमें एकको सौभाग्य मिलता है और इसी कारण संसारी जीवोंकी बोटपर अपना कोई निर्णय न बनायें किन्तु अरहंत भगवानके द्वारा बताये गए उपदेशके द्वारा अपने चलनेके मार्गका निर्णय बनायें। आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्मरमण, इनसे सब विकार दूर होते हैं और परम आनन्दकी प्राप्ति होती है।

५९—सिद्धात्मस्वरूपको नमस्कार—

हम अपने सहज आत्मस्वरूपका स्मरण करते हैं तो शीघ्र ही सिद्ध भगवानका स्मरण हो जाता है। अथवा जब हम सिद्ध भगवानके स्वरूपका स्मरण करते हैं तो शीघ्र ही हमें सहजात्मस्वरूपका स्मरण हो जाता है, इसका कारण यह है कि जो सिद्ध भगवान हैं वह तो सहजात्मस्वरूपके व्यक्त रूप हैं। जो स्वभाव आत्मामें है वह स्वभाव वहाँ व्यक्त हो गया है। जैसे एक लौकिक दृष्टान्त लो, किसी गरम पानीमें स्वभाव क्या बताओगे ? और, उस गरम पानीसे जब सब गर्मी निकल जायगी तो वह पानी व्यक्त भी ठंडा और स्वभावमें भी ठंडा और गरम पानी स्वभावमें ठंढा, व्यक्तमें ठंडा नहीं। तो हमारा स्वरूप स्वभावमें तो परिपूर्ण चैतन्यरूप है और व्यक्तमें विकृत है और प्रभुका स्वरूप, सिद्धका स्वरूप स्वभावसे तो परिपूर्ण स्वरूप था ही, अब भी है, और व्यक्तमें जैसा स्वभाव है वैसा ही परिपूर्ण चैतन्य स्वरूप है। सिद्ध प्रभुका स्वरूप अपनी ज्योतिसे अपने आप विराज रहा है। व्यक्तिकी दृष्टिसे देखें तो सर्व पदार्थोंमें उत्कृष्ट पदार्थ हैं सिद्ध प्रभु जो सदा निष्कलंक हैं, अनन्त आनन्दके सागर हैं, अनन्त ज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जानते हैं। अनन्त दर्शनके द्वारा समस्त लोकालोकको जानने वाले निज आत्मतत्त्वका दर्शन करते हैं। अनन्त शक्तिद्वारा इस समस्त अनन्त व्यक्त रूपको निरन्तर बसाये रहते हैं, अनन्त आनन्द जिनमें प्रकट हुआ है ऐसे वे निष्कलंक व्यक्त अनन्त सम्पत्तिके धनी सिद्ध भगवान हैं। तो यही स्वभाव अपने आपमें है जिसमें दृष्टि रमानेके पौरुषके बलपर वही बात व्यक्त हो जाती है। समयसारके स्तवनके साथ साथ सिद्धका भी स्तवन हो जाता है, और अब चूँकि ग्रन्थरचनाकी प्रक्रियामें बढ़ रहे हैं तो प्रकट रूपसे सिद्ध भगवन्तको यहाँ नमस्कार गाथामें किया जावेगा। समयसारका नमस्कार कहो अथवा कारणसमयसारका नमस्कार और कार्यसमयसारका भी नमस्कार, है समयसारका ही नमस्कार। यहाँ स्वभावको देखना मायने कारणसमयसारको निरखना। सिद्ध भगवन्तमें प्रकट शुद्ध स्वरूपको निखरना मायने कार्यसमयसारको निरखना। अब आगे चूँकि कलशरचना चलेगी तो सर्वप्रथम यह बतलाते हैं कि जो कुछ कहा जायगा यह चीज क्या अपनी बुद्धिसे कल्पित है या कोई प्रमाण धारामें प्रवाहित है। इसका संकेत अगले कलशमें दिया गया है।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

६०—अकान्तममी मूर्ति जिनवाणीका अभिनन्दन—

इसमें भावना की है कि अनेकान्तमयी मूर्ति सदा प्रकाशमान रहो। अनेकान्तमयी मूर्ति हुई

सरस्वती जिनवाणी, वस्तु स्वरूपकी वाणी, याने जिन वचनोंमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप बताया है वे वचन सदा प्रकाशमान रहे, वह ज्ञान सदा प्रकाशमान रहे क्योंकि जगतके जीव उस ही का सहारा लेकर आगे बढ़ पाते हैं, यदि जिनेन्द्र भगवानकी वाणी न होती, वह परम्परासे आज भी प्रचलित न होती तो किस तरह वस्तुका स्वरूप पाते ? जिनवाणी अलगसे जिनेन्द्रकी वाणी निकली हो और उसके अनुसार फिर जगतकी व्यवस्था बनायी जाती हो ऐसी प्रक्रिया नहीं है, किन्तु पदार्थमें जो स्वरूप बसा हुआ है, उस ही स्वरूपका प्रतिपादन जिनवाणीमें हुआ है, याने समस्त पदार्थोंका सही-सही स्वरूप,दशा, घटना, बात बतायी गई है जिनवाणीमें; और वह सिद्ध की जा सकती है तो अनेकान्त विधिसे ही । कैसे ? किसी भी पदार्थको लो, उसके स्वरूपमें सभी दार्शनिक विवाद कर रहे हैं । जीवद्रव्य है, कोई दार्शनिक कहते हैं कि नित्य अपरिणामी है, इसमें परिणमन नहीं होता । सदा कूटस्थ बना ही रहता है । तो कोई दार्शनिक कहता है कि यह जीव तो नया-नया ही नये-नये क्षणमें उत्पन्न होता है, पहले तो था ही नहीं । जो हुआ सो नया हुआ । अब इन दोनों दार्शनिकोंने बहुत बड़ा अपराध तो यों नहीं किया कि उनको ऐसा दीखा और वस्तुमें ऐसा पड़ा भी है, पर अपराध यह हो गया कि किसी अपेक्षा से वस्तुमें यह है लेकिन उन्होंने सर्वथा मान लिया जैसे द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है, वह बदलता नहीं है । द्रव्यदृष्टि है, वह ध्रौव्य स्वरूपको बतलाती है, और पर्यायदृष्टिसे निरखते हैं तो नई-नई बात नये-नये क्षणमें उत्पन्न होती रहती है, पर वस्तु न केवल द्रव्य रूप है न केवल पर्याय रूप है, किन्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, बस इस भूलके कारण सभी अन्य दार्शनिक भटक गए । मूलकी बात सम्हाललें कि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, कहीं कोई गल्ती न हो सकती थी । जैन शासनका आधार यही तो है । प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है, यह बताया गया होता तो सब सही-सही बात चलती, जिसका आधार सही है उसका वर्णन सब सही हो जाता है, जिसका आधार गलत है उसका वर्णन गलत हो जाता है । तो यह अनेकान्त मूर्ति आत्माका प्रकट स्वरूप दिखा रही है । यह आत्मा अनन्तधर्मात्मक, अखण्ड एक है, उसमें अनन्तधर्मात्मक है यह तो व्यवहारनय से जाना अर्थात् व्यवहारसे उसे निरखा गया तो अनन्त गुणसे सहित है यह समझा गया । और जब उसको एक निगाहमें, परिपूर्ण वस्तुको अखण्डरूपमें देखा, निश्चयकी पद्धतिसे देखा तो वह अखण्ड है, ऐसा स्पष्ट स्वरूपका भान इस अनेकान्तमयी मूर्ति सरस्वती, जिनवाणी मायने तत्त्वज्ञानकी उपासनासे प्रकट हुआ, ऐसी अनेकान्तमयी मूर्ति सदा प्रकाशमान हो ।

६१—अनेकान्तमयी मूर्ति सरस्वतीका मूल स्रोत निर्दोष आप्त देव—

यह निर्दोष जिनवाणी प्रकट कहाँसे हुई ? यह कपोलकल्पित नहीं, किसी आचार्यके मनमें आया और उस मनके द्वारा ही जो चित्तमें आया सो कहा गया हो सो बात नहीं । एक तो वस्तुस्वरूपके अनुकूल व्याख्यान है सब आचार्योंका और यह परम्परा अरहंत प्रभुसे हुई । अरहंत प्रभु क्या हैं कि कोई भी साधु जब अपनेमें अभेद अंतस्तत्त्वकी साधना करता है और उस निराकार, निर्विकल्प, निरञ्जन, अलख, सहजात्मस्वरूपमें अपने उपयोगको स्थिर करता है, यह ही मैं हूं इस प्रकार अभेद रूपमें जब परिणति बनती है तो चार घातिया कर्मोंका विनाश होता है और वे अरहंत प्रभु हो जाते हैं । शरीर तो अभी है लेकिन केवलज्ञान हो गया सो शरीरमें भी परिणमन हो गया निमित्त नैमित्तिक योगसे । अब शरीर पहले जैसा अपवित्र नहीं, बुढ़ापा जैसा नहीं । मानलो किसी साधुके तपस्याके कारण हड्डी निकल आयी हों अथवा वृद्धावस्थाके कारण शरीरकी आकृति बदल गई हो, कैसी भी स्थिति हो, शरीरका आकार चाहे बौना हो, लम्बा हो, अटपट हो, हुंडक संस्थान भी क्यों न हो, शरीरकी कैसी ही आकृति

बन गई हो, लेकिन केवलज्ञान होनेपर ये सब दोष दूर हो जाते हैं और एक बहुत नवीनसा शरीर, पवित्र शरीर, निगोद जीवोंसे रहित शरीर, अशुचितासे पृथक् स्फटिकमणिके समान स्वच्छ कान्तिमान शरीर हो जाता है। बताते हैं ना कि भगवानके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। जैसे अपन लोग धूपमें जायें, तो अपने शरीरकी छाया पड़ती है ऐसी छाया प्रभुके शरीरकी नहीं पड़ती, इसका कारण क्या है कि शरीर स्वच्छ स्फटिक तुल्य हो गया। आपको स्फटिकमें भी छाया न मिलेगी। जो वास्तविक स्फटिक-मणिकी मूर्ति हो उसे आप धूपमें रख दीजिए तो उसकी छाया जमीनपर न पड़ेगी, ऐसे ही प्रभुके शरीरकी छाया नहीं है। देखना, अभी शरीर है, केवलज्ञान हो गया, अभी चूँकि शरीरकी चेष्टायें भी हैं, योग भी है, बिहार होता है मगर मोहनीयकर्म नहीं रहा, इच्छा नहीं है, उनका विहार इस प्रकार होता है कि जैसे मेघ चलते हैं। मेघ क्या इच्छापूर्वक चलते हैं कि मैं इस दिशामें जाकर बरषूँ ताकि इधरके लोग सुखी हो जायें? अरे यहाँ ऐसी कुछ इच्छा नहीं है, जिधरके लोगोंका भाग्य है उधरको ही वायुसे प्रेरित होकर मेघ पहुँच जाते हैं और जलवृष्टि कर देते हैं और बरषकर वहाँ सुख साताके कारण बन जाते हैं, ऐसे ही अरहंत भगवान ये इच्छा तो नहीं रखते कि मैं इस दिशामें पहुँच जाऊँ और लोगोंको उपदेश करूँ, ऐसी उनके इच्छा नहीं होती, क्योंकि घातिया कर्म दूर हो गए, वहाँ इच्छाका कोई प्रश्न नहीं, लेकिन जिन भव्य जीवोंका भाग्य है और प्रभुका योग है उस तरफ पहुँच जाते हैं और इसी तरह दिव्यध्वनि खिरती है जो बिना इच्छाके खिरती है। केवलज्ञानके द्वारा जिसने सब कुछ जान लिया है ऐसे आत्माका वहाँ सम्बन्ध है सो जो भी दिव्यध्वनि खिरती है उसका प्रमेय वस्तु-स्वरूपके अनुरूप सिद्ध होता है। बस उस दिव्यध्वनिकी परम्परासे यह समस्त जिन उपदेश अब तक अवच्छिन्न चला आया है।

६२—सरस्वतीज्ञानप्रवाहमें निर्दोषिताकी रक्षा—

अनेकान्त शासन परम्परा होनेपर भी बीच-बीचमें कभी कुछ कुबुद्धि जनोंने कुछ अन्तर डाला भी होगा, मगर वह चल न सका। क्योंकि श्रोताजन भी तो कुछ बुद्धि रखते हैं। वीतरागताकी ओर प्रेरणा देना, युक्तियोंसे सिद्ध होना, पूर्वापर मिलान किए हुए होना इन सब परिणामों द्वारा बस जिनो-पदेशकी मूल बातमें जो कुछ कुबुद्धियों द्वारा गल्ती की गई हो वह दूर हो जाती है। तो ये प्रभु अरहंत, जिनकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे अब तक दिव्योपदेश मिल रहा है वे योगी थे, मायने यद्यपि वहाँ मन, वचन, कायका योग था, तथापि इच्छा न होनेसे वे योगसे भिन्न थे। सयोगी होकर भी अयोगी थे, योगी थे। और, उनके स्वरूपके अनुरूप अनन्त गुण जहाँ व्यक्त हो गए, केवल ज्ञान जहाँ प्रकट हो गया उनके उस ज्ञान महासरोवरसे मानों गंगा, सिंधु नदीकी तरह यह दिव्यवाणी प्रवाहित हो उठी। जैसे भरत क्षेत्रमें पहला पर्वत है हिमवान पर्वत, उस हिमवानपर्वतकी गोदसे जहाँ कि पद्म नामका सरोवर है, वहाँ से गंगा और सिंधु नदी निकली, ऐसे ही मानो हिमवानपर्वतकी तरह तो वह केवल ज्ञानमय अरहंत प्रभु है, वहाँ से निर्मल गंगाकी तरह एक प्रवाह होता है दिव्यध्वनिका। उसको झेला गणधर देवने। क्या था उस ज्ञानप्रकाशमें? अनन्तनयात्मकताका प्रकाश था। सर्व दृष्टियोंसे वस्तुस्वरूपकी ज्योति उसमें थी। वही सत्यस्वरूप है, उस ही को सिद्धान्त कहते हैं जिसको ज्ञानीजन कुछ समझते हैं और अज्ञानीजन उसमें छिद्र देखते हैं। देखो अज्ञानियों द्वारा कल्पित छिद्र सिद्धान्तमें कुछ चलता नहीं है, यह स्पष्ट बात है, सत्य बात है, उसमें बना करके क्या दोष बनाया जायगा? मगर जिनका दूषित अभिप्राय है वे इस बातकी जबरदस्ती करते ही हैं। जैसा कि कुछ दार्शनिकोंने इस जैन सिद्धान्त

की अनेकान्तमयी मूर्तिके विषयमें यह कहकर निराकरण करना चाहा कि एक पदार्थमें अनेक पदार्थ असम्भव है, "नैकस्मिन्नसम्भवात्" इस तरह कहा, पर यह न देखा कि व्यवहारमें भी एकमें अनेक धर्मका परिचय किया जा रहा है, एक मनुष्यका परिचय करना है, हो रहा है परिचय, यह अमुकका पिता है, अमुकका पुत्र है, अमुकका मामा है,अमुकका साला है आदिक रूपसे बहुत परिचय हो ही रहे हैं तो अपेक्षासे एक-एक धर्मकी बात सिद्ध होती है और चूँकि जब निरपेक्ष होकर देखा जा रहा हो तो वहाँ कोई भी एक धर्म विदित नहीं होता, किन्तु अखण्ड परिपूर्ण वस्तु उनके ज्ञानमें रहती है। स्याद्वादका सहारा लिए बिना तो हम वस्तुके स्वरूपमें प्रवेश ही नहीं कर सकते।

६३—दार्शनिकोंमें अनेकान्तमयी मूर्ति सरस्वतीके उपासकोंकी बहुलता—

भैया ! भली प्रकारमें इसको समझें जो कि स्पष्ट हैं। चैतन्यका स्वरूप बताया है—उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। जो उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त हो वह है पदार्थ। याने कोई भी पदार्थ है तो प्रतिसमय उसकी अवस्था बनती है, प्रतिसमय उसकी पूर्व अवस्था विलीन होती है और उसका सहज स्वरूप सदा रहा करता है, इस बातमें कोई दो राय हो सकतीं हैं क्या ? सभी कबूल करेंगे। निषेध करने वाले भी कबूल करते हैं। जैसे यहाँ कई हठी लोग मिल जाते हैं कि उनका दिल तो कह देता है कि हम गलत कर रहे मगर उस हठ पर चलते हैं, तो ऐसे ही दार्शनिकोंकी हठ होती है, जिस हठपर चलते हैं उसमें सार नहीं जचता उन्हें, तिसपर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जन्मजात संस्कार ऐसे होते कि जिस कुलमें उत्पन्न हुए उस कुलमें जो धर्म मिला है, सम्प्रदाय मिला है उसका संस्कार होता कि दिल नहीं चाह रहा, नहीं समझ रहा फिर भी हठ किये जा रहे हैं। जिसे कल्याण चाहिए उसे शुद्ध आत्माका नाता रखकर सुनना चाहिए, किसी भी धर्मका, मजहबका, सम्प्रदायका हो, उसकी क्या पोजीशन है यह सब बात अलग करके सब एक आत्मत्वके नातेसे निर्णय बनाया जायगा तो उसे ही सही निर्णय मिलेगा। यह सब उपकार किसका है ? इस अनेकान्तमयी मूर्ति सरस्वती देवीका। यह कोई देवगतिका जीव नहीं है। देवी कहनेका तो रिवाज है। जो श्रेष्ठ हो, विशिष्ट हो और स्त्रीलिंगका शब्द हो तो उसके साथ देवी शब्दका प्रयोग किया जाता है। "जिनवचन" कहा हो उसके साथ देवी न लगेगी। तो देवी और देवका मतलब नहीं है, यह है एक जिनेन्द्र भगवान का वचन, जिसमें कि ज्ञान बसा हुआ है। जिसके माध्यमसे हम वस्तुके सही ज्ञान तक पहुचते हैं, उस ज्ञानको उस विद्याको सरस्वतीके रूपमें स्मरण किया है, और यह सदा प्रकाशमान रहे ऐसा कहकर भीतरी भाव पूर्वक नमस्कार किया है।

६४—सरस्वतीकी मूर्तिमें तात्त्विक मर्मोंका निर्देश—

इसको सरस्वती क्यों कहने लगे ? है तो जिनेन्द्र भगवानकी वाणी, जिसमें कि वस्तुस्वरूपका ज्ञान बताया गया, इसे सरस्वती क्यों कहा गया ? तो सरस्वतीका अर्थ है—सरः वत् प्रसरणं यस्याः सा सरस्वती। सर कहते हैं फैलाव को। लोग तो तालाबका नाम सर बताते हैं हिन्दीमें, किंतु संस्कृतमें है सकारान्त शब्द, सस्, तो इस तालाबको बहुत फैले हुए जलपुञ्जको क्यों सर कहने लगे कि इसका फैलाव बहुत है। तो सरः शब्दका शुद्ध अर्थ है फैलाव, पर यहाँ देखें जिनवाणीका फैलाव कितना है। यह ज्ञान द्वारा समझ सकते। जिसके द्वारा मिले हुए ज्ञानसे तीन लोक और अलोकको हमने जाना तो फैलाव तो बहुत बड़ा हुआ ना ? तो फैलाव बड़ा है इस कारणसे इसका नाम सरस्वती है। अब चूँकि सरस्वती शब्द स्त्रीलिंग है और उसके साथ देवी शब्दका प्रयोग किया जाने लगा तो अब उसकी

असलियतको तो भूल गए कुछ लोग और एक देवीका आकार समझने लगे, जैसे कि लोग सरस्वती देवीका रूप बनाते हैं, हंसपर बैठी हुई, चारों हाथ निकले हैं, विकसित कमलपर बैठी हुई है, हंस पासमें बैठा है, एक हाथमें पुस्तक है, एकमें वीणा, एकमे माला और एकमें शंख है। एक ऐसी मुद्रा लोग बनाने लगे, और उस मुद्राको देखकर लोग ऐसा सोचने लगे कि हाँ है कोई ऐसी देवी, और उसकी आराधना करने लगे यह सोचकर कि उसकी आराधना करनेसे सब सम्पत्ति प्राप्त होगी, पर वह देवी वह सरस्वतो कोई व्यन्तर जातिकी नहीं है, भले ही किसीका नाम सरस्वती धरा हो तो कहीं नाम धर देने मात्रसे वह देवी नहीं हो गई। यहाँ भी तो लोग किसीका नाम पार्श्वनाथ धर देते तो उससे कहीं वह व्यक्ति पार्श्वनाथ भगवान तो नहीं बन गया, तो ऐसे ही सरस्वती नामकी कोई देवी नहीं है, यह तो एक जिनेन्द्र भगवानके वचनका नाम धरा गया है सरस्वती, तब इस तरहकी मूर्ति जब बनायी जाने लगी प्रथम ही प्रथम, तब तक वहाँ बिगाड़ न हुआ होगा।

६५—सरस्वतीकी मूर्तिमें आराधनाके प्रकारोंका निर्देश—

सरस्वतीदेवीकी आराधना कैसे की जाय, इसकी आराधना कौन करता है, तो उन उपायों और साधकोंकी बात एक इस मुद्रामें दिखाई गई। सरस्वतीकी उपासना कौन करता है? निर्मल हंस। हंस तो जीवको भी बोलते हैं, किसीके मर जानेपर लोग कहते ना कि हंसा उड़ गया। तो मायने निर्मल जीव, भव्य जीव, वह है सरस्वतीका उपासक। सरस्वती याने जिनवाणी, इस तत्त्वज्ञानकी ओर उसकी दृष्टि रहती है और वह सरस्वती कमलपर विराजमान है। कमल कहते हैं हृदयको। तो वह हृदयमें विराजमान है। बुद्धिसे वह ग्रहणमें आता है। उसके हैं चार हाथ। तो पहले, हाथोंका भी अर्थ समझ लीजिए—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये उसके चार हाथ हैं। इनका कोई अध्ययन करे, ज्ञान करे तो अपने ज्ञानका फैलाव बना सकता है। और हाथोंमें जो चीजें रख दी गई हैं उनका मतलब समझमें यह आता है कि माला तो है भगवानका जाप ध्यान, चिन्तन आदि करनेका प्रतीक, पुस्तक है अध्ययन करनेका प्रतीक, शंख है ज्ञानकी एक अनहद ध्वनिकी मुद्रा और वीणा है एक संगीतका प्रतीक। देखो प्रभुभक्तिमें अथवा आत्मभक्तिमें विशेषतया उतरनेका साधन एक संगीत भी तो है। तो उपाय और साधकोंकी बात उस मूर्तिमें बतायी गई, पर धीरे-धीरे लोग इस तथ्यसे दूर हुए तो एक सीधा यही जाना कि कोई सरस्वती देवी है। मगर वह सरस्वती देवी क्या है? एक अनेकान्तमयी मूर्ति। अपेक्षासे पदार्थके स्वरूपका कथन होता है। ऐसे इस स्याद्वादके द्वारा अनेक जीवोंने आत्मज्ञान पाया और इस ज्ञानमें बढ़े, निःसंग हुए, निष्परिग्रह हुए, निर्विकल्प हुए, अपने आपमें अपने आपका विशिष्ट ध्यान बना, जिसके प्रसादसे वे अकलंक हुए, सिद्ध भगवान हुए और सदाके लिए इस संसार संकटोंसे छूट गए। अब उनके न जन्म है न मरण। सब दोषोंसे अतीत हैं, तो अब समझो कि पूर्ण कल्याणमयी दशा प्राप्त होनेमें हमको प्रारम्भिक आलम्बन अनेकान्तमयी मूर्तिसे मिला, इसी कारणसे बहुत प्रसन्न होकर, सब जोवोंपर भी एक कल्याणकी भावना रखकर कहा गया कि ऐसी अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान होवो,

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्याषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्यायैवानुभूतेः ॥३॥

६६—टीकाकारका मूल परिचय—

समयसार प्राभृतकी टीका करने वाले अमृतचन्द्र सूरि महाराज कहते हैं कि मैं किसलिए इस

समयसारकी टीका कर रहा हूं ? मैं कौन हूं और इस समय क्या हालत हो रही है और मैं किसलिए समयसारकी व्याख्या करने जा रहा हूं, ये तीन बातें इस कलशमें बतायी गई हैं। मैं हूं शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति। जो भी पदार्थ होते हैं वे अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण अपने ही स्वरूपको रखते हुए रहते हैं, फिर उस पदार्थमें जो विकार आते हैं वे किसी पर पदार्थके सम्बन्धसे आते हैं। मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूं, याने मेरा स्वरूप केवल विशुद्ध चेतनामात्र है। देखिये किसी भी पदार्थमें अपने आपकी ओरसे विकार, विषमता विभाव नहीं हुआ करते। केवल ही हो कोई भी पदार्थ, तो उसमें समता ही रहेगी और जो परिणति बनेगी वह सब समान-समान बनेगी। विषमता आती है तो किसी पर उपाधिका सम्बन्ध आनेपर आती है। यद्यपि वह भी परिणमने वालेकी योग्यतासे हुआ है लेकिन हुआ है पर पदार्थके सन्निधान होनेपर। तो मैं हूं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति। परम शुद्ध निश्चय दृष्टिसे वस्तुका शुद्ध स्वरूप जाना जाता है उस ही प्रयोगमें समझो—मैं केवल एक चैतन्यमात्र मूर्ति हूं। अपने स्वरूपकी ओरसे देखें तो न मैं मनुष्य हूं, न स्त्री हूं न कुटुम्बी हूं आदिक कुछ भी मैं नहीं हूं, मैं हूं केवल शुद्ध चैतन्यप्रकाश। जो अपने आप हो सो मैं हूं, जो पर पदार्थके उपाधि सम्बन्धसे हो सो कुछ नहीं हूं, ऐसे मैं को यहाँ स्वीकार किया गया है—मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूं।

६७—टीकाकारकी अन्तःपरिस्थिति समयसार व्याख्याके लिये प्रेरिका—

अच्छा, शुद्ध चैतन्यमात्र हो, ठीक हो, फिर यह काम क्यों कर रहे हो ? समयसारकी व्याख्या क्यों बना रहे हो ? मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूं, ठीक है, पर इस टीकाके रचनेका क्या प्रयोजन ? सो बताते हैं कि क्या करूँ, हूं तो शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति, मगर जो विकार हैं याने मेरेमें जो प्रतिबिम्ब हुआ है, कर्मकी छाया हुई है, विकल्प, विचार, इष्ट अनिष्ट बुद्धि ये सब बातें हैं, उनसे यह शुद्ध चैतन्यमूर्ति कलुषित हो गया है, जैसे दर्पण अकेला स्वच्छ है, पर सामने कोई आ जाय तो वह मलीन हो जाता है, इसी प्रकार हम आप सभी जीव अपने स्वरूपको देखें तो स्वच्छ है, केवल चैतन्यमात्र हैं, लेकिन रागादिक भावोंकी व्याप्तिसे हम आपकी मूर्ति कलुषित हो गई है, वर्तमान स्थिति यह है। मैं क्या हूं, वर्तमान स्थिति क्या है ? ये दो बातें बतायी हैं अब तक।

६८—वर्तमान परिस्थितिका निमित्त कारण—

वर्तमान स्थिति यह क्यों हो रही है ? यह है तीसरी बात। वर्तमान स्थिति क्या है ? पर-परिणति कर रहे हैं यह ही तो है कलुषित वृत्ति। किसी पर पदार्थको निरखा और उसको इष्ट माना या अनिष्ट, और ऐसा मानकर उसके अनुसार जो हम अपनेमें परिणति बनाते हैं सो अगर इष्ट पदार्थका विनाश हो रहा तो हम अपना यहाँ विनाश सा समझ लेते हैं, इष्ट पदार्थका यदि कुछ उत्पाद हो रहा, उन्नति हो रही, विकास हो रहा तो हम अपने आत्माको उस रूप मान लेते हैं, इसको कहते हैं पर-परिणति। जैसे किसी मोही जीवकी दूकान जल रही है तो वहाँ दूकान जल रही, यहाँ इसका हृदय जल रहा। अब वह दूकान पर पदार्थ है, भिन्न है, वहाँ जल रही है, यहाँ क्या हो रहा ? परपरिणति। अच्छा, पर पदार्थमें जो परिणति होरही है उसका कारण क्या है ? मोहनीय नामका कर्म। उसका उदय, अनुभागका खिलना, बस वहाँ अपने समयपर मोहनीय कर्मका अनुभाग खिल रहा, यहाँ बुद्धि कलुषित हो रही और इसीलिए अब यह जरूरत पड़ गई कि मैं इस बुद्धिकी कलुषितता दूर कर दूँ, बस इस ही के लिए समयसारकी व्याख्या की जा रही है। चार चीजें क्या बतला रहे हैं, मैं वास्तवमें क्या हूं, मेरी वर्तमानमें स्थिति क्या हो रही है ? इस स्थितिके होनेका कारण क्या है ? और समयसारकी

व्याख्याका कार्य किसलिए कर रहा हूं? समयसार ग्रन्थ भी एक बड़ा उच्च आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसमें नय विभाग द्वारा यह स्पष्ट खोल दिया है कि मेरे आत्माका तो केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, बाकी सब पर है, अनेक विधियोंसे खोला। वे विधियाँ तो अध्ययन करनेसे विदित होंगो, पर वर्तमानमें एक थोड़ी सी बात कुछ कहें तो यह ही कह सकते हैं कि पर पदार्थमें हमने माना कि यह मैं हूं, यह कहलाया अहंकार। अहं मायने मैं को कार मायने कर देना। मैं को कर देनेके मायने क्या है कि जो मैं नहीं हूं उसको मैं बना देना कल्पनामें, तो कलुषित होनेका प्रथम कारण है अहंकार। दूसरा कारण है ममकार। ये बाहरी पदार्थ मेरे हैं, ये मेरे विकारस्वरूप रागद्वेषादिक सब मेरे हैं, इस प्रकार का जो ममकार है इसमें बुद्धि कलुषित हो रही है। जब ये दो बातें लग गयीं तो बाह्य पदार्थोंमें करनेकी बुद्धि भी जग गयी। मैं ऐसा कर दूँगा, मैं ऐसा कर सकता हूं, यह बुद्धि कर्तृत्वमें लग गई, यह भी मलिनता है। क्यों मलिनता है कि देखो जो पदार्थ होते हैं वे पदार्थ अपने प्रदेशमें ही रहते हैं, अपने प्रदेशमें ही उनका परिणमन होता है। अपने प्रदेशमें ही उनका अपना अनुभव चलता है। अपने स्वरूपसे, बाहर अपने प्रदेशसे बाहर मेरा कुछ वास्ता नहीं। क्यों वास्ता बनाया? पर पदार्थोंमें कुछ बात बना देनेका अहंकार रखा, कर्तृत्वभाव रखा तो यह हुई कलुषित बुद्धि। उसका फल दुःख ही है, चौथा कारण है कलुषितपनेका भोक्तृत्व बुद्धि। बाह्य पदार्थोंको मैं भोग रहा हूं, ऐसा ध्यान आ जाय, वह संसारका कारण है। तो ऐसी वर्तमानमें स्थिति है हमारी मलिन। इस मलिनताका कारण है मोहनीय कर्मका अनुभाग।

६९—जीव और कर्मका संघर्ष—

जीव और कर्म इन दोनोंका विवरण जैन शासनमें इतना सुव्यवस्थित है जिसका भली प्रकार ज्ञान करने वाले तो स्वयं ही भेदविज्ञान करके अपने आत्मामें परमात्मस्वरूपका अनुभव करता हुआ, शान्त रहता है। क्या है संक्षेपमें कि जीव जब कषाय करता है, मिथ्या अभिप्राय करता है तो इसी जीवके ही प्रदेशोंमें अनन्तानन्त कार्माणवर्गणाओंके परमाणु ऐसे लगे हैं जो इस समय तो कर्मरूप नहीं हैं मगर कर्मरूप बननेके लिए तैयार हैं। तो कषायके होते ही वे सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें कर्मरूप हो जाती हैं। कर्मरूप हुए कि वहाँ प्रकृति बँध गई कि ये कर्म इस प्रकारका फल देंगे। उनकी स्थिति बँध गई कि ये कर्म इस जीवके साथ इतने दिन तक ठहरेंगे। फिर उसमें प्रदेश तो हैं ही, अनुभाग भी बन गया कि इतने दर्जे तकका तीव्रमंद ये फल देंगे। अब तो अनुभाग काल आया तो कर्ममें अनुभाग खिला सो कर्ममें ही कुछ गड़बड़ी हुई पहले साक्षात् और उसका सन्निधान पाकर उपयोगमें उसकी छाया आयी, प्रतिफलन हुआ अब उस प्रतिफलनमें हम अपना लगाव न लगायें और यह जानें कि यह तो कर्मोदयकी बात है, हो गई, यह मेरा कुछ नहीं है। उनमें अपना लगाव न जोड़ें बस यहाँ से मेरा कल्याण आरम्भ होता है। तो अनुभाग खिला वह परपरिणतिका कारण बना। सो निरन्तर हो ही क्या रहा है कि ये कर्म उदयमें आ रहे, यह छाया पड़ रही, यह जीव अपने स्वभावसे चिग गया और वहाँ छायामें आसक्तिपूर्वक लग गया।

७०—समयसार व्याख्याका प्रयोजन आत्मविशुद्धि—

अमृतचन्द्र सूरि स्वयं कहते हैं कि मैं यद्यपि शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूं लेकिन मैं रागादिककी व्याप्तिसे कलुषित हुआ हूं। तो अब उस कलुषितताकी निवृत्तिके लिए अथवा कहो अनुभूतिकी विशुद्धिके लिए मैं इस समयसारकी व्याख्याको करूँगा। इस व्याख्याके द्वारा मेरी अनुभूति परमविशुद्ध रहो,

यह ही मैं चाहता हूं। जीव स्वयं आनन्दस्वरूप है। इसको आनन्द कहीं बाहरसे नहीं लाना है, यह स्वयं ही आनन्दस्वरूप है, जैसे तिलका स्वरूप ही तैल है। तिलको तैल कहीं बाहरसे नहीं लाना पड़ता, ऐसे ही मेरा स्वरूप स्वयं आनन्दस्वरूप है। आनन्द कहीं बाहरसे नहीं लाया जाता। जब कभी ऐसा ख्याल होता कि अमुक फलमें सुख है, अमुक भोजनमें आनन्द है तो उस वक्त भी जो आनन्द भोगा जा रहा है याने बिगड़ करके जो सुख भोगा जा रहा है वह इस ही आनन्दगुणका परिणमन है, कहीं बाहरी चीजसे सुख न आयगा। तो ऐसा यह मैं शुद्ध चैतन्यमात्र अमूर्त भगवत् तत्त्व हूं, बाहर तो सब पुद्गलकी छाया है, पुद्गलका परिणमन है तो शुद्ध दृष्टिसे देखें तो वह पहली बात समझमें आयी कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्रमूर्ति हूं। व्यवहारनयसे देखो याने पर्यायदृष्टिसे देखें तो यह दृष्टिमें आया कि मेरी यह चिन्मात्र मूर्ति रागादिक विभावोंसे कलुषित हो रही है, फिर और कारणरूप व्यवहारसे देखो कि आखिरमें इसका कारण है क्या ? तो नजर आया कि मोहनीय नामक कर्मके अनुभागका उदय है। यह है लोकस्थिति। भीतरमें मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूं, बाहरमें मैं रागादिक भावोंसे व्याप्त हो गया हूं, अब ऐसी स्थितिमें क्या करना योग्य है सो बताओ ? करने योग्य क्या है ? यह कलुषता न रहे, यह आत्मा विशुद्ध बने तो उस विशुद्धिके लिए प्रारंभिक ये उपाय हैं—देवदर्शन करना, सत्संग करना, स्वाध्याय करना, पूजन करना, सेवा भाव करना, परोपकार करना। ये सब उसके उपाय हैं कि हमारे अपवित्रता न बढ़े। उस अपवित्रताको रोकना है। तो समयकारकी जो व्याख्या की जा रही है यह भी इसी प्रयोजनके लिए है कि मेरी कलुषता दूर हो जाय। और मेरेमें परम विशुद्धि प्राप्त होवे।

७१—कुन्दकुन्दाचार्यके शैशवकालमें अध्यात्म वातावरण—

कुन्दकुन्दाचार्य एक इस युगमें प्रधान आचार्य हुए हैं, जिनके समयमें समस्त दिगम्बर जैन-समाज एक स्वरसे उनकी आज्ञामें था। वह उस समय चतुर्विध संघके नायक थे। उनकी अध्यात्म-साधना सहज थी। उनकी कृति है समयप्राभृत जो उस जमानेकी भाषामें है। उनके जमानेकी भाषा है प्राकृत, अपभ्रंश। उस समयप्राभृत ग्रन्थपर टीका की है अमृतचन्द्रजी सूरिने। सो टीका करेंगे तब तो उसमें भाव रहता है ना लिखनेका। वस्तुस्वरूप लिखनेमें रहता है तो उस समयमें परिणाम निर्मल होते हैं, विशुद्धि जगती है, उस ही विशुद्धिके प्रयोजनके लिए यह समयसारकी व्याख्या की जा रही है, ये जितने भी बड़े-महापुरुष हुए हैं सो इनकी स्वयंकी तो विरक्ति और योग्यता कारण है ही, मगर जिस घरमें उत्पन्न हुए उस घरके बड़े पुरुषोंका सदाचार तत्त्वज्ञान और उससे उत्पन्न हुआ विशुद्ध वातावरण वह भी बहुत मददगार था। कुन्दकुन्द जब बालक थे तो पालनेमें (झूलनेमें) झूला करते थे। तो झुलानेके लिए डोर खींचने वाली माँ ऐसा गायन करती थीं कि जिस गानमें अध्यात्मका प्रकाश भरा हुआ है। शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि। यों बड़े मौजसे, एक आध्यात्मिक मस्तीके साथ वह माँ पालना झुलाते समय गाती थी जिसका अर्थ है कि हे बालक तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसारकी मायासे तू रहित है। अब देखिये—माँकी दृष्टि कुन्दकुन्द देवके अन्तः स्वरूपपर पड़ी। वह स्वरूप है ऐसा कि शुद्ध है, बुद्ध है, ज्ञानमय है, निरञ्जन है और संसारकी मायासे दूर है ऐसा जिसके बचपनमें एक शुद्धतत्त्वकी अनुभूतिके लिए संस्कार पड़ गया था सो कुन्दकुन्दाचार्यने विरक्त होकर उसको स्पष्ट रचित कर दिया।

७२—समयसारव्याख्याके प्रयोजनमें सूरीश्वर अमृतचन्द्र देवके उद्गार—

समयसार टीकामें अमृतचन्द्र सूरि यह बात बतला रहे हैं। कैसे होता है कर्मका सन्निधान पाकर जीवके उपयोगमें विकार? तो देखो जैसे किसी एक पोटलीमें चूँनाका ताजा डला बँधा है। बहुत दिन हो जायें तो समयपर या बीचमें ही उसपर पानी पड़ जाय तो चूनेका डला फूलता है और उसमें गर्मी भी होती है। भींटमें कलई पोतनेके लिए पानी उसपर डाला। उसका विपाक हुआ, इतनी गर्मी निकली कि उस चूनेमें हाथ नहीं डाला जा सकता, जब कलई एकदम ठंडी हो जाय तब उसका भींटमें पोतना शुरू करते हैं, तो उस पोटलीमें चूनेका डला रखा है और उसपर पानी पड़ गया है और फूल गया है तो यह बताओ कि विकार किसमें हुआ? उस डलेमें। फूला कौन? डला, मगर उस डलेका सम्बन्ध पाकर कपड़ेमें भी असर आया या नहीं? कपड़ा जल जाय, कमजोर हो जाय, दाग लग जाय, कुछ स्थिति बन गई, तो ऐसे ही हमारा उपयोग इस जीवविभावमें बँधा पड़ा हुआ है। यह कर्मोंका डला, भव भवमें बाँधे हुए कर्म, इन्हीं कर्मोंका जब अनुभाग खिलता है तो उसका असर कहाँ पड़ा? कर्मोंमें ही। पर उस कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव जिसमें कि ये कर्म बँधे हैं, अनुभाग खिला, इसके उपयोग होनेके कारण विकार परिणति बन गई। जैसा कर्मोंमें हो रहा वैसा यहाँ झलक गया। बस जीव तो है केवल एक दर्पणकी तरह जिसमें कि विपाक झलक जाय, इतनी योग्यता रखने वाला और यह जो झलक बनी, प्रतिबिम्ब बना उसमें यह जीव लग गया, अपनी सुध भूल गया, सो मानने लगा कि यह मैं हूँ। जैसे कोई बालक कोई नाटक खेले, किसीका पार्ट अदा करे और बड़ी कुशलतासे पार्ट अदा कर रहा है तो वह उस समय भूल जाता है कि मैं अमुक लड़का हूँ। वह तो अपने आपको उसी रूप अनुभव करता है जिसका कि वह पार्ट अदा कर रहा, तो ऐसे ही यह जीव जिस प्रकारकी कषायका पार्ट अदा करता है उस रूप ही अपनेको समझ लेता है, तो ऐसी मलिनता छा रही है। उसकी विशुद्धिके लिए श्री सूरीश्वर जी समयसारकी व्याख्याका प्रारम्भ करते हैं।

७३—अन्तरमें उपयोगकी उपयुक्ततामें उपयोगकी सुयुक्तता—

देखो अपनेको अन्दर, देखो अपनेको बाहर, अन्दरमें जो सहज है उसका कारण कुछ न होगा, बाहरमें जो बीतेगा उसका कोई कारण होगा। इसीलिए तो जब उपयोग किसी बाहरी पदार्थोंमें लगता है तो यह उपयोग वहाँ फिट नहीं बैठ पाता, हिलना डुलना बना ही रहता है, क्योंकि उपयोग लग रहा है परघरमें, और परघरमें कोई अधिकार जमा पाता नहीं, और जब वह उपयोग अपने निजी घरमें लगे याने एक चैतन्यस्वरूपमात्र मैं हूँ ऐसा उपयोग बने, अनुभव बने तो इसका उपयोग अपने स्वरूपमें फिट बैठ जायेगा। इससे, शान्तिके लिए केवल एक ही काम रह गया है कि हम तत्त्वज्ञान सीखें। तत्त्वज्ञानसे जब यह बात स्पष्ट हो जाती कि प्रत्येक जुदे-जुदे हैं, मैं आत्मा सब आत्माओंसे जुदा हूँ, सब आत्माओंका स्वरूप एक समान है, मगर जुदे-जुदे पदार्थ हैं ये सब, मेरा किसी अन्य पदार्थसे कुछ सम्बन्ध नहीं, अन्यका मेरेसे सम्बन्ध नहीं, तो एक लगावकी वासना छूट जाती है, और जहाँ लगावकी वासना छूटी बस वहाँ अपने शाश्वत आनन्दका अनुभव होता है। मैं चिन्मात्र हूँ, चैतन्यमात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही ज्ञान हूं, जपते जाइये, निरखते जाइये, ज्ञान ही ज्ञान हूँ, निरखनेका यत्न करते जाइये, कब तक? जब तक कि शरीर वैभव आदिक ये सब विस्मरणको न प्राप्त हो जायें। केवल एक ज्ञानप्रकाश ही मेरे ज्ञानमें रहे, ऐसा हूँ मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति परम निश्चय नयसे, पर हो क्या रहा है? रागद्वेषके विकल्प। ये क्यों हो रहे हैं? बाह्य वस्तुका संसर्ग बनाया और उससे अपना

छुटाव न कर सके, उनमें हम लगे हैं।

७४—सगुनके क्षण—

जब मान होगा अपनेको कि मैं यही आनन्दमय हूँ उस समय इस जीवको एक अलौकिक सम्पत्ति अपने आपमें मालूम पड़ेगी कि मैं परिपूर्ण हूँ, मैं अधूरा नहीं हूँ, मेरेमें परका प्रवेश नहीं है। दुनियामें जितने सगुन माने जाते हैं वे क्यों सगुन हैं कि उनको देखकर आत्माकी सुध होती है। बाहरी पदार्थोंमें मोह रहे, राग रहे तो यह सगुन है क्या ? अरे यह तो असगुन है। सगुन तो वह है कि जहाँ अपने आत्माका प्रकाश जगे। जैसे पानीसे भरा हुआ कलश लाते हुए कोई स्त्री या पुरुष दिख गया तो उसे लोग सगुन मानते। वह क्यों सगुन है ? उसे देखकर अपने आत्माकी सुध हुई कि जैसे घड़ा पानीसे अनवर लवालव निरन्तर सघन भरा हुआ है याने उस भरावके बीचमें एक सूत भी जगह पानीसे अलग नहीं है, खाली नहीं है, जैसे बोरेमें गेहूँ, चने आदि भर दिये जाते तो उनके बीच-बीचमें खाली जगह रहती है मगर घड़ेमें पानी भरा हो तो वह खाली नहीं रहता। तो जैसे यहाँ बीचमें कुछ भी खाली जगह नहीं है, सर्वत्र जल ही जल भरा हुआ है ऐसे ही यह आत्मा अपने सर्व प्रदेशोंमें ज्ञान ज्ञानसे ही व्याप्त है। इसमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है कि जिसमें ज्ञान न हो। ज्ञानरससे ही भरा हुआ है, ऐसे ज्ञानमय आत्माकी सुध हुई तो उस जलपूर्ण घटको सगुन मान लिया। कोई मुर्दा चला जा रहा हो तो उसे देखकर लोग सगुन मानते, असगुन नहीं, तो क्यों सगुन है कि उस मुर्दा शरीरको देखकर सभीके चित्तमें एक बार यह बात उठती है कि बाहरमें सब कुछ असार है, कुछ भी करने योग्य नहीं है, बस एक आत्मा ही सारभूत, है आत्माका कल्याण करें, यह भव छूट जाने वाला हैं। तो वैराग्य जगा, ज्ञान जगा, आत्माकी सुध हुई इसलिए वह मुर्दा भी सगुन है। तो जो-जो कार्य मेरे आत्माकी सुध करायें वे तो मेरे लिए सगुन हैं और जो-जो घटनायें, जो-जो प्रसंग हमारे आत्माको भुलावा देनेमें कारण हैं वे सब मेरे लिए विपत्ति हैं।

७५—शुद्धस्वरूप और उसके तिरस्कारका विधान तथा तिरस्कारका हटाव—

मैं हूँ एक शुद्ध चैतन्यमात्र। केवलको देखें, वही दृष्टान्तमें लेवें, जैसे केवल चौकी क्या है ? जो काठमें से निकाली गई, वह चौकी है, अब उसपर जो सही रंग है वह उसका असली रंग है, निरपेक्ष रंग है, और उसपर लाल, पीला आदि कोई रंग पोत दिया गया तो जो उसका असली स्वरूप है वह ढँक गया, तिरस्कृत हो गया। अब वह चौकी तो एक अजीव पदार्थ है, उसका तिरस्कार हो जाय तो वह आफत नहीं मचा सकता, मगर जीव तो एक चैतन्य है ना। तो चेतनका असली स्वरूप तो एक शुद्धचैतन्य सामान्य है, प्रतिभास हो गया सब, मगर उसमें वह अच्छा है, यह बुरा है, यह इष्ट है, यह अनिष्ट है ऐसी बुद्धि नहीं बनती। तो ऐसा जो सामान्य चैतन्यप्रकाश है वह है उसका असली स्वरूप। मगर जब कर्मानुभाग बड़ा क्षोभ मचाता हो, अपने आपमें बड़ा विरस बनता हो तब सामने आया कर्मानुभाग, तो चूँकि जीव उपयोगमयी है ना, ज्ञान स्वरूप है ना तो इसमें उस सबकी झलक पड़ी। झलक पड़नेसे ज्ञानका तिरस्कार हुआ। ज्ञानका तिरस्कार होनेसे यह जीव घबड़ाकर आफत मचा देता है, विषयोंमें लगता है, अनेक आपत्तियाँ पैदा कर देता है। तो भाई अपना स्वरूप जो अपने स्वभावमें सहज सुसिद्ध है चैतन्यमात्र, उसमें अनुभव करें कि यह मैं हूँ तो इस अनुभूतिके प्रसादसे इस जीवको कभी संकट नहीं आ सकता। भव-भवके बाँधे हुए कर्म क्षण मात्रमें कट सकते हैं। अतः इस जीवनमें कर्तव्य यह है कि मैं अपने आत्माके स्वरूपका सही अनुभव

कर लूं। मैं यह हूँ, बस कृतकृत्य हूँ। जब तक अपने आत्माकी थाह नहीं पायी तब तक इसका जन्ममरणका संकट चलता है, और जहाँ आत्मस्वरूपका भान हुआ वहाँ इसके जन्म मरणके संकट दूर होने लगते है। तो अपना कर्तव्य है कि अपनेको ऐसा अनुभव करें कि मैं समस्त विश्वसे निराला केवल चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ।

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के, जिनवचसि रमंते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं तं परं ज्योतिरुच्चै –रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

७६—परमशरण समयसारके दर्शनके पात्र—

अपने ज्ञान द्वारा किस तत्त्वको देखना जिससे कि कल्याण हो जाय ? जगतमें कोई भी पदार्थ आश्रय योग्य नहीं है। धन, वैभव, मकान, पुत्र, मित्र, परिवार, इज्जत ये सब इस जीवके कल्याणके लिये नहीं हैं, विनाशीक है, अल्प है, इनसे इल आत्मा का संबंध नहीं है, यह आत्मा कल्पन करके उनमें रमता है। तो बाहरमें तो कोई पदार्थ आश्रय लेने योग्य नहीं है। अब अन्दरमें देखो अपने आपमें यह जीवात्मा, इसके साथ देह लगा वह भी भिन्न है। वह भी दृष्टि देने यो य नहीं, याने आराधनाके योग्य नहीं। जीवके साथ कर्म लगे वे भी भिन्न हैं, वे भी आराधनाके योग्य नहीं, और जीवमें रागादिक भाव होते है वे औपाधिक विभाव हैं, वे भी जीवकी आराधनाके योग्य नहीं, जो विचार वितर्क उठते हैं वे भी औपाधिक हैं। फिर जीवमें आराधना योग्य क्या चीज हैं ? जीवका निज सहज स्वरूप याने यह जीव अपने आपमें सत्त्वके कारण सहज जैसा हो उस रूपमें अपनेको आराधना चाहिए कि मैं जैसा हूं, वह है सहज चैतन्य स्वरूप। इसी को कहते हैं समयसार। कौन प्राणी इस समयसारका दर्शन करते हैं। जो मोहको त्यागकर जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें रमते हैं वे ही इस समयसारके दर्शन करते हैं। जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें रमनेका अर्थ है, जिनेन्द्र देवके वचनोंका जो अर्थ है, जो तत्त्व है, जो मर्म है उसमें लगें, उसमें रमण करें। उसकी विधि हो यह है कि मोहका वमन करके रमण करें।

७७—मोहवमन करके ही तत्त्वरमण द्वारा समयसार ईक्षणकी विधि—

एक उपयोगमें दो बातें न समा सकेंगी कि मोह भी किये जावें और मोक्षमार्गमें भी लगे रहें। जहाँ मोह है वहाँ मोक्षमार्ग नहीं और जहाँ मोक्षमार्ग है वहाँ मोह नहीं। राग भले ही रहा आये, पर मोह नहीं रहता। राग और मोहमें क्या अन्तर है ? राग तो कहते हैं प्रीतिको और मोह कहते हैं एकमेक माननेको। जिस घरमें रहते, परिस्थिति है, स्त्रीसे बोलना होगा, पुत्रोंसे बोलना होगा, नौकरोंसे बोलना होगा, प्रेमका व्यवहार रखना होगा, उसके बिना तो गृहस्थी न चलेगी। यह सब करते हुए जो मानते हैं कि मैं एक ही हूँ, जो स्त्री है सो ही मैं हूँ, मेरे ही हैं और कुछ नहीं हैं उनमें पार्थक्य नहीं समझ पाते, भेद नहीं समझ पाते, वह तो है मोह और जो भेद जानता है—ये जीव जुदे, मैं जीव जुदा, इनके साथ इनके कर्म, मेरे साथ मेरी बात ऐसा जुदा जुदा जो जानता है और फिर भी राग करना पड़ता है तो उसके मोह नहीं है और राग है। तो मोहका वमन करनेकी बात यहाँ कही। और, देखो मोहके त्यागनेमें पुरुषार्थ काम देगा। एक क्षणमें मोहको मिटा दो। वस्तुका सही स्वरूप समझें, तत्त्वज्ञान जगे तो तुरन्त मोह मिटेगा। मगर रागके लिए तुरन्त मिटानेकी ऐसी बात नहीं मिल पाती। मिटता तो है, जल्दी मिटता है, पर जरा कुछ समय पाकर मिटता है। तो मोहका वमन करो। निजको निज परको पर जान। परको निज मत समझ लो, स्वपरमें एकत्व बुद्धि हो, बस निराकुलताकी बात आये। तो ऐसा मोह वमन करके फिर जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें

जो रमे, जिनेन्द्र देवने जो बताया है उस विधिसे जो तत्वकी परख करें उसको समयसारका दर्शन होगा।

७८—जिनवचनोंकी उभयनय विरोधवंसिता—

जैसे आत्माके ही बारेमें जिनवाणीमें क्या बताया है कि यह आत्मा निश्चयनयसे तो एक अखण्ड अद्वैत है, निश्चयनयसे आत्माका वह स्वभाव समझा गया जो अखण्ड है और व्यवहारनयसे आत्माके भेद, यह ज्ञानी है, दर्शनवान है, चारित्रवान है। अब दो बातें लगती हैं ना विरुद्ध सी कि एक तो अखण्ड कह देना और एकको खण्ड-खण्ड बता देना, इसमें विरोध जचता है, पर विरोध नहीं। इस विरोधको नष्ट करने वाला जिन वचन है, स्याद्वाद है, नय प्रणाली है। शुद्ध निश्चयसे अखण्ड और व्यवहारनयसे खण्ड-खण्ड। एक ही वस्तुमें नयके भेदसे, नयकी अपेक्षासे उसमें विरोध नहीं रहता। जैसे कोई एक पुरुष है, उसकी पहिचान हो रही है, एक व्यक्ति कहता है कि यह पिता है और एक व्यक्ति कहता है कि यह पुत्र है। तो जो पिता है वह पुत्र कैसे हो सकता? सुननेमें तो विरोध है मगर अपेक्षासे दोनों बातें ठीक बन जाती हैं। वह इसके पिताकी अपेक्षासे पुत्र है और इसके पुत्रकी अपेक्षासे पिता है। दोनों नयोंके विरोधका ध्वंस करने वाला यह जिन वचन है। नयके विरोधसे तो संसारमें घूमना फल है और नयको अविरोध रूपसे समझनेका मोक्षमार्ग फल है। जितने नयसे हम बात समझते हैं उतने नयोंको अन्य दार्शनिकोंने माना नहीं क्या? माना है, पर विरोध करके एक-एक नयको माना है। यहाँ एक ही वस्तुमें अनन्त धर्मकी सिद्धि होती है नयकी अपेक्षासे। तो ऐसे नयके द्वारा जो वचन होते हैं उन वचनोंमें जो रमते हैं वे मोक्षमार्ग पाते हैं।

७९—जिनवचनोंकी पहिचान स्यात्पदांकितता—

यह कैसा है, जिन वचनके स्यात् पद करके चिन्हित है। स्यात्के मायने शायद यह अर्थ न लगाना। स्यात् मायने अपेक्षासे। जैसे कहते हैं ना—जीव स्यात् अस्ति एव, स्यात्, नास्ति एव। इस तरहसे स्याद्वाद चलता है। ३ शब्द हैं स्यात् अस्ति और एव। अपेक्षासे है ही, अपेक्षासे नहीं ही है, अपेक्षासे नित्य ही है। अपेक्षासे अनित्य ही है। यह जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है, पर्याय दृष्टिसे अनित्य ही है, लेकिन आजकल अनेकान्तके समझनेको बहुत सुगम पद्धति बनाया तो है मगर वह उचित नहीं है। क्या बनाया है? क्या है? भी लगाते जावो, जीव नित्य भी है, अनित्य भी है। बात इसमें आ तो जाती है हेरफेरके साथ। एक मनको समझा लो, मगर यह शब्दप्रणाली हमारे आगममें दी नहीं है। आचार्योंके जितने भी शास्त्र देखेंगे वहाँ 'भी'—लगाकर न होगा। 'ही' लगाकर होगा। निश्चय बताकर होगा, पर 'ही' कैसे सही बैठेगा? अपेक्षा साथ लगे उससे सही बैठेगा। यदि अपेक्षा साथ न हो तो उसके मायने सर्वथा हुआ सो उसके साथ "ही" का विरोध है। अरे क्यों जी अपेक्षा लगाया और उसके साथ 'भी' लगाया तो कैसा रहेगा? गलत रहेगा। जैसे एक दृष्टान्त देते हैं उससे आप समझ लेंगे कि अपेक्षा लगाकर 'भी' लगानेमें कितनी विकट लड़ाईकी बात हो जाती है। कोई तीन व्यक्ति लो—बाबा, बाप और बेटा, मानलो उनके क्रमशः नाम हैं—सुरेश, नरेश और महेश। सुरेश तो बाबा है, नरेश सुरेशका बेटा है और महेश नरेशका बेटा है, इनमें मानलो नरेशकी पहिचान करना है तो यही तो कहा जायगा कि नरेश महेशका पिता ही है। कोई ऐसा तो न कह देगा कि नरेश महेशका पिता भी है। इसका तो अर्थ हो गया कि नरेश महेशका और कुछ भी होगा, पुत्र भी होगा, तो इसमें लड़ाई मच जाती है। मान लो नरेशको किसीने कहा कि नरेश सुरेशका पुत्र भी है तो यह भी कहना गलत,

क्योंकि इसका तो अर्थ है कि नरेश सुरेशका बाप वगैरह भी हो सकता, तो इसमें तो लड़ाई मच जायगी। कहा यह जायगा कि नरेश सुरेशका पुत्र ही है, नरेश महेशका पिता ही है। उसी तरह महेश को कहा जायगा कि महेश नरेशका पुत्र ही है, नरेश महेशका पिता ही है। इस प्रकार बोलनेसे निश्चय हो गया, सही बात आ गई अन्यथा वह तो एक संशयकी बात रहेगी। अन्य दार्शनिक स्याद्वादियोंको संशयवादी कहते ही हैं, पर संशयकी कोई बात नहीं है। तो अपेक्षा लगाकर 'ही' लगाना यह स्याद्वादका चिन्ह है। सो स्यात् पद कर जो अंकित है ऐसे जिनेन्द्र वचनोंमें जो रमण करते हैं वे पुरुष इस समयसारको, इस अंतस्तत्त्वको प्राप्त कर लेते हैं।

८०—समयसारकी विभुता—

देखो नयके मूल दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिकनय और (२) पर्यायार्थिकनय। वस्तुका स्वरूप समझना है तो समझो-जो भी चीज होती है वह सदा रहती है कि नहीं? सदा रहती और क्षण-क्षणमें नई-नई बनती कि नहीं? नई-नई अवस्था-बनती क्षण-क्षणमें पूर्व-पूर्व अवस्था मिटती और उसकी सत्ता बनी रहती, ये तीनों बातें वस्तुमें हैं कि नहीं? इसीको कहते हैं द्रव्यदृष्टिसे तो सदा है, पर्याय-दृष्टिसे क्षण-क्षणमें मिटता है। तो वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक हुई। द्रव्यको ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिकनय। पर्यायको ग्रहण करने वाला नय पर्यायर्थिकनय। दो नय बिना कोई बात ही न चलेगी इसलिए अनेकान्त तो आ ही गया। तो ऐसे इस स्यात् पदसे चिन्हित जिनेन्द्र देवके वचनोंमें जो रमते हैं मायने उन वचनोंका जो अर्थ है, भाव है उसमें रमते हैं वे शीघ्र ही समयसारका अनुभव करते हैं, यह बात काममें आ रही ना। कैसे आ रही? वर्णन किसका चल रहा? समयसारका याने आत्माके विशुद्धस्वरूपका। वह कैसे जाना जायगा? वह अलग धरा है क्या कहीं? वह तो स्वसमय और परसमयमें मिलेगा। याने मिथ्या-दृष्टि और अन्तरात्मा, परमात्मा सबमें ही समयसार मिलेगा। तो मूल भेद दो हुए इस जीवके—(१) स्वसमय और (२) परसमय। और समयसार कहाँ रहता है? स्वसमय परसमय दोनोंमें ही एक रूपसे। जैसे बताओ बालक, जवान, बूढ़ा इनको छोड़कर कहीं मनुष्य देखा क्या? वही मनुष्य पहले बालक था, फिर जवान हुआ फिर बूढ़ा हो गया। इन तीनों अवस्थाओंको छोड़ कर मनुष्य कुछ नहीं। तो जैसे मनुष्यपना ध्रुव है, तीनों अवस्थाओंमें है ऐसे ही समयसार ध्रुव है स्वसमय परसमय दोनों अवस्थाओंमें। तो स्वसमय परसमयको भी मना नहीं कर सकते मगर समय याने अपने स्वरूपके एकत्वके निश्चयमें जो प्राप्त हुआ है वह है समयसार जो सार है, श्रेष्ठ है।

८१—समयसारकी अन्तस्तत्त्वरूपता—

समयसारको प्राप्त आप्तको हम जैन आगमका आधार परखेंगे और उस आधारसे हम समयसारको निरखेंगे। देखो जीवका स्वरूप समझनेके लिए मार्गणा और गुणस्थान बताये गए हैं। गति है ४—नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति। इसके अतिरिक्त है गति रहित। सब जीवोंको समझ लें, ५ इन्द्रिय वाले जीव—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, और एक ऐसे हैं जो इनसे अतीत हैं। ऐसे ही मार्गणा और गुणस्थान द्वारा परिचय पाते जायेंगे, पर वह सब पर्यायोंका परिचय है। उन सबमें रहने वाला जो एकत्व है, वह है समयसार। अपनी ही बात है यह सब। जो समझ ले सो संसारसे पार हो जाता है। आत्मज्ञान बिना धर्म नहीं होता, और आत्म-ज्ञानसे ही समयसारके दर्शन होते हैं। अपनी समझ किसको नहीं। मैं आत्मा हूँ, ऐसा सब जान रहे हैं। अब मैं कैसा हूँ बस इसीके समझनेकी तारीफ है कि सही बातपर आ जाये तो सम्यग्दर्शन और

उल्टी बातपर रहे तो मिथ्यादर्शन । समझ सबमें है । एक मंत्री था, वह बड़ा विद्वान था । वह राजा को बहुत समझाता था कि आत्मा है, आत्माका कल्याण करो । राजा कहे कि आत्मा फात्मा कुछ नहीं । एक बार राजा घोड़ेपर चढ़े हुए चला जा रहा था और मंत्रीके दरवाजेसे निकला, तो खड़े होकर राजा बोलता है—मंत्री जी हमें आत्मा और परमात्माका कुछ ज्ञान करा दो । तो मंत्री बोला—महाराज आप घोड़ेसे नीचे उतरें, कुछ घंटा आधा घंटा बैठकर आत्मा परमात्माकी बात सुनें तो आपकी समझमें ठीक-ठीक आ पायगा । तो राजा बोला—हमें इतनी फुरसत कहाँ ? हमें तो ५ मिनटमें यों ही खड़े-खड़े समझा दो । तो मंत्री बोला महाराज हमारा कसूर यदि माफ हो तो ५ मिनटकी बात क्या, पाव सेकेण्डमें ही समझा देंगे । तो राजा बोला अच्छा तुम्हारा कसूर माफ । मंत्री बलवान तो था ही, राजाके हाथसे कोड़ा छीन कर दो तीन कोड़े राजाके जड़ दिये । राजा चिल्ला उठा अरे रे रे भगवान । मंत्री बोला बस आप समझ गए आत्मा और परमात्माके विषयमें । जिसमें अरे रे रे हुआ वह तो है आत्मा और जिसे भगवान कहा वह है परमात्मा । तो कौन नहीं जानता ? अपने आपका जो आत्माका स्वरूप है वह सबसे निराला है । अपने सत्त्वसे अपने आपके स्वरूपमें रहने वाला है, ऐसे आत्माको पहिचानें, उसमें रमे तो शान्ति प्राप्त होगी । तो यह समयसार जो अखण्ड है, नयसे तो समझा जाता है मगर खंडित नहीं है । है एक स्वरूप, अपना [illegible] स्वरूप । उसे मान लें कि यह मैं हूँ बस बेड़ा पार हो गया । लेकिन इस स्वरूपको न समझकर न जाने क्या-क्या रूप मानते हैं । मैं इतने पुत्रों वाला हूँ, व्यापारी हूँ, ऐसी पोजीशनका हूँ · · · · बस यह ही तो मिथ्यात्व है, और एक ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ, सबसे निराला, ऐसी मान्यता बने तो यह है सम्यक्त्वका रूप। आत्मज्ञान, आत्मा जिसका विषय है वह आत्मा ही न मिले तो फिर धर्म करनेका अर्थ क्या है ? मुझे सुखी होना है, यह अन्तः आवाज उठनी चाहिए—सुखी होनेका उपाय है अपने आपके स्वरूपमें रम जाना । जो इस तरह जिनेन्द्र वचनमें रमते हैं वे समयसारको प्राप्त करते हैं ।

८२—समयसारकी सहजसिद्धता—

समयसारको ही सहजसिद्ध बोलते हैं । सहजसिद्ध भगवानकी पूजामें पढ़ते हैं ना सहजसिद्ध-महं परिपूजये । सो दोनों जगह अर्थ लगाते जावो । मुक्त आत्मामें भी अर्थ लगाते जावो और अपने स्वरूपमें भी । सहजसिद्ध याने अपने आप सहज ही परकी अपेक्षा बिना जो सिद्ध है, निष्पन्न है, परिपूर्ण है उसे कहते हैं सहजसिद्ध । वह सहजसिद्ध आँखों न दिखेगा । उपयोगमें ही ज्ञानसे ही इस सहजसिद्ध भगवानके दर्शन होते हैं । देखो जगतके सभी जीव चाहते क्या हैं ? आनन्द । इस आनन्दके सामने उसकी सब चीजें गौण हो गईं । ज्ञानको भी नहीं चाहते । परन्तु ज्ञान है अविनाभावी, फिर चाह आनन्दकी होती । ज्ञान हो तो क्या, न हो तो क्या, हमको तो अनन्त आनन्द चाहिए, सो जैनशासन उस ही आनन्दके उपायको बताता है . पहले बनो सम्यग्दृष्टि याने समस्त पदार्थोंको न्यारा-न्यारा समझ लो । सम्यक्त्वके बाद फिर व्रत संयममें बढ़ो, अपने आपमें रमो, मोक्षमार्ग मिलेगा । यह मोक्षमार्ग, यह मोक्ष जिसको दिलाना है वह समयसार, आज तक इसको प्राप्त नहीं हुआ, और विषयों के कथन तो इसने बारबार अनेक भवोंमें सुने हैं, परिचयमें है, अब भी सामने हैं । लेकिन जो उभय-नयविरोधध्वंसी जिनेन्द्र वचनोंमें रमण करते हैं वे समयसारको प्राप्त करते हैं ।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमंतः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥५॥

८३—व्यवहरणनयकी हस्तावलम्बता—

जीवका एकमात्र शरण सहज आत्मस्वरूप अखण्ड है, जो है सो है, उसे न शुद्ध दशा द्वारा ठीक बताया जा सकता न अशुद्ध दशा द्वारा सही बताया जा सकता। तब ही तो इस समयसारको, आत्माके सहज स्वरूपको कषायवान कह कर नहीं समझाया जा सकता, तो कषायरहित कह कर भी नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि कषायसहित होना एक अशुद्ध दशा है, इस प्रकार देखेंगे कषाय-रहित होना एक शुद्ध दशा है। यह जीव तो अनादि अनन्त है अहेतुक कारणसमयसार, किन्तु कषायसहित अवस्था व्यक्तितः आदि अन्त दोनोंसे सहित है, परम्परा अनादि है लेकिन सान्त भी। कषायरहित अवस्था प्रतिक्षण सादि सान्त है और परम्परया सादि अनन्त। किन्तु यह समयसार अनादिसे अनन्त काल तक अन्तरंगमें नित्य प्रकाशमान अखण्ड विराजमान है। इस समयसारको समझनेके लिए व्यवहारनयसे भेद करके समझाया जा सकता है। व्यवहारनय परमार्थको समझा सकता है और इसीलिए व्यवहारनयकी महत्ता है। जैसे आत्मामें ज्ञान दर्शन चारित्र आदिक अनन्त गुण है, आत्मामें जानना देखना आदि अनन्त पर्यायें हैं। आत्मामें कितनी ही पर्यायें गुजर गयीं, कितनी ही पर्यायें गुजरेंगी और मोक्षमार्ग, संसारमार्ग, बंधमार्ग, जीवकी जो जो अवस्थायें होती हैं उनका कारण कलाप सबका जो कथन है वह व्यवहारनयसे हो पाता है और व्यवहारनयसे उनकी बातोंको समझ पाते हैं और इसी प्रकार चारित्रके भी प्रसंगमें, चारित्र तो एक अखण्ड आत्मस्वरूपमें रमण मात्र है, उपयोगका सहजात्मस्वरूपमें स्थिरतासे रम जानेका नाम चारित्र है याने केवल ज्ञाता द्रष्टा रहे, यही वृत्ति निरन्तर रहे उसे कहते हैं चारित्र, लेकिन इस निश्चयचारित्रको जो नहीं पाये हुए हैं ऐसे जीव उसमें उद्यम करते तो आखिर उनके साथ लगे हुए मन, वचन, काय हैं वे क्या करते हैं, बस निश्चयचारित्रका लक्ष्य रखकर जो मन, वचन, कायकी चेष्टायें होती हैं उनको कहते हैं व्यवहारचारित्र। व्यवहारचारित्र उपयोगी है, निश्चयचारित्रसे गिरते हुए को थामनेमें और निश्चय चारित्रमें न पहुँच होनेसे उसके निकट पहुँचनेमें व्यवहारचारित्रका बहुत हाथ है। यों समझो कि व्यवहारचारित्रसे गुजरता हुआ आत्मा निश्चय-चारित्रके सम्मुख बनता है।

८४—निश्चय व व्यवहारकी उपयोगिता—

यद्यपि निश्चय चारित्र आत्माकी परिणतिसे ही होता है लेकिन शुभोपयोग बिना कोई शुद्धोपयोग पा सका क्या? तो वहाँ शुभोपयोगका क्या मतलब है? शुभोपयोगकी साधनता है शुद्धोपयोगके लिए वहीं व्यवहारचारित्रकी शुद्धता है। फिरभी व्यवहारचारित्र पराश्रित है, निश्चयचारित्र स्वाश्रितहै, इतना होनेपरभी कितना-सहयोगी है व्यवहार, उसका कुछ वर्णन इसमें किया है और फिर व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोंका हो विकल्प हटकर कैसी अनुभूतिकी दशा होती है यह बताया गया है। जैसे कोई पुरुष पर्वतपर चढ़ रहा है, पहाड़परसे फिसल गया और कोई हितचिंतक पुरुष उसकी भुजा मजबूतीसे पकड़ ले तो वह पुरुष वहाँ कुछ मददगार हुआ कि नहीं? अब इसके बाद फिर वह अपनी शक्तिसे चढ़ेगा, ऐसे ही निश्चय-चारित्रमें लगे हुए ज्ञानी जीव जब उससे कुछ थोड़ा फिसलते हैं तो व्यवहारचारित्र उन्हें अधिक फिसलने नहीं देता है, थाम लेता है और फिर उस स्थितिमें अपना बल प्राप्त करके यह निश्चयचारित्रमे लगता है, अथवा जो पर्वतपर चढ़ा ही नहीं है अब तक, विचार कर रहा है तो उसकी जो क्रिया प्रक्रिया है वह उस चोटीपर पहुंचनेमें मददगार है कि नहीं? ऐसे ही जिसने निश्चयचारित्रको कुछ समझा ही नहीं ऐसा जीव व्यवहार चारित्र द्वारा और आत्मज्ञान प्रकाश सहित एक भीतरी ज्ञप्ति क्रिया द्वारा

बढ़ता है तो निश्चयचारित्रके निकट पहुँचता है । तो यहाँ यह बात बिल्कुल स्पष्ट समझमें आयी है कि जिस भव्यात्माने पहली पदवीमें धर्मार्थ अपना कदम रखा है, बढ़ाया है निश्चयसे उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्बनकी तरह है । जो व्यवहारको ही सर्वस्व निश्चय धर्म समझते हैं उनको समझानेके लिए तो यह बताया जायगा कि व्यवहारनय सर्वस्व धर्म नहीं है । आगे निश्चयकी ओर बढ़े । जो व्यवहारमें जरा भी न लगे और उल्टे व्यवहारमें चल रहे–जैसे व्यसन पाप आदिकके व्यवहारमें चल रहे तो उन जीवोंको तो यह व्यवहारनय एक हस्तावलम्बन है । सो इस प्रकार पहली पदवीमें यद्यपि व्यवहारनय एक हस्तावलम्बन है तो भी जो परम अर्थ है अखण्ड चैतन्यचमत्कारमात्र, जिसमें परका प्रवेश ही नहीं है ऐसे शुद्ध चैतन्यको जो अपने अन्तः निरखते हैं । उनके लिए व्यवहार कुछ भी नहीं है ।

८५—व्यवहारकी हस्तावलम्बताका चित्रण—

अब यहाँ देख लीजिए—दो प्रकारके साधक हुए ना, एक तो ऐसे साधक हैं जो एक अपनी अवस्थाको पा चुके, उनके लिए व्यवहारनय कुछ नहीं है । लेकिन जिन्होंने कदम ही रखा उनके लिए तो व्यवहारनय पहले हस्तावलम्बनकी तरह है, व्यवहारनय और निश्चयनयकी उपयोगिता समझनेके लिए एक दृष्टान्त लें कि जैसे सीढ़ियोंपर चढ़कर दूसरी मंजिलपर पहुँच जाते हैं तो दूसरी मंजिलपर पहुँच जाना तो समझो एक साध्य है, अनुभूति है और अंतिम सीढ़ी जो मंजिलसे मिली हुई है उसे समझ लीजिए निश्चयनय और बाकी जितनी नीचेकी श्रेणियाँ हैं वे हो गई मानो व्यवहारनयके स्थानपर । अब कोई अगर यह कहे कि सीढ़ियोंको छोड़नेसे ही मंजिलपर पहुंचते हैं, बात तो वह ठीक कह रहा, क्योंकि कोई सीढ़ियोंपर ही पैर रखे रहे, छोड़े नहीं तो वह मंजिलपर तो न पहुंचेगा, मगर उसके नीचे रहने वाले लोग अगर यह अर्थ लगा लें कि देखो ये बड़े पुरुष कह रहे हैं कि सीढ़ियोंको छोड़नेसे मंजिलपर पहुंचते हैं तो हम तो पहलेसे ही छोड़े हुए हैं, हम तो उन बड़े लोगोंकी आज्ञापर ही चल रहे हैं, हम तो अपने आप उस मंजिलपर पहुंच जायेंगे मोज ही मोजमें··· । तो यहाँ उन्होंने यह न समझा कि इन कृपालु महापुरुषोंने किसके लिए यह बात कही—जो सीढ़ियोंपर चढ़ रहे हैं और वहीं सुन्दरता देखकर रम रहे हैं उनको आचार्य कह रहे हैं कि भाई उन सीढ़ियोंमें रमनेसे तुम मंजिलमें न पहुँच पावोगे, उनको छोड़ो, आगे बढ़ो तो सीढ़ियोंको ग्रहण करके छोड़नेसे, ऊपर ऊपर पहुंचनेसे ऊपर पहुंचते हैं, अब 'ग्रहण करके' इतना पद तो हटा दिया और सीढ़ियोंको छोड़नेसे मंजिलपर पहुंचते हैं यह गप्प करने लगे तो इसमें सही मार्ग नहीं मिल सकता । क्योंकि सीढ़ियोंको ग्रहणकर छोड़नेके बाद ही मंजिलपर पहुंचना होता है । यही बात व्यवहारनयमें है । व्यवहारचारित्र, व्यवहार-सम्यक्त्व, व्यवहारज्ञान, व्यवहाररत्नत्रय सबकी यही बात है । कोई कहे कि व्यवहार रत्नत्रयके छोड़नेसे निश्चय रत्नत्रय प्राप्त होता है तो व्यवहार रत्नत्रयको छोड़े हुए तो अनन्त निगोदिया जीव हैं । वे कोई व्यवहार रत्नत्रयको पाल रहे क्या ? असंख्यात स्थावर जीव हैं, असंज्ञी पर्यन्त सभी हैं और संज्ञीमें बहुत संख्या है व्यवहार रत्नत्रयको छोड़े हुओं की, पर यह मार्ग नहीं है, व्यवहार रत्नत्रयमें आकर व्यवहार रत्नत्रयको छोड़कर अखण्डकी ओर बढ़नेमें निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति है ।

८६—नयोंके समुचित प्रयोगोंका प्रभाव—

जो बात जहाँ जैसी है वहाँ वैसी समझना इसमें हित है इसीपर तो पूज्य समंतभद्राचार्यने युक्त्यनुशासनमें कहा है कि इस पंचमकालमें जो जैनशासनका प्रभाव नहीं बढ़ रहा है उसके मुख्य कारण तीन हैं—एक तो कलिकाल । इस कलिकालमें लोगोंके भाव प्रकृत्या ही पतनकी ओर रहते हैं, विषयोंकी ओर बढ़ते हैं, कषायें जगती हैं, दूसरा कारण है—श्रोताओंका कलुषित आशय याने लोगों

का अभिप्राय पवित्र नहीं है। श्रोताजन यह चाहते हैं कि हमारी कषायके अनुकूल शास्त्रोंमें बात मिले तब तो वह शास्त्र ठीक है, नहीं तो ठीक नहीं। और तीसरा कारण है—वक्ताओंको नयोंका ज्ञान नहीं है, सही बोध और प्रयोग नहीं है, तो वक्ताओंका, उपदेष्टाओंका एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। वे हर बातको बीच-बीच स्पष्ट करके समझाते हैं कि इस नयसे यह बात कही जा रही है। अब जरा मोटे रूपसे देखें—वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है कि नहीं ? कि केवल द्रव्यमात्र है या केवल पर्यायमात्र है ? प्रत्येक सत् द्रव्यपर्यायात्मक है। पर्यायके बिना द्रव्य नहीं, द्रव्यके बिना पर्याय नहीं। तो द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुमेंसे जो द्रव्यका वर्णन करने वाला है वह है निश्चयनय और जो परिणमनको, पर्यायको बताने वाला है वह है व्यवहारनय। असत्य तो इन नयोंमें कोई न रहा फिर भी साधकतम निश्चयनय है। व्यवहारनयका विषय खण्डरूप है और उस खण्डरूपमें हम उपयोगको जमायें तो उपयोग फिट न बैठेगा। वह खण्डरूप है, अमेला उपयोग और कुछ वह उपयोग भी स्वयं एक खण्डाकार बन जायगा। इस कारणसे व्यवहारनयको छोड़कर निश्चयनयमें आनेका उपदेश है। साधकतम है निश्चयनय और व्यवहारनय निश्चयनयकी पात्रका सहायक है, तो दोनों ही बातोंसे समझें कि व्यवहारनय पहली पदवीमें हम सबके लिए हस्तावलम्बनकी तरह है। फिर भी व्यवहारनयके विषयमें ही कोई रम जाय तो बस वह वही अधूरे रास्तेमें भटक गया, अब उसे मंजिल कैसे मिलेगी इसलिए आगे आगे बढ़कर इतना बढ़ जायें कि अपने अंतरंग में परमार्थ चैतन्य चमत्कारमात्र समस्त पक्षोंसे अतीत अपने एकत्वरूप स्वयंको अनुभवने लगे, ऐसी स्थिति बननेपर उसके लिए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है।

८७—खण्ड करके समझ बनाकर अखंडमें प्रवेश—

सभी जानते अपनेको, खण्ड-खण्ड करके भी जाननेकी जरूरत है अन्यथा उस अखण्ड आत्मा को कौन समझेगा ? और अखण्ड आत्माको समझनेकी भी जरूरत है, नहीं तो अखण्ड आत्मामें प्रवेश कैसे होगा ? मगर अखण्ड आत्मामें लीन होनेमें साधकतम निश्चयनय है, व्यवहारनय नहीं हैं, जब कि एक अनुभवके रास्तेमें बढ़े चलें तो आत्माकी जानकारीके अनेक साधन हैं। द्रव्यसे जाना कि आत्मा क्या है ? गुण पर्यायका पिण्ड। क्षेत्रसे जाना कि आत्मा क्या है ? असंख्यात प्रदेशोंका ऐसा विस्तार वाला। जैसे कि हम आज मनुष्य हुए है, कालदृष्टिसे समझा कि आत्मा क्या है। आत्माकी जो इस समय कुछ भी परिणति हो रही हो अशुद्ध या शुद्धाशुद्ध, अशुद्ध भी है आत्मा। और गुण-दृष्टिसे आत्मा जो एक है, इसमें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चरित्रगुण है, बखानते जाइये। गुणदृष्टिसे आत्मा को जाना तो, मगर उपयोगको इस ही दृष्टिके माध्यमसे लेते रहें तो अनुभव कुछ नहीं बनता आत्माका। गुणपर्यायका पिण्ड, बस एक खण्ड कर दिया पिण्ड कहके। क्षेत्रसे खण्ड किया, कालसे खण्ड किया, गुणसे खण्ड किया। तो उस अखण्ड आत्माका खण्ड-खण्ड करके अनुभव नहीं बनता, किन्तु इन खंडोंपर दृष्टि न दो और एक अखण्डस्वभाव चित्स्वभाव याने मन जब विश्राम पाता है उस समय जो यहाँ विषय बनता है, जो ज्ञेय बनता है ऐसा यह अंतस्तत्त्व यह है अखण्ड स्वभाव। यह उपयोगमें आये तो अनुभव बने। तो यहाँ ही देख लो खण्डरूप जो परिचय है वह अनुभव नहीं बन सकता, मगर खण्डरूप परिचय किए बिना अनुभव करनेके पात्र भी नहीं बन सकते, यह भी तो मानना चाहिए, क्योंकि इस व्यवहारनयकी कृपासे हम इतना योग्य बन पाये हैं कि निश्चयनयके रहस्यको समझ लेते हैं और हमारे लिए अब व्यवहारनय कुछ नहीं है। अब जरा दृष्टि दो अखण्ड

परमार्थ गुण नजरमें रहें, ऐसी स्थिति पानेपर हम औरों को यह उपदेश दें कि व्यवहारनयसे बिल्कुल अलग हटे रहना, हम भी व्यवहारनयको छोड़कर इस निश्चय अंतःस्वरूपमें आये हैं तो यह तो दूसरोंपर एक अन्याय करना हुआ, क्योंकि हम जिस प्रकारसे चलकर एक इस परमार्थमें पहुंचे उस प्रकारकी बात उन्हें तो कहा नहीं और कहते—व्यवहार है इसलिए छोड़ो तो यह उनपर अन्याय है। व्यवहारनय कहाँ तक कैसा काम देता है यह बात समझनी होगी, और अन्तमें लक्ष्य है निश्चयनयका, निश्चयनयमें पहुंचनेके लिए ही व्यवहारका प्रयोग है, व्यवहारमें रमने और अटकनेके लिए नहीं है। सो यह ही बात इस कलशमें अमृतचन्द्रजी सूरि कहते हैं कि पहली पदवीमें जिन्होंने आगे कुछ कदम बढ़ाया है उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्बनकी तरह है। पर जिन्होंने अपने अन्तः परमार्थ स्वरूपको देखा है उनके लिए यह व्यवहारनय कुछ भी नहीं है। देखिये उपयोग लगाने और लक्ष्यमें बढ़नेकी बात है। वस्तुकी ओर देखें तो वस्तु सदाकाल द्रव्यपर्यायात्मक है, तब न निश्चयनयकी बात छूटी न व्यवहारनय की बात छूटी। जैसे वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है ऐसे ही तत्त्वज्ञान निश्चयव्यवहारात्मक है। इतना होने पर भी पर्यायका आलम्बन लेनेसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता, ऐसे ही व्यवहारनयमें रमनेसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता। बढ़ना चाहिए। आगे बढ़ें, अन्तःस्वरूपमें पहुचें तो ऐसे ही इस अंतःस्वरूपमें पहुंचनेके लिए यह व्यवहारनय पात्रता बना रहा है।

८८—व्यवहार व्यवहारमें विवेक करनेकी आवश्यकता—

देखो आगमके निर्देशके अनुसार नय ७ बताये गये हैं—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, और शेष चार नय और बचे—ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय। ये ७ किसके भेद हैं? द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयके। तो तीन भेद बताये नैगम, संग्रह, व्यवहार, सो व्यवहारनय द्रव्यार्थिकनय का अंग है और पर्यायार्थिकनय में चार बताये—ऋजुसूत्रनयसे शुरू किया, तो व्यवहारनय दो प्रकारके हुए—एक तो हुए, क्षण-क्षणमें होने वाली जो अवस्था है उसे जो बताये, सो एक तो हुआ पर्यायार्थिक वाला व्यवहार और एक वस्तुमें ही समझनेके लिए गुण पर्यायके खण्ड किये जायें वह है द्रव्यार्थिकनय में भेद वाला व्यवहार। तो व्यवहार नाम सुनकर हर जगह एक निर्णय न रखना चाहिये कि यह व्यवहारनय झूठ है। जैसे दूध कितने होते हैं—गायका दूध, भैंसका दूध, बकरीका दूध, ऊटनीका दूध आकका दूध आदि। आक एक पेड़ होता है जिसमें बहुत दूध निकलता है। कोई ७–८ पत्ते ही तोड़ लिए तो एक छोटी कटोरी भर दूध निकल आता है। अब दूध तो आकका भी है पर यह दूध अच्छा थोड़े ही होता, इस दूधके पानीसे तो पीने वाले के प्राण तक भी चले जाते हैं। यह दूध अगर किसी की आँखमें पड़ जाय तो आँख भी फूट जाये। अब आकके दूधमें तो यह बात दिखी कि यह प्राण-घातक है, पर कोई सभी दूधोंके लिए चिल्लाये कि दूध सारे प्राणघातक हैं तो यह कोई विवेककी बात तो न रही। अरे आकका दूध प्राणघातक है न कि गाय भैंस आदिकका। लोग तो गायको माता कहकर पुकारते, और गायके दूधको बड़ा पवित्र मानते। तो इस प्रकार व्यवहार व्यवहार अनेक प्रकाके होते हैं, कुछ व्यवहार उपचार वाले हैं, कुछ व्यवहार सत्य प्रदर्शित करने वाले हैं, तो इसका विवेक होना चाहिए और सत्यके प्रदर्शक, परमार्थके प्रतिपादक व्यवहारके आलम्बनसे हम परमार्थ तक पहुंचनेका अपना पौरुष बना लें। कितना उपकारी है यह व्यवहार कि जो व्यवहार अपनेको मिटाकर भी साधकको उच्च दिशामें, निश्चयकी स्थितिमें पहुचा देता है। ऐसी माँ जो खुद मिटकर पुत्रको सुरक्षित रख दे, बस वही स्थिति इस व्यवहारकी है कि यह व्यवहार खुद मिट जाता है मगर साधक

को निश्चयकी ओर ले जाता है। तो यों है व्यवहार और निश्चयनयकी स्थिति। व्यवहारनय प्राक् पदवीमें हस्तावलम्बन है। जब ऊपर पहुँच गए, निश्चयकी स्थितिमें पहुँच गए, परमार्थतः जो चैतन्य चमत्कार मात्र है उसको जब जिसने पा लिया उसके लिए व्यवहार कुछ नहीं है। तो इन स्थितियोंसे अगर कोई व्यवहारकी उपयोगिता सुनकर खुश हो, आज तो व्यवहारकी अच्छी बात कही तो उसकी रुचि व्यवहारमें अटकी कहलायी ना। वह तो ज्ञेय तत्त्व है, जो अत्यन्त उपादेय है वह स्थिति व्यवहारकी नहीं है।

८९—व्यवहारकी अरम्यता—

कोई बम्बई को मानलो यहाँसे पंजाब मेलसे जा रहा, तो रास्तेमें बड़े सुन्दर-सुन्दर स्टेशन मिलते हैं। बड़े सुन्दर चित्र, बड़ी सुन्दर छाया, बड़ी सुन्दर पेड़ोंकी कतार, तो वह यात्री अगर उस स्टेशनमें लुभा जाय और वहाँ ठहर जाये तो उसकी क्या स्थिति बनेगी? वह बम्बई न पहुंच सकेगा। यदि ऐसा कोई कर डाले तो उसे लोग पागल कहेंगे। तो बीचमें जो सुन्दर-सुन्दर स्टेशन आते हैं और आते ही हैं, वह रास्ता ही है, मार्गमें मिलते ही हैं, तो मार्गमें मिलनेवाले इन सब स्टेशनोंको वह देखता जायगा, पर ये रमनेके लिए नहीं हैं। रमनेके लिए, ठहरनेके लिए तो वह बम्बईका लक्ष्य बनाया सो है। इसी तरह एक परमार्थमें चित्स्वभावमें इसकी पहुंच है, वहाँ पहुंचनेके लिए हम पौरुष करते हैं, मन, वचन, कायका एक पुरुषार्थ बनाते हैं और अपने ज्ञान द्वारा एक तत्त्वज्ञानका भी पुरुषार्थ कर रहे हैं, चल रहे हैं, अब यदि हम उस ही में अटक जायें जो वर्तमानमें ज्ञान बनाया, एक अद्भुत बल बन गया, उसमें ही रम गए, वही दिख रहा है, इस प्रकार व्यवहार संयम आदिक में ही रम गये तो अब हम बस आगे नहीं पहुंच सकते। हमारी उन्नति समाप्त हो गई, इसलिए व्यवहारनयका यथावसर अपना प्रयोग रखें।

९०—निश्चय और व्यवहारनयका ढाल और प्रहारकी तरह उपयोग—

निश्चय तक पहुंचानेमें यह व्यवहार तो काम करता है ढालका और निश्चय काम करता है हथियारका। जैसे युद्धमें सुभट चलता है तो वह दोनों प्रकारके साधन रखता है, शत्रु आक्रमण करे तो हम कैसे बचें, उसका साधन रखता है, उसे कहते हैं ढाल। पहले जमानेमें ढाल और ढगके होते थे, आजकल और तरहके ढाल हो गए, और शत्रुपर जो प्रहार करे वह है शस्त्र। तो इन विकार विभाव कर्मोंको, शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए एक अद्भुत विशाल जंगमें पहुंचा हुआ यह ज्ञानी वीर व्यवहारकी ढालसे तो पाप व्यसन आदिक शत्रुओंका आक्रमण बचाता है। अध्ययनमें न रहें, क्रिया-काण्डमें न रहें, प्रभु भक्तिमें न रहें, प्रतिक्रमणमें न चलें, गुरु आज्ञामें न रहें और जो समय-समयकी रात दिनकी चर्या बतायी गई है उसपर न चलें तो अब वह बेकार हो गया, और स्थिति ऐसी है नहीं कि वह अंतस्तत्त्वमें रमा ही रहे तो इससे इसका भला तो न हो सकेगा। यह व्यवहार, यह व्यसन और पापके आक्रमणको दूर करता है इसलिए यह ढाल है और उसमें सुरक्षित होकर फिर तत्त्वज्ञान का, ज्ञानदृष्टिका अधिकाधिक प्रयोग करे तो यह हो गया विकारपर, कर्मपर शस्त्रप्रहार। काम दोनों करनेके हैं, पर मुख्य गौणकी बात, आगे पीछेकी बात सब विवेकपूर्वक समझनेसे चित्तमें सही उतर जाता है। इसी सब संकेतको आत्मख्याति टीका करने वाले सूरीश्वर अमृतचन्द्र महाराज इस ५वें कलशमें कह रहे हैं कि यद्यपि व्यवहारनय पहली पदवीमें इस अंतस्तत्त्वकी ओर जिसने कदम बढ़ाया है, रखा है उनके लिए हस्तावलम्बनकी तरह है। जैसे गुरुभक्ति, गुरुचरणोंमें रहकर अध्ययन करना

ये सब उपयोगी चीजें हैं, ये हस्तावलम्बन हैं। कैसे यहाँ बढ़ें फिर भी चैतन्य चमत्कारमात्र परम अर्थ जिसका कि अन्य कुछ दूसरा नहीं है। निश्चयसे देखें तो मेरा स्वरूप एक चैतन्यमात्र है, जिसमें पर और परभावका प्रवेश नहीं। इस अंतस्तत्त्वको जो अंतरंगमें देख रहे हैं उनके लिए व्यवहारनय कुछ नहीं है। है ही नहीं, वहाँ दृष्टि ही नहीं। अनुभवमें समाया हुआ है तो ऐसा कल्याण चाहने वाले पुरुषको व्यवहारनय और निश्चयनयको उपयोगिताको सही-सही जानकर बढें। काम तो अपनेको अपना करना ही है, वह प्रयोग सिद्ध हो, उस प्रकारसे अपनेको लगायें।

९१—अनुभवनोंके मूल आधारभूत स्रोतमें रमनेका लक्ष्य—

हम आप सब जीव पदार्थ हैं, जिसमें जानने देखनेकी शक्ति है और जानते देखते रहते हैं। अब कभी हमको सुख होता, कभी दुःख होता, इसका कारण क्या है कि जब बाहरी पदार्थोंको इस ढंगसे जानते हैं कि ये मेरे इष्ट हैं, ये मेरे भले हैं तब सुख मानते हैं। जब इस ढंगसे जानते हैं किसी भी चीजको कि यह मेरा विरोधी है, तब दुःख होता है। तो सुख और दुःख जानतेपर निर्भर है। हमारा जैसा जानना बनेगा वैसा सुख अथवा दुःख होगा। बाहरी चीजोंके कारणसे सुख दुःख नहीं। किसीके पास कितना ही वैभव हो, करोड़पती हो तो करोड़ होनेसे सुख नहीं है, किन्तु जो मनमें एक भाव लाये, ज्ञान किया कि मैं करोड़पती हूँ, मैं सबसे अच्छा हूँ, इस प्रकारका जो जानन चला उस जाननसे कल्पित सुख मिला, इसी तरह कभी वैभव मिट जाय या किसीका वियोग हो जाय तो किसीके वियोगमें दुःख नहीं होता, किन्तु हाय वह बड़ा अच्छा था, मेरे बड़े कामका था, वह मिट गया, इस तरहका जो जानन चल रहा है उससे दुःख हुआ, अब एक चीज है आनन्द जो सुख और दुःख से परे है याने जिसका आनन्द गुणका परिणमन न सुख है, न दुख, किन्तु आनन्दमय है, वह आनन्द कहलाता है, आकुलता न होना, ज्ञाता दृष्टा रहना। भगवानके आनन्द, ज्ञानियोंके आनन्द है तो वह भी ज्ञानसे मिलता। जहाँ यह जाना कि इन बाहरी पदार्थोंसे मेरे को क्या मतलब। ये भिन्न चीजें हैं, इनसे मेरा सम्बंध नहीं। मेरा तो मैं ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा जानकार जो ज्ञानमें ज्ञान रमाये उमें आनन्द मिलता है। तो निष्कर्ष यह है कि हम चाहते हैं आनन्द या सुख तो उसका कारण है ज्ञान, सो ज्ञानको सही बनाये तो आनन्द और शान्ति मिले। तो वह ज्ञान सही क्या है कि अपने आपके बारेमें यह जानना कि मैं मनुष्य नहीं, पशु नहीं, तिर्यञ्च नहीं। जो ज्ञानी हैं वे जानते हैं कि मैं सेठ नहीं, व्यापारी नहीं, मनुष्य नहीं, स्त्री नहीं, बच्चों वाला नहीं, अमुक जातिका नहीं, यह तो सब देहके साथ लगे हैं ना, और देह कभी अलग हो जायगा तो ये मेरे कैसे कहलाये? तो मैं जब देहसे न्यारा हूँ तो मेरा तो सिर्फ ज्ञानस्वरूप है। और मेरा जगतमें अन्य कुछ नहीं। तो ऐसा जो अपना ज्ञानस्वरूप है उसको देखना, उसमें रमना यह अपना कर्तव्य है।

९२—ज्ञानरमणका लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न हो पाने तक आवश्यक कर्तव्योंमें भगवद्भक्तिका प्रथम कर्तव्य—

अब जब तक ज्ञानरमणकी बात भली प्रकार न बने तब तक अपनेको क्या करना चाहिए कि हम उस ज्ञानके मार्गसे न हटे रहें। उसके लिए बताया है आचार्योंने श्रावकोंके लिए ६ कर्तव्य। ये रोजके करनेके हैं। लोग शिथिलता करते हैं तो परिणामोंमें भी सिथिलता आ जाती है। इनमें एक भी छोड़नेकी चीज नहीं है, वे ६ कर्म क्या है? देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम तप और दान। देवपूजा मायने जो देव है, भगवान है, उत्कृष्ट आत्मा है, परमात्मा है, जहाँ रागद्वेष जरा भी

नहीं और ज्ञान इतना महान है कि तीन-लोक तीनकालकी बातें सब ज्ञानमें आ रहीं और विकल्प कुछ है नहीं, तो ऐसा जो बीतराग सर्वज्ञ आत्मा हो सो भगवान। तो उस भगवानकी हमें पूजा करना, उपासना करना, भगवानका ध्यान रखना, क्योंकि जो भगवान हो गए हैं वैसा ही मैं हो सकता हूँ, वही मेरा स्वरूप है, मैं तो ज्ञान और आनन्द स्वरूप हूँ और भगवान भी ज्ञानानन्दरूप हैं। हमारा ढका हुआ है ज्ञान और आनन्द और भगवानका प्रकट है। तो हमको ज्ञान और आनन्दके मार्गपर चलना है, इसके लिए ही जीवन है तो उनकी पूजा हमको रोज करना। जहाँ मन्दिर हो पास वहाँ मन्दिरमें स्थित होकर ध्यान करना, मन्दिर न हो तो बैठकर साक्षात् अरहंत भगवानकी मुद्रा ध्यानमें रख लेना, प्रभुका गुणगान करना, बिनती पढ़ना, यह है देवपूजा। यह रोजका काम है, सुबह उठे और निपटकर पहला काम है भगवानका ध्यान करना और जो नहीं करते हैं उनका समय कैसे जाता है और और बातोंमें, खानेमें, और और तरहके आरामोंमें या विषय कषायके कामोंमें। प्रभुकी भक्तिमें लगे तो यह काम देगा आगेके भवोंके लिए। तो देवपूजा एक ऐसा व्यवहार है कि जिसकी वजहसे हम भ्रष्ट न हो पावेंगे, ज्ञानके अपात्र न हो पायेंगे। ज्ञानके मार्गके योग्य रहेंगे इसलिए देवपूजा श्रावकोंका पहला कर्तव्य है। अब देवपूजामें ध्यान क्या बनाना है? सो कोई सी बिनती पढ़ें उसमें सब बात आयगी और वही ध्यान बनेगा। भगवान सारे विश्वको जानने वाले हैं फिर भी वे अपने में ही आनन्द रसमें लीन हैं। बस भगवानका यह ही स्वरूप है, प्रभु विश्वका करने वाला नहीं, सृष्टि करने वाला नहीं, जगतका करने वाला नहीं। इसमें तो उन्हें बड़ी आफत आ जायगी। वे तो सबके जाननहार हैं और अपने सहज आनन्दरसमें लीन हैं और ऐसा हमेशा बने रहेंगे, और यही स्वरूप हमारा है, हम उस मार्गपर चलें तो यह ही बात हममें प्रकट हो जायगी। प्रभुके गुणोंका गान करना वह है प्रभु पूजा।

९३—ज्ञानमरणका लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न होने तक आवश्यक कर्तव्योंमेंसे द्वितीय कर्तव्य गुरूपास्ति व तृतीय कर्तव्य स्वाध्याय—

दूसरा कर्तव्य है गुरुवोंकी सेवा। गुरुजन कौन हैं? जो संसारसे विरक्त हैं, आत्मकल्याणमें लगे हुए हैं, जो जगतके वैभवोंकी कोई वाञ्छा नहीं रखते हैं ऐसे साधुजन गुरु कहलाते हैं। उनकी सेवामें रहेंगे तो मान कषाय दूर होगी। पहला लाभ यह है। उन गुणोंकी प्राप्तिका उपाय बनेगा, दूसरा गुण है यह। तीसरा-चारित्रके प्रति हमारी भक्ति जगेगी जिससे हममें ही गुणका उत्कर्ष होगा। तो गुरुवों के सेवा यह हमारा दूसरा कर्तव्य है। अब गुरुजन कहीं न मिलें तो उनका स्मरण करना और जो कोई ज्ञानी पुरुष मिलें उनकी सेवा करना यह है गुरूपास्ति। यह चारित्रमें उमंग दिलाने वाला कर्तव्य है। तीसरा कर्तव्य है स्वाध्याय—अपना अध्ययन करना। मैं क्या हूँ इसका मनन बने। इसके लिए आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़ें और मनन बनेगा। कोईसा भी वर्णन आप पढ़ें स्वाध्यायमें, उस वर्णनसे अपना ही मनन बनता है। अगर वर्णन आया कि दुनिया इतनी बड़ी है, इसमें तीन भाग हैं—ऊर्ध्वलोक। मध्य-लोक, अधोलोक। तो यह बात पढ़नेसे यह ज्ञान बने कि हमने यदि अपनी सम्हाल न की तो ऐसे ऐसे दुखोंको हमें भोगना पड़ेगा जैसे कि इसी कारण अब तक भोगते आये। कभी शरीरकी बात आ गयी—एकेन्द्रियका ऐसा शरीर, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रियका ऐसा शरीर, यों कितनी तरहके शरीर हैं कितना बड़ा शरीर है, यह वर्णन आ गया तो उससे हमको यह शिक्षा मिलती है कि हमने यदि आत्माके स्वरूपकी सम्हाल नहीं की तो ऐसे ऐसे देहोंमें हमें जन्म लेना पड़ा। कोई सा भी प्रकरण पढ़ें, साक्षात्

या परम्परया शिक्षा आत्माके अध्ययनकी होवे। जिसने अपने आपकी पहिचान नहीं की वह कभी संतोष नहीं पा सकता, क्योंकि देहको जाना यह मैं, तो उसका सारा जीवन तृष्णामें बीतेगा। केवल चैतन्यमात्र आत्माका भान रहे तो तृष्णा नहीं होती।

९४—ज्ञानरमणका लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न होने तक आवश्यक कर्तव्योंमें से चतुर्थ कर्तव्य संयम—

चौथा कर्तव्य है संयम। संयमसे रहना, जीवरक्षा करना, प्राणिसंयम करना और खुद विषयोंमें लीन न होना सो अपनी दया वाला संयम ही मनको जैसा चाहे वैसा स्वच्छंद रखना यह धीरताको नष्ट कर देता, इसलिए मनको काबू रखनेके लिए पाँचों इन्द्रियोंका संयम चाहिए। मैं गान तान, सनीमा, संगीत गायन ऐसी ऐसी चीजें न सुनूँगा सदा अच्छी बात सुनूँगा, इस प्रकारका संयम रहे सो कानोंका संयम हो गया। ज्ञानी पुरुष किसीके रूपपर दृष्टि न लगायगा, लो आँखोंका संयम हो गया। नाकका संयम क्या है ? कौन लौकिक नहीं चाहता कि सुगंधित चीज मिले, दुर्गन्धित चीज न मिले। अरे जो मिले, सो ठीक है। इस प्रकारसे घ्राणेन्द्रियको वशमें किया। रसना इन्द्रियको वशमें करना। याने मनमाना खानेपर न चलना। जब चाहे जैसा चाहे न खा लेना। कुछ बार खाना, शुद्ध शाकाहारी बनना, जीवन चलानेके लिए तो अधिकसे अधिक दो तीन बार खाना इससे ज्यादह वार न खाना। ६-७-८ बारका खाना यह कोई स्वास्थ्यके लिए लाभप्रद बात नहीं है। बल्कि उससे तो स्वास्थ्य बिगड़ता है। अगर एक दो बारका, संयमका खान-पान रहेगा तो उससे स्वास्थ्य अच्छा रहेगा, शेष समय भी शान्तिमें बीतेगा। तो संयम एक अपना कर्तव्य है।

९५—ज्ञानरमणका लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न होने तक आवश्यक कर्तव्योंमें पञ्चम व षष्ठ कर्तव्य तप और दान—

५ वाँ कर्तव्य है तप- इच्छाओंका निरोध करें। मान लो मनमें आया कि हम खीर खायें तो झट खीरका त्याग कर दो, क्यों आया खीरका ध्यान ? यह हुआ इच्छाका निरोध। मनमें इच्छा जगी कि अधिक धन मिले तो उस इच्छाका निरोध करो। कर्तव्य है कि, दूकानमें बैठे, दफ्तरमें बैठें, आजीविका सम्बन्धी कार्य करें, पर उदयानुसार जो धन प्राप्त हो उसमें ही धर्म और व्ययका विभाग बनाकर संतुष्ट रहे, आगेकी इच्छा न करें। अपने आत्मस्वरूपके चिन्तनकी धुन रहे। मेरा हित कैसे हो, कैसे मैं अपने आत्मामें समाऊँ, इसकी चेष्टा रहे। तो तप कहते हैं इच्छाके निरोधको। कोई प्रकारकी इच्छा न पनपने देना यह तपश्चरण है। छठा कर्तव्य है दान। देखिये गृहस्थीमें रहकर धनोपार्जन करना यह भी एक कर्तव्य है मगर जितने धनका व्यय अपने ऐश आरामके लिए किया जाता उसका कमसे कम आधा भाग या चौथाई भाग दानमें, परोपकारमें, धर्मके कामोंमें लगना चाहिए। और, यह दान रोज करनेका है। आहारदान—गुरुजन हों, त्यागीजन हों, व्रतीजन हों, ज्ञानीजन हों उनको भक्ति पूर्वक अनुरागसे आहार करायें। यह हुआ आहारदान। ज्ञानदान—बच्चों को ज्ञान सीखनेके लिए उनकी मदद करना, स्वाध्यायके लिए शास्त्र मगाना यह सब ज्ञानदान है। बच्चोंको पढ़ायें। तो ज्ञानदान भी एक महान कर्तव्य है। जो ज्ञानविषयक दान करते हैं उनको तो केवलज्ञान मिलनेका सिलसिला है वहाँ। यह ज्ञानदान है। औषधिदान और अभयदान। कोई रोगी हो दुःखी हो उसे औषधि दिलाना, औषधि दान है कोई बहुत घबड़ाया हुआ हो, उसे शान्ति दिलाना, उसको धीरज बँधाना अभयदान है। इन ६ आवश्यक कर्तव्योंसे यह जीव सम्हला हुआ रहता है और उसकी फिर यह भावना रहती है कि मैं कैसे अपने आत्मामें रमूँ, और बाहरसे जो क्षोभ हैं, विकल्प

हैं उनसे कैसे हटूँ। यदि वह ब्यवहार सही-सही रहे तो इससे जीवको बड़ा फायदा रहता है।

९६—ज्ञानरमणका लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न होने तक अन्य अनेक कृत्य व्यवहार—

ज्ञानरमणकी पात्रताके लिए और और प्रकारके भी ब्यवहार हैं जैसे सब जीवोंके प्रति मित्रता का भाव रखना, मुझसे अधिक कोई नहीं, और मैं किसी अन्यसे अधिक नहीं, सब एक समान हैं, जो स्वरूप सब जीवोंका है वही मेरा स्वरूप है आनन्दधाम, ज्ञाननिधान, उसका अनुभव करें, मनन करें और सब जीवोंके प्रति फिर उसके सद्भावना बनेगी तो यह भी एक ब्यवहार उत्तम है कि जिससे हम एक मोक्षमार्गकी लाइनमें तो हैं अभी। दूसरा कर्तब्य है—कभी गुणी जन दिख जायें विद्वान, चरित्रवान तो उनको देखकर मनमें आल्हाद उत्पन्न हो धन्य है मेरा भाग्य जो इनका दर्शन हुआ। प्रमुदित मन रहा इसकी निशानी यह है कि फिर उन ज्ञानी विद्वानोंकी सेवामें अगर तन लगे, मन लगे, धन लगे, वचन लगे तो वह सब कुछ करनेको तैयार रहेगा। तीसरा ब्यवहार यह है कि दुनियामें कोई दुःखी जीव मिलें तो अपनी श्रद्धा और शक्ति माफिक तन, मन, धन, वचन लगाकर उनका दुःख दूर करें। चौथा कर्तब्य है कि जो विरोधीजन हों, दुश्मन हों, ऐसे जीवोंमें माध्यस्थ्यभाव रखें। अगर विरोधीको ललकारने लगे, हटाने लगे तो उसमें भी तो कोई शक्ति है, उसे अपमान महसूस होगा, वह भी अपने इरादे बनायगा, तब फिर चैन कहाँ मिल पायगी? तो जो उल्टी बुद्धि वाले लोग हैं उनमें राग करें तो आफत। जिन्हें कहते हैं गुण्डा लोग, उनसे प्रेम करें तो आफत, उनसे द्वेष करें तो आफत, इसलिए उनसे माध्यस्थ्य भाव रखना। ऐसा ब्यवहार बनानेसे हम आपमें ऐसी योग्यता, पात्रता बनती है कि हम उस ज्ञानस्वरूप भगवानकी आराधनाके पात्र रहते हैं। अपने निकट जितना आयेंगे उतना ही आनन्द मिलेगा। अपनेसे बाहर जितना दौड़ेंगे, भागेंगे उतना ही कष्टमें रहेंगे। बड़े-बड़े चक्रवर्तीने भी जब यह रहस्य जाना तो सब त्याग दिया और अपने आप इस स्वरूपमें आ गए। तो यह सद्ब्यवहार अपना कर्तब्य है।

९७—ज्ञानरमणकी पात्रता व कर्तव्योंकी पात्रताके लिये मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्यके त्यागकी आवश्यकता—

कर्तब्योंके पात्र बननेके लिए मिथ्यात्व अन्याय और अभक्ष्यका त्याग होना चाहिये। मिथ्यात्व दो प्रकारका होता है—एक तो गृहीत मिथ्यात्व, जैसे सांसारिक देवी-देवता पूजने लग गए, जो रागी द्वेषी देवता है उनमें आस्था रखना, वह गृहीत मिथ्यात्व है और शरीरको मानना कि यह मैं हूँ, उसका साज शृंगार करना, उसको बार-बार देखना, शरीरमें अहंभाव रखना अगृहीत मिथ्यात्व है। यह क्या है? एक अपवित्र शरीर है और उसमें ममता बसा रखी है तो ममताका त्याग करना और ज्ञानानन्द स्वरूपमें मग्न होना, यह हम आपका कर्तब्य है। यह शरीर जो मिला है तो इसे पाकर हम कुछ ज्ञान करें और अपने जीवनको सफल करें। दूसरा है अन्यायका त्याग। अन्याय किसे कहते हैं? जो बात अपनेको बुरी लगे वह बात दूसरे पर करें उसका नाम है अन्याय। कोई हमारा दिल दुखाये तो हमें बुरा लगता है, तब फिर हम किसी दूसरेका दिल दुखायें तो अन्याय होगा। कोई हमारे बारेमें झूठ बोलता, निन्दा करता है तो हमको बुरा लगता है, तो हम किसीके बारेमें झूठ बोलें, निन्दा करें तो वह अन्याय कहलाता है। कोई हमारा धन हर ले जाय तो हम दुःखी होते हैं, तो कोई किसी का धन हरे तो वह अन्याय कहलाता है। कोई परस्त्रीपर कुदृष्टि करे, ऐसा कोई अपनी स्त्रीपर तो नहीं सह सकता ना। तो कोई किसी परस्त्री या पर पुरुषपर कुदृष्टि करे तो यह अन्याय है। तृष्णा परिग्रह की लालसा अधिक रखना यह तो अपने आपपर अन्याय है और दूसरेपर अन्याय है। अगर हम

परिग्रह जोड़कर रख रहे तो इसके मायने यह है कि दूसरोंके भोगमें न आ सके तो वह अन्याय हुआ ना। जो भगवान महावीरके सिद्धान्तमें कहा है वह सिद्धान्त आजकलके लोग मानने तो लगे। मुखसे तो कह बैठते हैं मगर, पालन नहीं करते। समाजवादकी बात सब कहते, पर करते कोई नहीं, खुद तो विदेशी बैंकोंमें अपना खाता खोले रहते, और धनार्जन करते रहनेका अपना मुख्य उद्देश्य बनाये रहते, तृष्णामें पड़े रहते। तो इस परिग्रहकी तृष्णामें न बढ़ें, तृष्णा अपने लिए न्यायकी बात नहीं है। तीसरी बात यह है कि अभक्ष्य पदार्थोंको न खायें—जैसे–अंडा, मांस, शराब, गोभीका फूल, शहद आदि। ऐसी अभक्ष्य चीजोंका त्याग होना यह एक अपनी पहली बात है। तभी हम जैन कहलानेके पात्र हैं। तो यों अभक्ष्यका त्याग करना यह एक अपना सद्व्यवहार है। तो ऐसे व्यवहारमें जो रहता है उसपर व्यसन, आपत्ति, खोंटी संगति ये सब असर नहीं कर पाते और ऐसा सुरक्षित रहकर हम ज्ञानके मार्गमें लगें तो हम अच्छी तरह आगे बढ़ सकते हैं। इससे अपना व्यवहार सही रहे और ज्ञान-स्वरूप भगवानकी पूजा, उपासना, आराधना बनी रहे, इसमें अपना कल्याण है।

९८—ज्ञानरमणका लक्ष्य होनेपर ज्ञानरमण न होनेके कालमें साधुवोंके आवश्यक कृत्य—

व्यवहरणनय प्राक् पदवीमें हस्तावलम्ब है। साधुदशा होनेपर भी जब तक ज्ञानरमणकी स्थिति नहीं होती तब तक साधु जनोंके षट् कर्तव्य हस्तावलम्ब है। समता वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय व कायोत्सर्ग ये छह साधुवोंके आवश्यक कृत्य हैं। यहाँ आवश्यकका अर्थ है अवश पुरुषोंके कर्तव्य। अवश उन पुरुषोंका नाम है जो इन्द्रिय और मनके विषयोंके वश नहीं है। ऐसे अवश साधु-जनोंके ६ कर्तव्य हस्तावलम्ब हैं। रागद्वेष न कर साम्यभाव धारण करना समता है। मन वचन कायसे प्रभुके प्रति नम्र होना वंदना है। प्रभुके गुणोंका गान करना स्तुति है। लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित करना प्रतिक्रमण है। प्रभुकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे चले आये ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंका, वचनोंका अध्ययन मनन करना स्वाध्याय है। शरीरसे ममत्वका त्याग कायोत्सर्ग है। इन आवश्यक कृत्योंको करते रहनेसे साधु अज्ञानवासनाके शिकार नहीं हो पाते, प्रत्युत ज्ञानरमणकी पात्रता प्राप्त करते हैं।

९९—तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें व्यवहरणनयकी हस्तावलम्बता—

तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें परमार्थ तो अखंड नित्य अंतःप्रकाशमान एकत्व विभक्त सहज चित्का प्रकाश है। उसकी उपलब्धिके लिये जिन्होंने अपना कदम रखा है उन पुरुषोंके लिए प्राक् पदवीमें व्यवहरणनय हस्तावलम्ब है। यहाँ जितना कथन है वह सब व्यवहरणनय है और जिस अखण्ड तत्त्वको लक्ष्यमें लेनेके लिए व्यवहरणनयने निर्देश किया है वह परमार्थ है। यह व्यवहरणनय नव तत्त्वसे विशिष्ट पदार्थका प्रतिबोध कराता है। नवतत्त्वकी संततिका उपयोग अशुद्ध द्रव्यका प्रतिबोधक है वह शुद्धताका साधक नहीं, किन्तु शुद्धताके साधक शुद्धनयकी पात्रता बनाये रखनेमें उपयोगी है अतः व्यवहरणनय प्राक् पदवीमें हस्तावलम्ब है।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः, पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं, तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्यायमेकोऽस्तु नः ॥६॥

१००—नवतत्त्वसंतति—

हम आप सब जाननहार वस्तु हैं याने निरन्तर जानते रहते हैं, कोई भी स्थिति हो, सदा जाननेका काम तो चलता ही रहता है। अगर जाननेका काम सतत न चलता होता तो ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कुछ महसूस न हो पाते। जब अशुद्ध अवस्था है तो ये कषायें अनुभवमें आती हैं।

तो जाननहार है तब ही तो अनुभवमें आतीं। अचेतन चीजमें क्रोधादिक कैसे हो सकते हैं? तो इस तरह भी परख लें कि हम जाननहार पदार्थ हैं और इस समय क्या हालत हो रही है, हम आप संसारी जीव परतंत्र हैं, बंधनमें पड़े हुए हैं। शरीरका बन्धन है, अनेक प्रकारकी उपाधियाँ उत्पन्न होती हैं। एक दूसरेका स्नेह बन्धन, अपना मानना, नाता रखना, इनके बन्धनमें हैं। तो ये सब बंधन हुए क्यों? जब हम एक जाननहार पदार्थ हैं, जानते रहें बस, बंधनमें हम क्यों आ गए और क्यों इन जीवोंको बंधन अनेक ढंगसे हो रहे हैं, विकारका बंधन सबसे विकट बंधन है। स्नेहका बंधन, रागका बंधन बहुत कटुक बंधन है। यहाँ जो कोई मनुष्य किसी मनुष्यके आधीन नजर आता है तो इन रागादिक भावोंके कारण ही आधीन नजर आता है। एक गाय अपने छोटे बछड़ेके आधीन बन जाती है, उस बछड़ेको कोई मनुष्य ले जाय तो वह गाय भी वहाँ पहुंच जाती है। तो देखनेमें तो कोई बन्धन नहीं, पर बंधन न होता तो गाय उस बछड़ेके पीछे-पीछे क्यों फिरती? तो वह बन्धन है स्नेहका, प्रीतिका। तो हम आप लोग शरीरके बन्धनमें हैं, शिकारके बन्धनमें हैं। यह बंधन लग क्यों गया, इसका कारण है कि इस जीवके साथ कोई दूसरी विपरीत चीजका सम्बन्ध है। सम्बन्ध होनेसे इस जीवमें विकार हुए, विषमतायें आयीं। तो वह दूसरी चीज है कर्म। जीव और कर्म इन दो का ही यह संघर्ष है कि जो ऐसी ऐसी स्थितियाँ बन रही है। हम जीव हैं और हमारे साथ कर्म लगे हैं। तो जब जीवके साथ कर्म लगे हैं तो ये कैसे लग गए। इसमें कर्म आते हैं तब लगते हैं तो बस इसी बुनियादपर ये तत्त्व बन गए। जीवमें कर्म आये तो इसे कहते हैं आश्रव। जीवमें आये हुए कर्म बँध गए तो इसे कहते हैं बंध, और जीवमें कर्म न आ सकें, कर्मोंके आनेका निरोध हो जाय तो इसे कहते हैं संबर और जीवमें जो पहले कर्म आ चुके थे, बँध गए थे उनका झड़ जाना सो निर्जरा और जीवसे कर्मोंका बिल्कुल झड़ जाना, खालिस जीवका रह जाना इसका नाम है मोक्ष। और इसके समर्थक दो और बंधन हैं—पुण्य और पाप। जो कर्म आये थे वे कोई पुण्यरूप होते हैं कोई पापरूप। तो इस प्रकार ये ९ तत्त्व हैं। लेकिन जीव और कर्ममें प्रत्येकमें भी ९ तत्त्व हैं जो खुदके खुदमें है।

१०१—नवतत्त्वसंततिको छोड़कर पूर्णज्ञानघन अन्तस्तत्त्वके दर्शनकी ओर लगनेका संकेत—

इन ९ तत्त्वोंमें जीवको तो कुछ बोल पाते हैं, पर ९ तत्त्वोंसे पृथक् स्वरूपमें अपनेको नहीं देख पाते। जैसे यहाँ जो पशु, मनुष्य आदि दिख रहे उनकी खूब पहिचान है कि ये जीव हैं। कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी ये जीव है, यह बात तो बड़ी जल्दी समझ लेते हैं, तो जो जीव और कर्मके बन्धनसे शरीर मिला है उन शरीरोंमें ही तो जीवकी खोज की है कि यह जीव है, पर शरीरके बिना जीवका जो असली स्वरूप है उस रूपसे तो कोई खोज नहीं कर रहा। शरीरधारीको देखा और मान लिया कि यह जीव है, पर उसमें जो शरीरसे निराला वास्तविक एक जीव पदार्थ है उसे तो नहीं कोई पहिचान रहा। जीव और कर्मका बंध है उसे खूब समझ रहे। चर्चा होती है कि जब सम्यग्ज्ञान हो जाता है तो जीवके संबर होता है। संबर दशामें जीवको जाना है। कर्म झड़ रहे, तपश्चरण हो रहा उस दशामें जीवको जाना है और जीव मुक्त हो गया, सिद्ध हो गया, अनन्त चतुष्टयमय विराजमान है उस दशामें जीवको जाना है। पुण्य पापके फलको देख रहे हैं, पुण्य पापको देख रहे हैं, तो इस तरह लोग अगर जीवके बारेमें कुछ समझ बनाते हैं तो इन ९ तत्त्वोंकी संततिमें समझ बनती है पर इन ९ तत्त्वोंसे हटकर केवल एक चैतन्यप्रकाश है उसकी दृष्टि नहीं बनाते। तो यहाँ आचार्य यह बतला रहे हैं कि ९ तत्त्वोंमें लगे हुए जीवको देखा तो वह तो सम्यक्त्वका रूप नहीं है, परिचय जरूर है,

मगर श्रद्धा कोई ऐसी बना ले कि जो पशु है सो ही जीव है, जो मनुष्य है सो ही तो जीव है, ऐसी श्रद्धा बन जाय तो उसके सम्यक्त्व नहीं, मिथ्यात्व है, क्योंकि उसने इन पर्यायोंको ही जीव मान लिया है। कोई मानता यह पुण्यवान है ऐसा कोई जीव है, जो पापयुक्त है ऐसा कोई जीव है याने ९ तत्त्वोंमें किसी तत्त्व रूप ही जीव समझता, ऐसा श्रद्धान रहे तो सम्यग्दर्शन नहीं कहलाता। मोक्ष तक को भी कोई समझे कि लो कर्मोंसे छूट गया जीव, ऐसा जीव होता है जो कर्मोंसे छूटा है और मुक्त है, ऐसा ही पर्यायके ढंगसे समझे तो सम्यक्त्व नहीं है, यह सब श्रद्धाकी बात कह रहे हैं। श्रद्धामें यह रहे कि मैं आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानानन्दमय हूँ, सहज ज्ञानानन्दमय हूँ, अपने सत्त्वके कारण ही ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, अन्यरूप नहीं, अन्यके संयोगरूप नहीं हूँ, ऐसे निराले ज्ञानानन्द स्वरूपको जो मान ले कि यह मैं हूँ और ऐसी ही दृष्टि बनाये और अनुभूति जगे तो समझो कि वह सम्यग्दर्शन है।

१०२—अहितमय मिथ्यात्वभावको छोड़कर अन्तः परमार्थदर्शनकी भावना—

भैया ! सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक जीवका कुछ पार नहीं पड़ता। मिथ्यात्वके वश ही तो यह जीव संसारमें रुल रहा। शरीरको माना कि यह मैं हूँ तो उसे शरीर मिलते रहते हैं और शरीरोंके मिलते रहनेका ही नाम संसार है, जन्म-मरण है। तो पहले तो यह निर्णय बनायें कि हमको क्या शरीरसहित ही रहनेमें सार है या शरीररहित रहनेमें सार है ? शरीरसहित रहनेमें तो सार यों नहीं कि एक तो शरीरका ही भरोसा नहीं कि मनुष्यका ही शरीर मिलेगा। यह तो भावनाके अनुसार बात है। जैसे भाव होते वैसा ही कर्मबंध होता, वैसा ही फल प्राप्त होता। तो यह ही निश्चय नहीं कि मनुष्य मर कर मनुष्य बन भी जायगा क्या ? और प्रायः करके नहीं बनता। मनुष्य एक उत्कृष्ट स्थिति है, उत्कृष्टभव यों ही सुगमतया नहीं मिलता, बड़ा दुर्लभ है। तो ऐसा मानना कि मैं मनुष्यादिक हूँ, कुछ हूँ, किसी पर्यायरूप माने तो शरीररूप जब अपनेको माना, तो इसको शरीर मिलते रहेंगे। अब शरीर कैसा मिलेगा ? सो संसारके सब जीवोंको देखकर समझ लो कि ऐसे ऐसे शरीर मिलेंगे, कीट पतिंगा, स्थावर, मनुष्य आदि। इन शरीरोंमें प्रीति रहे, श्रद्धा रहे कि जो यह शरीर है सो मैं हूँ तो उसका फल यह है कि उसको शरीर मिलते रहेंगे। अगर किसीका यह प्रोग्राम हो, यह मनमें हो कि मैं तो शरीररहित रहूँ। शरीर तो कलंक है, शरीर तो एक कष्टका साधन है, उस शरीरसे निराला केवल अपने स्वरूपमात्र रहूं ऐसी जिसकी भावना है, ऐसा ही जो अंतरंगमें देखता है उसको ऐसी स्थिति प्राप्त होगी कि उसके शरीर न होगा याने सिद्ध भगवान हो जायगा। तो जैसे एक शरीरकी बात कही वैसे ही सारे ही तत्त्वोंकी बात समझो। जो जीवको इन रूपोंसे देखता है उसके है मिथ्यात्व और जो जीवको अपने असली स्वरूपसे देखता है उसके है सम्यक्त्व। जैसे एक यह चौकी है अब कोई चौकीको समझता है कि यह लाल है, चौकी लाल ही होती है, इसका स्वरूप ही ऐसा है तो यह बात सही तो न रही। लाल होनेपर भी इसके अन्दर चौकी असलमें कैसी है उसको ज्ञानसे ही जानेगा कोई, आँखोंसे न जानेगा। जैसे देवदारू लकड़ीकी चौकी है, चीड़की चौकी है उस सबका इसको भान है कि चौकीका क्या रूप होगा, क्या मुद्रा होगी। तो वह है उसका असली रूप, और जो यह वार्निसका रंग लग गया, रंगीली बन गई, ऐसा रंगीली देखा और चौकीको वैसा ही माना तो यह है उसका एक विपरीत रूप। तो ऐसे ही जीवको कर्मसहित, शरीरसहित, कषायसहित अथवा कुछ मंदकषाय ऐसे नाना रूपमें देखें कि यह है जीव, ऐसी श्रद्धा बनाये कोई जीव के बारेमें तो उसके है मिथ्यात्व। तब फिर कैसी श्रद्धा बनायें कि जिसे कहेंगे सम्यक्त्व, यह बात इस

कलशमें कही गई है ।

१०३—अपने आपको अपने एकत्वमें याने स्वरूपमें नियत निरखनेका संदेश—

प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने स्वरूपमें ही निपत रहता है । कोई सी भी चीज हो, परमाणु हो, जीव हो, अपने स्वरूपमें ही नियत रहता है अर्थात् अपना ही स्वरूप लिए हुए रहता है, दूसरेके स्वरूपको नहीं ले सकता । जैसे मेरा स्वरूप ज्ञानमात्र है तो मेरे स्वरूपमें तो स्वरूप ही रहेगा, किसी दूसरी चीजका प्रवेश न हो जायगा । मैं और कुछ हो जाऊँ तो मैं ही कहाँ रहा, फिर वह भी कुछ हो जाय तो वह भी कहाँ रहा । तो अन्दरमें इस तरह देखना कि मैं अपने एकत्व स्वरूपमें नियत हूँ, मैं अन्य-अन्य रूप नहीं बन रहा, ऐसी दृष्टि बने, श्रद्धा बने तो वह है सम्यग्दर्शन । अपने स्वरूपमें नियत आत्मतत्त्वका जो अवलोकन है सो सम्यग्दर्शन है । क्या बात आयी कि अपनेको मनुष्यके रूपमें न देखें या और और बातें जो सोच रखा है, मैं ऐसी इज्जत वाला हूँ, ऐसे परिवार वाला हूँ, अमुक गाँवका हूँ आदिक इन सब रूप मत देखें, क्योंकि इनमें अगर श्रद्धा रहेगी तो यह फसाव है, संसारमें रुलाने वाला है । तो इन रूपोंमें अपनेको न देखें । अपनेको इस रूपमें देखें कि मेरा स्वरूप तो एक चैतन्य है । जो चेत रहा है उसमें आभा है । तो जो चेतनामात्र है सो मैं हूँ, ऐसा अपने एकत्वस्वरूपमें नियत आत्माका दर्शन करना सम्यग्दर्शन है ।

१०४—व्यापक अन्तस्तत्त्वके दर्शनका अनुरोध—

अपने आपको और, फिर किस तरह देखना ? जो व्यापक है याने मैं वह हूँ जो मेरी पहली अवस्था है और इस समयकी अवस्था है, इन सब अवस्थाओंमें जो रहता है वह मैं हूँ । जैसे मनुष्य कौन है ? जो बचपन, जवानी और बुढ़ापा इन सब अवस्थाओंमें एक रहे उसे कहते हैं मनुष्य । खास मनुष्य, शुद्ध मनुष्य, असली मनुष्य क्या आँखोंसे दिखता है ? नहीं, क्योंकि आँखोंसे ती कोई बालक जानता और कोई बूढ़ा जानता । इन किन्हीं अवस्थाओंका नाम तो मनुष्य नहीं है । मान लो आप बचपनकी अवस्थाको मनुष्य मानते हैं तो बचपनकी अवस्था बदल जानेपर जवान हो गया तो बताओ वह मनुष्य खतम हो गया क्या ? खतम तो नहीं हुआ । तो जो बचपन, जवानी और बुढ़ापा इन तीनों अवस्थाओंमें एक रूप रहे उसे कहते हैं मनुष्य । लेकिन इस तरहकी शैलीमें एक शुद्ध मनुष्यकी पहिचान होना कठिन हो रहा है, फिर मनुष्य भी एक पर्याय है, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव ये सब पर्यायें हैं, तो इन सब पर्यायोंमें जो रहता है, जो एक आधार है उसे कहते हैं जीव । जीव व्यापक है, इन सब दशाओंमें रहने वाला है, तो ऐसे व्यापक अपने आपके स्वरूपको देखना सो सम्यग्दर्शन है । ये सब बातें शुद्धनयसे समझी जायेंगी, व्यवहारनयसे नहीं । व्यवहार तो जोड़ मेलकी बात करता है और शुद्धनय केवल एक द्रव्यकी बात करता है । तो इस शुद्धनयकी स्थितिमें गुजरते हुए हम आत्माको पहिचान रहे हैं ।

१०५—अपने आपको सहज पूर्णज्ञानघन मात्र निरखनेका अनुरोध—

कैसा है यह आत्मा जिसका दर्शन करनेसे सम्यग्दर्शन होता है ? यह पूर्ण ज्ञानघन है । इस जीवके स्वरूपमें क्या बात बसी भई है ? ज्ञान ही ज्ञान ठोस । याने ज्ञान ही ज्ञानसे रचा हुआ यह जीव है । तो अपने आपको इस तरह जो कोई निरखेगा अन्दरमें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, अमूर्त ज्ञान ज्योति, केवल जाननमात्र ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार जो अपनेको परखेगा उसके सम्यग्दर्शन होता है । जीवका जो वास्तविकस्वरूप है, जो परके आश्रय नहीं है, परके सम्बन्ध बिना है ऐसा स्वतन्त्र

आत्मस्वरूपका अवलोकन करना इसको कहते हैं सम्यग्दर्शन। कैसा अपने आपको देखें कि अपने स्वरूपका अनुभव बने ? यों देखें कि मैं अन्य सब द्रव्योंसे निराला हूँ, अणु-अणु मात्रसे भी निराला हूँ। घर गृहस्थी वैभव धन ये तो सब प्रकट जुदे हैं, पर इनके सम्बंधमें जो विचार विकार उठते हैं उनसे भी मेरा स्वरूप जुदा है। मैं सबसे निराला हूँ। देखो यहाँ मोह न ठहरेगा। जो समस्त द्रव्यों से निराला अपने आत्माको माने उसके मोह नहीं रह सकता। जैसे जगतके समस्त जीव मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, निराले हैं वैसे ही निराले ये कुटुम्बी परिजन लोग हैं, इनसे कोई सम्बंध ही नहीं बन सकता। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि एकसे दूसरेमें कुछ नहीं जाता। तो ऐसा निराला अपने स्वरूपको देखें तो वहाँ ममता नहीं ठहर सकती। और, ममता नहीं तो जीवका भला हो जायगा। यह ममता व्यर्थकी ममता है। चार दिनका संयोग है, फिर कुछ नहीं है इसका। अथवा चार दिन बाद यह महसूस करेगा कि मेरे पास कुछ नहीं रहा। तो अभीसे क्यों नहीं मानता कि मेरे पास कुछ और है ही नहीं। ज्ञानस्वरूप है सो ही मेरा। अगर इस हालतमें भी जब कि सब समागम मिले हुए है, मान लें कि मेरा यहाँ कुछ नहीं है, मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा तो एक मात्र ज्ञानस्वरूप है तो उसका मोक्षमार्ग बन गया और जो मिले हुए स्त्री पुत्रादिक हैं उनमें ममता रखें कि ये ही मेरे हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है, तो इससे संसारमें रुलना मिलता है। रहना तो कुछ है नहीं, जो अपनेको इनसे न्यारा मान ले वह तो हो जायगा पार, और जो इन पदार्थोंमें अपनेको मिला हुआ मान ले वह संसारमें रुलेगा। तो अपने आपको कैसा निरखें, उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह बात इस कलशमें बतायी गई है।

१०६—द्रव्यक्षेत्र काल भावसे अपनेको पहिचानकर अभेद भावमें अपनेको अनुभवनेका संदेश—

देखो किसी भी पदार्थके पहिचाननेके चार तरीके होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। जैसे इस चौकीको पहिचानना है तो द्रव्यकी दृष्टिसे यह चौकी क्या है ? यह इतनी लम्बी चौड़ी पिण्डरूप। यह चौकी है यह जाना और काठके क्षेत्रसे चौकी कैसी है ? तो कहेंगे कि जो १।। फिट चौड़ी है, १।। फिट लम्बी है, एक फिट ऊँची है, इतनेमें जो फैल रही है वह है चौकी। यह क्षेत्रकी ओरसे उत्तर है और कालकी ओरसे क्या उत्तर है ? परिणतिकी ओरसे कि चौकी कैसी है, पुरानी है, लुढ़कती है, कुछ भी स्थिति बनती है उसको बताना यह कालकी ओरसे चौकीका उत्तर है। और भावकी ओर से क्या उत्तर आयगा कि इस चौकीमें रूपशक्ति है, रसशक्ति है, गंधशक्ति है, स्पर्शशक्ति है, मूर्तिक है, जो-जो कुछ गुण हैं पुद्गलमें, उनको देखकर बताये तो यह हुआ भावकी दृष्टिसे चौकीका परिचय। हर एक चीजका परिचय आपको चार बातोंमें मिलेगा। किसी मनुष्यसे पूछते हैं कि आप कौन हैं, कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, और उसका कोई प्रशंसा वाला गुण भी जानना चाहते हैं तो परिचय बन जाता है, ऐसे ही जीवका परिचय करना हो तो इस जीवको शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे देखना। जैसे द्रव्यसे जीव क्या है ? तो कहेंगे कि सब गुण और पर्यायोंका पिण्ड। जिसमें ज्ञानशक्ति है, दर्शनशक्ति है, चारित्रशक्ति है और आनन्दशक्ति है, और इसकी प्रतिसमय परिणतियाँ हैं। क्या जान रहे हैं, क्या भोग रहे हैं तो ऐसा गुण पर्यायोंका जो पिण्ड है वह जीव है, ऐसा देखा द्रव्यदृष्टिसे। क्षेत्रदृष्टिसे जीव क्या है कि इस समयमें हम आपने जितना शरीर पाया है और जितनेमें यह फैला है बस उतने ही क्षेत्रमें हम आपका जीव फैला है। यह हुई एक क्षेत्रकी दृष्टिसे जीवकी पहिचान। कालकी दृष्टिसे जीवकी क्या पहिचान है ? जो इसकी परिणति बन रही, कषायवान बन

रहा या शान्त हो रहा, जो भी इसकी परिणति बन रही उस परिणतिरूपसे जीवको देखना है। और भाव दृष्टिसे—वह ज्ञानगुण वाला है, दर्शनगुण वाला है, आदिक। और, एक अभेदभावसे देखें तो एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप। तो ऐसा एकत्वमें नियत विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपको देखना, अनुभवना सो सम्यग्दर्शन है, अथवा यों कहो कि जितना यह आत्मा ज्ञानमात्र अपनी अवस्थावोंमें व्यापक, ज्ञानसे ठोस अन्य सबसे निराला, ऐसा अपने आत्माका जो दर्शन है सो सम्यक्त्व है और इतना ही मात्र आत्मा है।

१०७—शुद्धनयसे अन्तःस्वरूपको निरखनेकी भावना—

यहाँ यह भावना बनावें कि हे प्रभो ९ तत्त्वोंके रूपमें ही जो जीवको निरखते वह निरखना मिथ्यात्व है, यह तो छूटे और एक शुद्ध आत्मतत्त्व मेरी अनुभूतिमें रहे। मोटे रूपसे यह बात समझें कि जीवको पशु पक्षी मनुष्यादिक रूप देखें तो मिथ्यात्व है और जीव को केवल चैतन्यमय स्वरूपमें देखें तो सम्यक्त्व हुआ। यहाँ जितना जो कुछ अपने आपपर वीतता है वह अपने ज्ञान द्वारा बीतता है। हम कैसा ज्ञान बनायें कि हमको संसारमें रुलना पड़े और कैसा ज्ञान बनायें कि हम इस संसारसे छूट जायें? ये सब बातें हमारी ज्ञान कलापर निर्भर है, इसलिए सम्हाल करना है तो ज्ञान भावकी सम्हाल करना है। बाहरी पदार्थोंका क्या है? पासमें हैं तो क्या, नहीं हैं तो क्या? यह एक बड़ी विपत्ति है कि यह जीव बाहरी पदार्थोंको पाकर उन्हें अपनाता है और उन ही से अपने सुखका निर्णय बनाना चाहता है। यह है जीवको अशुद्ध रूपमें देखना। इसमें शान्ति नहीं मिल सकती, और केवल जैसा है उस रूपसे अपनेको देखें तो वहाँ शान्ति है। तो यही तो बात हुई कि जो जीवको ९ तत्त्वोंके रूपमें देखते, कर्मसहित हैं, कर्म आते रहते हैं सो जीव है। कर्म बँधे रहते हैं सो जीव है कर्म जिसमें नहीं फटकते सो जीव है, जो कर्म बँधे हैं वे दूर हो रहे हैं इस जीवका ऐसा निर्जरास्वरूप है और कर्म बिल्कुल न रहें, एकमात्र जीव रह गया, यह सोचा तो मुक्तिको मान लिया, पर इतने मात्रसे सही बात न आ सकी। मुक्त होनेपर भी कर्मोंसे छूट गया, ऐसा देखें तो अनुभव नहीं बनता कि जीव क्या चीज है। न मुक्तका विकल्प हो, न संसारीका विकल्प हो किन्तु जीवमें जो अपने आपका निजी स्वरूप है वह दिखे तो उसे सम्यक्त्व कहिये।

१०८—ज्ञानघन मात्र रूपमें अन्तस्तत्त्वकी भावना व योजना—

भैया! धर्ममार्ग धर्मपालन कितना सुविधा वाला है, कितना सुगम है। अपने आपको एक सही ज्ञान ज्योति प्रकाशरूपमें अनुभव लिया तो सम्यक्त्व हो गया। और जो अन्य-अन्य पर्यायोंके रूपमें अनुभवे उसके मिथ्यात्व है। तो जीवनमें एक यह ही बात आनी चाहिये कि हे प्रभो, मेरे सम्यग्दर्शन प्रकट होवे। संसारमें तो ऐसा दिख रहा है कि लोग धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठाकी ओर खूब दौड़ लगा रहे है, होड़ मचा रहे हैं, ऐसे इस दुविधा वाले संसारमें रहकर कोई अगर एक अपने को ऐसा अनुभव करे कि मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र हूँ, चेतना बनी रहे, ज्ञान बना रहे, इस ज्ञानका ही मैं कर्ता हूँ, इसीका भोक्ता हूँ ऐसा जो एक अपने आपमें विकार भावको छोड़कर शुद्धस्वरूपकी श्रद्धा बनाये उसके होता है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दृष्टि जीव देवों द्वारा भी पूजा जाता है। सम्यग्दर्शन पूज्य है। नारकी जीव है, सम्यग्दृष्टि, उसपर खूब कुटाई पिटाई भी हो रही फिर भी वह भीतरमें बड़ा तृप्त रहता है। लोग चाहते हैं कि हम सन्तुष्ट रहें, शान्त रहें, पर बाह्य पदार्थोंके सम्बंधसे सुख शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे ईंधनका सम्बंध मिलते रहनेसे अग्नि कहीं सन्तुष्ट नहीं हो

पाती, शान्त नहीं हो पाती, वह तो बढ़ती ही रहती है, इसी प्रकार बाह्य पदार्थोंके सम्बंधसे शान्ति नहीं मिल पाती बल्कि अशान्तिकी ज्वाला बढ़ती रहती है। ये पञ्चेन्द्रियके विषयभूत साधन इस जीवके लिए महा दुःखदायी है। जीवको अपने असली स्वरूपमें देखो। बाहरके विकल्प न बनें, बाहरका लगाव न रहे तो अपने स्वरूपमें तृप्ति हो सकती है। तृप्तिका और कोई दूसरा साधन नहीं। तो देख लो मोक्षमार्ग एक आनन्दकी चीज है। विशुद्ध आनन्द पाना है तो मोक्षमार्गमें अपनेको लगना चाहिए और मोक्षमार्गमें लगना है तो उसका उपाय क्या ? कर्मरहित, शरीररहित, उपाधिरहित, विकाररहित जो मेरा वास्तविक स्वरूप है, जो अन्दरमें ही गुप्त है, प्रकाशमान है उस रूपसे अपनेको अनुभव करें कि यह मैं हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ तो उसकी सारी विडम्बना दूर हो जायगी। ऐसा ही ज्ञानघन आत्मतत्त्व मेरी दृष्टिमें रहे, अनुभवमें रहें, ऐसी अपनी एक भावना योजना होनी चाहिए। अन्तः यह तो ऐसा है ही, था ही, उपयोगमें अनुभवमें यह अन्तस्तत्त्व आवे यह ही है आत्मप्रभुका मिलन। अन्तस्तत्त्व तो परिपूर्ण है, कृतार्थ है, परन्तु मिथ्यात्व परिणामके कारण भ्रान्ति थी वह भ्रान्ति दूर होवे, यही मोक्षमार्गकी प्राप्ति है। यद्यपि नवतत्त्वमें से किसी भी तत्त्ववाली स्थितिमें आत्मा न रहे यह हो नही सकता, वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, फिर भी पर्यायरूपमें अपनेको निरखना मोक्षमार्गमें साधकतम तो है ही नहीं, प्रत्युत बाधक है, संसरणका साधक है। साधकका साध्य शुद्धपना होना है, उस शुद्धपनेका द्योतक शुद्धनिश्चयनय है। तथा मात्र शुद्धत्व स्वरूपका उद्योतक परमशुद्धनिश्चयनय है जिसका प्रायः अपरनाम शुद्धनय है। शुद्धनयसे एकत्वमें नियत, सर्वकालमें व्यापक, द्रव्यान्तरोंसे पृथक् पूर्ण ज्ञान मात्र अन्तस्तत्त्वका दर्शन सम्यक्त्वानुभूतिका साक्षात् कारण है। यह ही शुद्ध तत्त्व मेरे उपयोगमें रहो।

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥७॥

१०९—हमारी स्थिति और कर्तव्य—

अपने आपको चाहिए क्या ? शान्ति। उस शान्तिको पानेके पुरुषार्थमें एक यही मार्ग नजर आता है कि जो अपनी शान्तिका धाम है उसकी ओर लगा जाय। जीव है और यह जीव किसी न किसी अवस्थामें रहता है। ९ तत्त्व जो बताये गए हैं जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। इनमें से कोई न कोई अवस्था जीवकी रहती है। कोई जीव ऐसा न होगा कि इन ९ में से कोई भी अवस्था न हो। कर्मोंसे मुक्त हो गए तो वह हुई मोक्ष अवस्था, संसारमें ज्ञानी आत्मा है तो उसकी संम्बर निर्जरा अवस्था है, और कुछ ज्ञानियोंकी आस्रव बंधकी भी अवस्था है। अज्ञानियोंकी आस्रव बंधकी ही अवस्था है। जीव और अजीव जो मूलमें दो तत्त्व कहे वे यहाँ अशुद्ध जीव रूपमें कहे गये। यहाँ अशुद्धका तात्पर्य सापेक्षतासे है और बहुशः परिणतिसे भी है अन्यथा अश्रव बंध आदिक नहीं बन सकते। वहाँ जीव ही ऐसा सामान्यरूपमें देखा गया जो यों ही पर्याययोग्यता लिए हुए है। तो यह जीव इन ९ तत्त्वोंमें किसी न किसी अवस्थामें रहता है। रहे, रहना ही होगा, किन्तु यहाँ यह ध्यान देना कि हमारा जो यह उपयोग है—ज्ञान, यह किस तत्त्व को विषय करे, किसमें धुन किसमें लगन बनाये, किसमें रमे कि यह उपयोग फिट बैठ जाय ? जैसे जिस जगहका जो पेंच है घड़ीमें या रेडियो आदिकमें, जब उस पेंचको उसी जगह लगाते हैं तो फिट बैठ जाता है और दूसरी जगह लगावें तो वह फिट सा नहीं बैठता। अपना यह उपयोग ज्ञान हम किस विषयमें

लगायें कि यह समरस बने, शान्त बने, निस्तरंग बने, निराकुल बने ? पर्याय तो रहेगी, मगर यहाँ विषयकी बात कह रहे कि वह कौनसा विषय है जिसका ध्यान करनेसे उत्तम समाधि बने ?

११०—अन्तस्तत्त्वके आश्रयणमें शान्तिकी संभवता—

प्रयोग करके परख लेना चाहिए कि हम किसी बाहरी पदार्थमें उपयोग जब लगाते हैं तो यह फिट नहीं बैठता, हट जाता, स्थिर होकर नहीं रहता, एकरस नहीं बनता, इसका कारण क्या है कि मैं हूँ स्वयं कुछ और, विषय बनाया जा रहा परद्रव्य। बनाये जानेकी बात की जा रही है। प्रभु तो तीन लोक तीन कालको विषय करते हैं, बनाते नहीं हैं। वहाँ सहज ऐसा ही प्रतिफलन चलता रहता है, पर यहाँ हम आप जीवोंकी स्थिति ऐसी है कि उपयोग लगाया करते हैं। अच्छा, अब पर द्रव्य न सही, एक स्वकी ही बात है, यहाँ स्वमें जो एक पर्याय है, तत्त्व है, तत्त्वका स्वरूप है, अवस्था है, इन अवस्थाओंपर हम उपयोग लगाते हैं तो उपयोग जमकर नहीं रहता, फिट नहीं बैठता। वह कौन सा तत्त्व है फिर जहाँ यह उपयोग एकरस हो जाय ? जैसे—पानीमें नमक डालते हैं तो वहाँ नमक घुल जाता, एकरस हो जाता ऐसी स्थिति पानेके लिए हमको कहाँ ध्यान देना है ? तो कभी ९ तत्त्वोंका आश्रय, ध्यान, परिचय, परिज्ञान ये सब प्रयोजनवान हैं, क्योंकि ये तीर्थ कहलाते हैं और फिर उस अभेद निर्विकल्प सहज चित्स्वरूपमें जमें, वह तीर्थफल होगा। तो ९ तत्त्वोंमें रहनेपर भी यहचित् अपनी एकताको नहीं तजता अर्थात् सदा रहता है, सर्वत्र रहता है। जैसे आममें रंग पलटता है, सबसे पहले काला था, फिर नीला हुआ, फिर हरा हुआ, फिर पीला हुआ, लाल हुआ, फिर सड़ जानेपर सफेद हुआ, ये सब रंग आममें पलटते हैं तो रंग तो पलटे, किन्तु वह जो पलट है सो काले, पीले, नीले आदिक पर्यायकी है, पर उसमें रहने वाली जो एक रूपशक्ति है वह रूपशक्ति काले रूपमें थी, फिर उसीका व्यक्तरूप हरा, नीला आदिक बन गया। तो जैसे रूपशक्ति सर्वत्र है ऐसे ही इन ९ तत्त्वोंमें जो चिद्रूपता है, चैतन्यशक्ति है, सहज आत्मस्वभाव है वह सर्वत्र है, पर वह ढका हुआ है। यहाँ पर्यायोंमें न अटककर ज्ञानकला है ऐसी कि सीधे अंतस्तत्त्वपर ले जाय तो वहाँ फिर यह सहज आत्मतत्त्व जो शुद्धनयसे प्रकट हुआ है, मायने जो ज्ञान जाननेमें आता है सो यह है ही। मगर जाननेमें नहीं आ रहा था, नवतत्त्वसे ढका हुआ होनेपर भी जाननेमें आये अपना स्वभाव, ऐसा वह स्वभाव हमारे ध्यानका लक्ष्य विषय होना चाहिए।

१११—देहादिमें न अटक कर सीधा ज्ञानस्वरूपको जान लेनेकी ज्ञानकला—

ज्ञानमें ज्ञानकला है ऐसी कि जिसका लक्ष्य बनाया, सीधा उस ही तक पहुँच जाय। जैसे घरमें आप कोई चीज रख आयें संदूकमें, उसके भीतरकी पेटीमें कपड़ेमें बाँधकर, जब यहाँ आप उसका ज्ञान करना चाहते हैं तो वह कहीं नहीं अटकता। सीधा उस ही चीजको देखता है। चाहे बीचमें कितनी ही चीजें आड़े आये, परंतु लक्ष्य होनेपर उन सबको पार करके उस लक्ष्यपर पहुँच जाता है। तो हमें समझना क्या है ? अपने आपका सहज स्वरूप। सहज स्वरूपके मायने क्या ? जो केवल मैं आत्मा होऊँ। केवल तो है ही, अब भी है मगर संसर्गमें है, उपाधिमें है, उस केवलमें जो स्वभाव है वह मैं हूँ, ऐसा अपने आपका ध्यान देना। जो भी चीज होती है उसका अपने आप निरपेक्ष स्वरूप होता है। किसी पदार्थकी सत्ता किसी दूसरे पदार्थकी दयापर नहीं रहती। जो है स्वयं है, निरपेक्ष है, अपने आप है, और उसका स्वरूप स्वभाव होता है, पर यह जीव और पुद्गलकी ऐसी स्थिति है कि वह अशुद्ध हो तो अन्य उपाधिका सन्निधान पाकर वह विकार परिणामसे परिणत होता है, मगर

जब स्वरूप देखा तब तो उसके कैवल्यका विचार करना होगा। जैसे यहीं एक चौकी है तो चौकीका असली रूप क्या है ? आज तो उसमें रंग रोगन लगा है, यहाँ इसका असली रूप ढका है। भले ही ढका रहे, पर इसका मूलमें कुछ असली रंग है कि नहीं ? जैसे जब बढ़ई बनाता है उस समयकी जो चौकीकी स्थिति है वहाँ उसका असली रूप है। अब उसपर रंग रोगन आदिक जो जमा, वहाँ उसका असली रूप ढक गया। इस ढकी स्थितिमें भी क्या हम इस ज्ञानके द्वारा इसका असली रूप सामने नहीं ले सकते अपनी बुद्धिमें ? ऐसे ही हम अपनी बुद्धिमें अपने सहज स्वरूपको अपने भीतरमें जान सकते हैं।

११२—स्वच्छ उपयोगकी कर्मपरिहरणस्वभावता—

यद्यपि हम आप बहुत फसे हुए हैं, शरीरके बन्धनमें, कषायके बन्धनमें, उपाधिके संसर्गमें ऐसी स्थिति होनेपर भी अगर सुमति जगे, पौरुष करें, आखिर ऐसी दृष्टि, ऐसा ज्ञान, ऐसा अभ्यास बनायें तो यह ही अभ्यास तो अनन्तानुबंधीका छेदन करनेका निमित्त बन जाता है। यद्यपि ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम हुए बिना सम्यक्त्व नहीं जगता, ये उसके निमित्त कारण हैं। मगर उनके क्षय क्षयोपशम बने, यह भी तो एक नई बात है। उसका भी तो कोई निमित्त होता है। तो थोड़ी सद्बुद्धि जगी, ज्ञानाभ्यासमें लग गए, दृष्टि बनी रहे, अभी सहज नहीं बन रही, जबरदस्ती बन रही, कुछ हर्ज नहीं, कुछ ध्यान तो जग रहा, यह ही हमारी दृष्टि सविधि बनी कि उन कर्मोंमें हीनता आनेका निमित्त बन जाती है। प्रायः जब चाहें, जब ख्याल आये, जब अवसर बने, हमें अपने को ऐसा अनुभवना चाहिये कि मैं सारे जगसे निराला, देहसे निराला, कर्मसे निराला, कर्मके उदय होनेपर जो प्रतिफलन होता है उससे निराला और प्रतिफलनमें जो उपयोग लगता है, बुद्धि जमाता है, आत्मसात् करता है, उसे अपनाता है, उसमें कुछ फसता है, ऐसे फसावसे भी निराला मैं सहज चैतन्यस्वरूप हूँ। ऐसा इतना अधिक अंतः प्रवेश करके इस स्वरूपका ध्यान रखते हैं तो यही एक ऐसा बल है कि जो हम आपको सन्मार्गमें सुगमतया ले जाता है। देखिये—ये सब बड़े कामकी बातें हैं। जैन शासनमें आचार्य संतोंने जो-जो कुछ बखाना है वह सब प्रयोजनवान है। इस सब वर्णनसे हमें आत्म-दृष्टि पानेका अवसर मिलता है। परंतु लक्ष्य हमारा सही बने, थोड़ा बने, अंदाजा बने, अभ्यास बने फिर कभी वह ऐसा फिट बैठेगा, उसमें ऐसा जम जायगा कि वह एक समरस होकर अद्भुत आनन्दका अनुभव करेगा।

११३—स्वोन्मुख उपयोगकी महती ऋद्धिसिद्धिरूपता—

उपयोग अपने आपके सम्मुख बने इसका बहुत बड़ा प्रताप है। लोग तो बाहरी वैभवको ऋद्धिसमृद्धि समझते हैं। विश्वमें ऐसे लोग बहुत हैं जिनको यह श्रद्धा है कि यह धन वैभव, यह इज्जत प्रतिष्ठा, ये ऊँचे-ऊँचे राज्य पद, ये ही हमारे सर्वस्व हैं। इनके बिना मैं कुछ नहीं हूँ, ऐसी श्रद्धा रखने वालों को यदि ऐसी चीजें न मिल पायें तो उनको मन ही मन बड़ी बेदना रहती है। लोकके बड़े-बड़े पद जैसे मिनिस्टर, राष्ट्रपति, संयुक्तराष्ट्रसंघके उच्चपदाधिकारी आदि बन जाना, या चक्रवर्ती तक हो जाना आदि ये सब बाह्य बातें हैं, औपाधिक हैं, मायारूप हैं, ये कोई परमार्थ नहीं हैं, और मेरे लिए कोई हितकी चीज नहीं है। मेरा हित तो अपने आपके स्वरूपका बोध और उसमें रमण है, इसका इतना उत्कृष्ट फल है कि इससे सिद्धपद मिल जायगा। जो जो ढंग बनता है इस युक्ति पूर्वक उसका इतना ऊँचा फल है। ये बाहरी प्रसंग कोई शान्तिधाम नहीं, बाह्य चीजें हैं, आपके घरमें

रह रही हैं, वैभव है, परिजन है, सब कुछ है पर ये सब मिट जाते हैं। ज्ञानपूर्वक रहें तो अपना कुछ मिटता नहीं, अज्ञानपूर्वक रहें तो उससे इस आत्माका भला नहीं होता। पुण्य पापके अनुसार जब जो प्रसंग होना है होता है, मगर वहाँ ज्ञानदृष्टि रहे तो आपको ज्ञानदृष्टिका फल मिला ही, अगर अन्तरात्माका भी काम चल रहा है आत्माका अन्तः पौरुष रहे ऐसा तो वह बड़ा अच्छा है। हर स्थितिमें,हर अवसरमें इस जीवका शरण है तो अपना यह सहज स्वरूप। इसकी दृष्टि करना यह ही मात्र शरण है। जब इसमें नहीं रह पाते याने ज्ञान तो गए, लक्ष्य तो हो गया, मगर ऐसी स्थिति कभी-कभी बन पाती है,यदि उसमें स्थिर नहीं रह पाते, तो भी उस आनन्दानुभूतिकी स्मृतिका बड़ा प्रभाव है। वहाँ तीन बातें हैं—एक तो अनुभूतिके स्मरणमें ही बहुत आनन्द बसा हुआ है। आनन्दानुभूति जगे, कभी जगे तो वहाँ जो अद्भुत आनन्द पाया था, स्मृतिमें उसके ध्यानमें अपनेपर गुजरी ना बात तो उसके स्मरणमें ही बहुत बड़ा प्रताप है और फिर व्यवहारसंयम, व्यवहारचारित्र, व्यवहारकी बात उसको यों आवश्यक हो गई कि जब उस समाधिमें नहीं टिक सकते, अनुभूतिमें नहीं रम सकते तो ऐसी स्थितिमें ऐसा उपयोग, यह मन पहले अज्ञानमें किए हुए संस्कारके कारण यह कषायकी ओर उन्मुख हो जाता है। तो उसकी दवा है व्यवहार-चारित्र। इसके बिना बतलाओ फिर कैसे प्रगति हो? समाधिमें रत न रह सके उस समय इस जीवका क्या फर्ज हो जाता है? जिसको अपने अन्तःकी धुन लगी है उसकी स्थिति व्यवहारमें, आचार में ठीक ही बनेगी, जिससे कि इस समाधिकी पात्रता बनी रहे। तो यह हमारा अन्तः स्वरूप जो अनादिसे हो अन्तः बसा हुआ है, यद्यपि ढका हुआ भले ही है, मगर मिट तो नहीं गया। चीज तो है जिसने अपनेमें उसका अनुभव किया, वह अतुल ऋद्धिसिद्धिसम्पन्न है।

११४—आत्माकी सुधमें आत्मोपलब्धि—

अनादि अनन्तस्वरूप, सहजस्वरूप चैतन्यमात्र प्रतिभासस्वरूप एक ज्ञानको लेनेका ही नाम आत्मामें उपलब्धि है। किसीके हाथमें कोई छोटा स्वर्णका डला है या कोई आभूषण मुट्ठीमें ही लिए है और कभी उसे भूल हो जाय कि पता नहीं कहाँ रख दिया वह आभूषण, तो वह अपने हाथसे बकस खोलकर इधर उधर ढूढ़ता फिरता है, पर उसे वह कहीं नहीं पाता। हैरान होकर वह बड़ा दुःखी हो जाता है। कुछ देर बाद कदाचित उसे याद आ जाय और वह आभूषण उसे खुदकी ही मुट्ठीमें मिल जाय तो वह बड़ा खुश होता है। देखिये—जब तक उसे नहीं मिल रहा था वह आभूषण तब तक उसकी कितनी दयनीय दशा थी। वह कितना अपनेको दीन हीन गरीबसा अनुभव कर रहा था, और वही भूल जब उसकी मिट जाती है, सही स्मृति ही जाती है, उसको खोई हुई चीज मिल जाती है तो वह बड़ा आनन्द मानता है। ठीक ऐसे ही मेरा यह सहजस्वरूप, यह मेरा सर्वस्व कहीं बाहर नहीं गया है, कहीं मिटा नहीं है, अनादिसे है, मगर जब उसको भूले हुए हैं तो वह नहीं के बराबर हैं, मेरे उपयोगमें नहीं है। वह तो जिस जिस पर पदार्थमें उपयोग फँसाता है उस उसका प्रभाव अनुभव करता है, जैसे ही सुयोगवश अपने आपके इस सहजस्वरूपकी दृष्टि हुई बस, इसके यह अनुभव पाया जाता है कि मैं यह हूँ, और जिस समय उसे इस तरह जाना कि मैं यह हूँ उस समय फिर यह सारा संसार उसे फोकट, नीरस, असार, भिन्न जचने लगता है। कहने वाले तो संसारमें बहुत मिलेंगे कि यह जगत बेकार है, सब मायारूप है यह सब छूट जायगा, ये सब भिन्न हैं, मेरा कुछ नहीं हैं, कुछ भावुकता भी आ जायगी, पर यह स्पष्ट तब जचता है जब निजका सार अनुभवमें आये। तो जो आत्मस्वरूप एकत्वमें है, अपने आपके प्रदेशमें है पूर्ण ज्ञानघन है, अन्य द्रव्योंसे अत्यन्त पृथक् है, इस

रूपसे उस आत्मतत्त्वका दर्शन होना यह है सम्यग्दर्शन ।

११५—आत्मोपलब्धिके अर्थ शुद्धनयकी कृपा—

आत्मतत्त्व जिसे ज्ञानमें प्राप्त होता है तो वह एक शुद्ध नयके आधीन होकर ही तो प्राप्त होता है, अभेद मार्गमें आकर ही तो प्राप्त होता है । उस समय यह आत्मज्योति, विभक्त आत्माके अपने आपके स्वरूपमें तन्मय यह ज्योति प्रकट होती है । मायने ज्ञानमें अब यह दिखने लगता है । सो ९ तत्त्वोंको प्राप्त है यह जीव फिर भी इसका आधार जो एकत्व है उस एकत्व स्वरूपपर दृष्टि जगे, ऐसा अपना भाव बने, वह लक्ष्यमें आये तो ये संकट तत्काल दूर होते हैं । अनुभवमें तो संकट तत्काल ही मिट गए, कुछ भान ही नहीं, इतना भी पता नहीं कि मै कहाँ बैठा हूँ, किस वक्त बैठा हूँ, कुछ भी उसका विकल्प नहीं, केवल एक सहज चैतन्यस्वरूप ज्ञानमें, यह स्थिति अभ्यास साध्य है, वही चारित्रका रूप है । अभ्यास करते करते, उसको ज्ञानमें जमाते जमाते यह बात होती है । तो ऐसा यह ज्योतिस्वरूप अंतस्तत्त्व जयवंत हो । यह सहजस्वरूप मेरे स्वरूपमें बसो । जो सहज शान्तिका धाम है । सहज शान्तिमें ही जो विचरण करता है ऐसी यह ज्ञानघन ज्योति मेरे चित्तमें बसो । बस उसका जयवाद हो, उसकी धुन हो, उसमें हमारी दृष्टि हो, और इसीके प्रतापसे फिर इन बाह्य विपत्तियोंमें रमण मिट जायगा ।

११६—संग प्रसंग विपत्तियोंसे हटकर स्वभावरुचि करनेमें भलाई—

यह संग प्रसंग विकट विपत्ति है, क्योंकि ये विषयके कारण बनते हैं। धन वैभव, इज्जत पोशीजन ये सब संगम एक विपत्ति है, क्योंकि ये सब विकल्पके आश्रयभूत हैं और विकल्प सभी विपत्तिरूप हैं । तो समस्त अनात्मतत्त्वोंको अपनेसे भिन्न जानें । अपना सार अपनेमें देखें तो यही है सत्य ऋद्धिका प्रकट होना बस उसीकी धुन रहे, उसीकी धुनमें अगर मरण होवे तो वह समाधिमरण है । मरण तो होगा जरूर, मगर बिलाप कर करके मरे तो दुर्गति है और अपने आपके स्वरूपको निरखते हुए, सोचते हुए, चिन्तन करते हुए मरे तो सद्गति है । उसकी दृष्टि हो, उसकी धुन हो, उसका लक्ष्य हो तो बात अवश्य बनती है । तो ऐसे अपने आपके आत्माकी ओर रहते हुए इस पुराने घरको छोड़कर जीव जायगा तो उससे आगे इसी उन्नति की ही तो बढ़वारी होगी । जैसा भाव लेकर जायगा उसीकी परिणति होगी । समाधिमरण अगर सम्हालना है तो अभीसे सावधानी की आवश्यकता है, हमारा उपयोग इस स्वरूपकी ओर अधिकाधिक रहे ।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं, कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

११७—नव तत्त्वोंकी प्रारम्भिक चर्चा—

वास्तविक शान्तिके अर्थ अपनेको उपयोग किस ओर ले जाना चाहिए इसका जब आत्मकल्याणका तीव्र अभिलाषी होनेपर विचार किया जाय तो सहज उत्तर मिल जायगा । बाहरमें कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं कि जिसका हम आश्रय लें और आत्माको वास्तविक शान्ति प्राप्त हो, क्योंकि ये सब रागद्वेषादिक परिणामोंके आश्रयभूत कारण हैं, ये सहज शान्तिके कारणभूत नहीं, तब फिर अपनेमें ही कुछ सोचना होगा, अपनेमें ही कुछ देखना होगा । एक बात यहाँ और ध्यानमें लें कि जब जब हम किसी परपदार्थमें उपयोग लगाते हैं तब भी हम अपनेमें ही कुछ करते हैं, बाहरमें कुछ नहीं करते । बाह्य पदार्थोंको विषयभूत बनाकर अपनेमें अपने विकल्प किया करते हैं । बाह्य पदार्थोंका

हम कुछ नहीं किया करते। तो जब हम आकुल हो रहे तब भी हम अपनेमें ही कुछ कर रहे और जब हम शान्तिकी ओर जायेंगे तब भी हमे अपनेमें ही कुछ करना है। तो अपनेको क्या देखना, किस तरह निरखना कि जिससे शान्तिका उद्भव हो ? तो इसपर जब मनन करते हैं और अन्तः दृष्टि ले जाते हैं तो प्रारम्भमें तो यह ही विदित होता है जो हम परिणाम करते आ रहे; आश्रव, बंध, सम्बर निर्जरा ऐसे ही परिणाम, हमको यहाँ देखना है, ये हैं मेरेमें, कुछ और अन्तः चलें तो जैसे लोग कह देते हैं जीव और अजीव, ऐसा एक बाह्यरूपको लिए हुए जीव अजीवको जानता है। और, वह ही आश्रव चूँकि कोई शुभ है, कोई अशुभ है तो पुण्य और पापके रूपमें हम और निरखते हैं। ऐसे ही निरखने चलते हैं तब हम कुछ धर्म चर्चामें आते हैं। प्रायः बहुतसे संसारी जीव तो इतना भी नहीं कर पा रहे। जो कुछ थोड़ा बहुत धर्म चर्चामें चलते हैं तो इन ९ तत्त्वोंके रूपमें हम अपने आपका पता लगाते हैं।

११८—अन्तस्तत्त्वकी नवतत्त्वच्छन्नता—

ज्ञानी लोग पता कुछ नव तत्त्वोंसे और परे लगाते हैं, वह क्या ? जो ९ तत्त्वोंमें ढका हुआ है उसका पता लगाते हैं। पता लग तो जायगा, ज्ञानबलसे ही लगेगा। जैसे अग्निका एक स्वरूप है दाहकपना, उष्णतामय, मगर अग्नि जिस जिस आधारमें है, जिस जिसको आश्रय लेकर अग्निका प्रसार है, लकड़ीकी आग, कोयलेकी आग, कंडेकी आग, बिजलीकी आग। हैं न कोई न कोई मूर्तिक पदार्थ, जो इसका आधार है, जिसके आश्रयमें यह अपना विस्तार बना रहा है, तो जब बाह्य मुद्रा, बाह्यरूपक देखते हैं तो अग्नि नाना रूपमें और नाना आकारोंमें दिखती है। जब लकड़ीमें आग लगी तो उस जैसा आकार, कोयलमें आग तो उस जैसा आकार, तो जब हम ऐसे बाहरी आकारोंको देखते है तो वहाँ नानापन नजर आता है, और जैसे ही हम अग्निके ठीक स्वरूपको केवल देखते हैं, दाहकपना देखते हैं, स्वभाव देखते हैं तो वहाँ अन्यपना नहीं नजर आता। तो जैसे अग्निका वह एक स्वरूप इस बाहरी ईंधन आदिकके सम्बंधसे यह नाना रूपोंमें पहिचाना गया फिर भी मूलमें वह दाहक स्वभाव ही है, ऐसे ही यह जीव पर्याय बिना तो कुछ होता नहीं ना, पर्यायोंमें चल रहा है। अब वे पर्यायें कोई औपाधिक हैं कोई निरुपाधि हैं। खैर कुछ भी हो उन सब परिणतियोंमें जाकर भी रहकर भी आत्मद्रव्य अपनी एकताको नहीं छोड़ता। अपना जो मूल एक चैतन्य स्वभाव है सहज भाव, उस सहज भावको निरखना, उस रूप अपनेको अनुभवना, मैं यह हूँ। देखो व्यवहारमें कितने ही आदमी ऐसे होते हैं कि वे काम कर न पायेंगे मगर हिम्मत और डींग बहुत बड़ी मारते हैं। शक्तिसे हीन हैं, वृद्ध हैं, हाथ पैर नहीं चलते फिरते, फिर भी अपनी कलासे अन्दरमें ऐसा जोस बतायेंगे कि जवान क्या बतायेंगे और एक अपनी शक्तिका परिचय मुखसे देते हैं। तो जहाँ व्यवहारमें न भी कर पाये तो भी वह अपने आपमें कैसी हिम्मत रखता है—ओह नहीं कर पाया तो दृष्टिमें तो है उसके। अगर दृष्टि न हो तो अपना वल कैसे जाहिर करे ? इससे भी और खास बात है यहाँ। ज्ञानस्वभावमें लीन न हो सके, न रम सके, न निर्विकल्प हो सके, न वह समाधिभाव बने, लेकिन उसकी दृष्टि ही हो, मैं यह हूँ और अपने उस कृत्यका भान हो, बस यही है, ऐसा होनेसे ही कल्याण है तो दृष्टिमें आया हुआ यह जो सहज स्वभाव है वह बड़ी तृप्ति उत्पन्न करेगा। यहाँ संतोष बनेगा।

११९—सहज परमात्मतत्त्वकी शाश्वत अन्तः प्रकाशमानता—

बाहरमें जहाँ-जहाँ चित्त लगायेंगे वहाँ-वहाँसे धोखा मिलेगा और निज सहज परमात्मतत्त्वका

आश्रय करें तो यह ही उपयोग अपनी कमजोरीको हटा देगा। कदाचित् किसीका उपयोग भी हट जाय तो हटे, मगर यह सहज परमात्मतत्त्व हटनेका नहीं, अलग होनेका नहीं, ऐसा यह शाश्वत मेरा सहज आत्मस्वरूप है, यह ही परमशरण है, इसका आलम्बन, इस रूपमें अपने को अनुभवना यह ही है परमपिता, परमशरण अपने शान्तिका धाम। शान्तिका स्रोत अपना निधान सर्वस्व अपने आपमें है। जिन्होंने अपनी इस निधिका आश्रय किया वे आज यहाँ नहीं हैं लेकिन उनके नामपर उनकी मूर्ति बनाकर हम आप सब पूजा करने आते हैं। चाहे कोई आज नहीं समझ पाया उनको कि क्या किया था उन्होंने, जिसके प्रसादसे वे परमात्मा बने, चाहे इसका रूप कुछ न समझा हो तो भी उनके नामपर कितने-कितने धार्मिक व्यवहार किए जाते हैं। भगवान महाबीरने क्या किया था जिससे सारा जैन समाज आज उनके नामकी माला फेरता है, २५००वां निर्वाण महोत्सव मनानेका प्रोग्राम रचा है। उनमें ऐसी कौन-सी बात थी जिससे सब लोग उनके नामका कीर्तन गाते हैं? कितने ही लोग तो अपने कुटुम्बी जनोंकी भी परवाह न करके सब महत्त्व उसीका दे रहे है, तो उनमें क्या खास बात थी? बस इसी सहज परमतत्त्वका आश्रय लेनेकी कलाकी बात थी। जिस बलपर वे परमात्मा हुए। यह चीज कहीं बाहर नहीं है। आपकी आपमें है, हमारी हममें है, वह एक स्वरूप है। यहाँ लोगोंको जो यह बाह्यरूप दिखरहा, यह है मनुष्य, यह है अमुक, यह हैं फलानेचन्द, यह है सेठ जी, यह हैं पंडित जी, यह हैं साधु महाराज ··· लोग जिस बाहरी-बाहरी रूपको देखकर पहिचान बना रहे यह तो बहुत मोटी बात है, मोहित व्यवहारकी है, जिसको निरखकर लोग कहा करते यह तो चर्चा में ही नहीं आना है। इससे तो बहुत गहरी बात है। आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप इन रूप मैं नहीं हूँ, इन रूप कोई माने तो वह एक भ्रममें है। इससे परे होकर अपनेमें अपनेको निरखना है। किसको? सहज स्वभावको। चेतन हूँ ना। उस चेतनका स्वभाव और उसका सहज कार्य चेतना। केवल चेतनका चेतनके नातेसे होने वाला जो कुछ भाव है उसको निरखना है यह सहज चिज्ज्योतिप्रकाश सहज अंतः प्रकाशमान हैं।

१२०—अन्तस्तत्त्वकी उन्नीयमानता—

बिजलीका लट्टू जल रहा और उसमें किसीने हरा कागज लगा दिया तो सब ज्योति हरी हो गई। ज्ञानबलसे इस हरेमें भी हम क्या उस सहजप्रकाशका बोध नहीं करते? जब हरा कागज लग गया तो हरा प्रकाश चल रहा। इसमें भी हम समझते हैं कि यह हरा रंग तो औपाधिक है, उस हरेकी अवस्थामें भी उसे ज्ञानके द्वारा समझ तो रहे हैं ना। तो ऐसी कौनसी बात है कि इन औपाधिक परिणतियोंमें भी जो शाश्वत रह रहा है उसकी कुछ सही समझ न बना सकें कि वास्तवमें निरपेक्ष मैं क्या हूँ। स्वर्णकार या सर्राफ सोना खरीदते हैं तो वे उस स्वर्णको देखते ही पहचान लेते हैं कि इसमें ७५ प्रतिशत स्वर्ण है, २५ प्रतिशत मलमा है, इसमें ५० प्रतिशत स्वर्ण हैं, इसमें २५ प्रतिशत स्वर्ण है, बाकी सब मलमा है। तो भला बताबो वे उस मलमाको आँखों देख रहे क्या? देख तो नहीं रहे, उसे तपानेसे ही समझमें सही सही आता है, पर वे सब बात ठीक ठीक समझ लेते हैं। तो कैसे समझ लेते? यह सब उनकी ज्ञानकलापर निर्भर है। ज्ञानमें इसको उसमें बस उन्नीयमान कर देते हैं, ऐसे ज्ञानमें उत्कृष्ट रूपसे प्रत्यक्ष न होते हुए भी ला दिया है। तो जैसे उस मलिन स्वर्णमें कई प्रकारके स्वर्ण आये पर हरएकको बताते जाते कि इसमें ५० प्रतिशत शुद्ध स्वर्ण है, इसमें ८० प्रतिशत शुद्ध स्वर्ण है, बाकी मलमा है। कसौटीमें कसते जाते और अपनेको उन्नीपमान करते जाते। तो उस मलिन सोनेमें जब हम शुद्धस्वर्णको नजरमें

ले लेते हैं तो जान तो रहे, एक मूर्तिक चीज है, उसे भी हम इन नाना। वर्णोंमें, नाना रूपोंमें ढके हुए उस शुद्धस्वर्णको हम ज्ञानबलसे कैसा बता देते हैं, ऐसे ही ९ तत्त्वोंमें ढके हुए इस सहजस्वरूपको, इस भेदज्ञान, अभेदज्ञानस्वरूपदृष्टि, इन कलावोंके बलसे जान सकते हैं। देखो कैसा अन्तः है। जब जानेंगे तब एक बार आनन्द पानेके बाद जब वह आनन्द फिर मिटता है याने वहाँ नहीं टिक पाते तो एकबार झल्लाकर बोल उठेंगे कि तुम यहीं थे अनादिकालसे और हमें दिखे नहीं। कितने गजबकी बात है। अनादिसे अन्दरमें है और अनादिसे ही अन्दरमें ढका हुआ है, दृष्टि, पश्चाताप, झल्लाहट, रुचि, धुन ये सब ज्ञानीके चलते हैं, वह अनुराग ही ऐसा है। आपका ही बच्चा, बड़ा घर है आपका। किसी एक कोनेमें जाकर छिप गया, आप उसे थोड़ा घर ढूढकर बहुत बहुत बाहर ढूढ रहे, नहीं मिल रहा, वह घरके किसी कोनेमें छिप गया। आप सब जगह पता लगाते फिरते। पास पड़ोसमें पता लगाते, पुलिसको खबर करते, दिनभर बड़ी दौड़ धूप मचाकर हैरान होते, पर उसका कहीं पता नहीं चलता। सारे दिन हैरान होनेके बाद जब सामको थककर अपने घरमें गये तो वहीं एक कोनेमें छिपकर बैठा हुआ वह बच्चा दिख गया। तो उसे देखकर एक तो बड़े जोरकी झल्लाहट आयगी—अरे मैं तो सारे दिन हैरान होता फिरा और तू यही छिपा बैठा है। दूसरी ओरसे यह प्रसन्नता भी छा जायेगी कि चलो बच्चा मिल तो गया। तो ऐसे ही अनादिकालसे यह जीव अपनेमें ढूढ़ रहा, स्पष्ट अपनेको नहीं ढूढा, बाह्य पदार्थोंमें ही आनन्द ढूढा, पर इसे वह ज्ञान, वह आनन्द न मिला। यह पुस्तक पढ़ो इसमें ज्ञान मिलेगा, यह काम करो इसमें आनन्द मिलेगा। जो सहज-ज्ञानस्वरूप है उसकी चर्चा कर रहे। तो बाहरमें ज्ञान और आनन्द ढूढ़नेका अर्थ है बाहरमें अपने आपको ढूढ़ना। इन शब्दोंमें नहीं जान रहा अज्ञानी। जो बाहरमें ज्ञान और आनन्दको खोज रहा है वह इन शब्दोंमें नहीं जान रहा कि मैं अपनेको ढूढ़ता। खोजते-खोजते जब पता पड़ा कि लो यह अन्तः यहाँ ही छिपा हुआ है, गुप्त है, ढका हुआ है। जब उसको देखा तो, जब वह अनादिकालके परिश्रमकी याद आती है तब तो झल्लाहट होती है। जैसे दिन भर परिश्रम किया, ढुढ़ावा मचाया उसकी याद आती है तो झल्लाहट उत्पन्न होती है और बच्चा मिल जानेसे इसको आनन्द होता है तो ऐसे ही वह सहज आत्मस्वरूप जो चिरकालसे ९ तत्त्वोमें ढका हुआ है वह तो है कोई न कोई तत्त्वमें, सो वह जब तक सहज आत्मस्वरूप ज्ञानबलसे अपने आपमें जाना गया, उत्कृष्ट रूपसे लाया गया, वह सबसे निराला है परिचय होते ही प्रसन्नता होती है। यह उन्नीयमान स्वरूपकी बात है।

१२१—प्रभुके दिव्योपदेशोंमें अमृत तत्त्वकी प्राप्ति—

कर्मानुभाग खिलता रहा अनादिकालसे अथवा इसनी लीला, क्रीड़ा, नाटक, क्षोभ रहा। वह अचेतन है कर्म, नहीं तो इसमें ज्यादह बरबादी अचेतनकी होती। तो इतना होनेपर भी उसमें कुछ अनुभूति नहीं है और उसका प्रतिफलन है यहाँ। उसकी चीज भी यहाँ नहीं आयी। कर्ममें जो अनुभाग बंध हुआ वह कर्मकी ही तो चीज हुई। कर्ममें ही तो कुछ कर्मका रूप बना। उसकी कणिका भी हममें नहीं आयी। केवल एक प्रतिफलन हुआ। उस प्रतिफलनमें हम वहाँ बेचैन हो गए। तो जिस कालमें यह भेदविज्ञान करता, ओह कर्मकी बात कर्ममें है, उसका निमित्त पाकर जो मुझमें प्रतिफलन हुआ वह एक निमित्त नैमित्तिक योग है। अब यहाँ जो हम अधीर हो जाते हैं, उसे अपनाते हैं, उसे यह मैं हूँ इस प्रकार मानते हैं, अज्ञान रहता है उसका फल यह संसार है। ये दो तत्त्व हैं, अवस्थायें हैं, इनको दृष्टि छोड़कर, इनका उपयोग छोड़कर, इनमें न फसकर अथवा इनसे उपयोगको

हटाकर जैसे ही अपने आपमें बसे हुए इस जीवके स्वभावको निरखते हैं तो वह एकरूप प्रकाशमान है। देखिये यह निरख, यह सबकी अपनी अपनी कलाकी बात है। कोई समझा नहीं सकता, कोई वचनोंसे नहीं बोल सकता। जो करेगा सो पायगा। जो अन्तः प्रयोग बनायगा, ज्ञान बलसे अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपका उपयोग बनायगा उसको मिलेगा और वह जब जानेगा कि ओह यह बात है, शास्त्रकी कथनीसे अपना मिलाप, अपने मिलापसे शास्त्रकी कथनीका परिचय, जिसको आत्मानुभव हुआ, ज्ञानोपयोग हुआ, यह ज्ञानस्वरूप उपयोगमें आया, कुछ भी बाहर उपयोग न रहा, परम आनन्द आया, सत्य आनन्द जगा, ऐसा वह तृप्तिकी अवस्था को प्राप्त हुआ, जिसे वह यह समझेगा कि शास्त्र में देखो यह ही लिखा है और जब जब वह शास्त्रमें पढ़ेगा यह बात कि हाँ देखो ठीक लिखा, यह ही तो बात है। देखो तत्त्वश्रद्धान आत्मानुभूति एक ऐसा दृढ़ ज्ञेय तत्त्व है कि जिसके श्रद्धानसे यह श्रद्धान होता कि भगवानके बचन सब सत्य होते। भगवानने नरककी बात बतायी, स्वर्गकी बात बतायी, तीन कालकी बात भी आयी ऐसा कौन होता है, कौन कैसे होते रहेंगे, यह सब निर्देश बड़े परोपकारके हैं। स्वर्ग है इसकी पहिचान क्या ? जाकर बतावे कोई तो हम मानें। कोई यों हठ करने लगे कि नरककी बात बताये कोई तो हम मान लें। जितने भी कथन हैं सब परोक्षभूत कथन हैं, उन सब परोक्ष कथनोंमें श्रद्धापनेको जान डालने वाला श्रद्धान है तो तत्त्वश्रद्धान। जब प्रयोजन-भूत इन ७ तत्त्वोंमें हम परख करते हैं तब वहाँ जैन शासनमें कही हुई बातसे जरा भी हटकर बात नहीं है, ठीक सही-सही है' हम अपनी अनुभूतिमें जिस विषयको उतार सकते है वह विषय जैन शासनमें बिल्कुल सही-सही है। यह ज्ञान हो तो इसके बलपर यह पूरा प्रमाण हो जाता है कि ऐसे प्रभुके उपदेशमें जो जो कुछ कथन आया वह सब सही है। अनुभवका बल बहुत बड़ा बल है और पूर्ण प्रमाणीभूत बल है।

१२२—अन्तस्तत्त्वकी प्रतिपद अन्तः उद्योतमानता—

जो एकस्वरूप, मेरा सहजस्वरूप जो चिरकालसे ढका हुआ है, व ज्ञानबलसे उसमे से निकाल कर नजरके सामने रखा है, ज्ञानबलसे उस तत्त्वको बस निरखते रहो। सबसे बड़ा काम, महान काम याने जिससे बढ़कर और कुछ बात न हो, बस यही बात है। अपने आपमें निरन्तर उस सहज-स्वरूपको निरखनेका प्रयोग बनावें। एक ही काम करनेका है। जब इसमें नहीं टिकते, यह ज्ञान वाला काम है ना, केवल जानता रहे, इसमें न टिके तो ध्यान बनालो। इसका बार बार चिन्तन करें, इसमें न टिकें तो तपश्चरणमें लगें, संयममें लगें, तपमें लगें। सब कुछ करना है—केवल एक इस परम ब्रह्मके लिए, क्योंकि "परमब्रह्मका दर्शन चहुंगति दुःखहारी" समस्त संसार संकटोंको टालने वाला परम ब्रह्मका दर्शन है। जिसके परमब्रह्म पूर्ण प्रकट हो गया ऐसे परमात्माकी हम भक्ति करते हैं और वहाँ स्वरूपको समझा कि यह हूँ मैं। मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान। मैं के मायने स्वरूप, न कि आदमी न कि गधा, न कुत्ता। इनकी तुलना नहीं करना है। मेरा जो सहज प्रकाशमान चैतन्यस्वरूप है उसे 'मैं' स्वीकार करके बोलें। जो मैं हूँ वह हैं भगवान सहज आत्मस्वरूप निरखा ना, इसीलिए इतना निकट सम्बन्ध है भक्तमें प्रभुसे। तो ऐसा यह मेरा सहज स्वरूप जो निरन्तर सबसे निराला है यह रूप है और प्रत्येक पर्यायमें, हर तत्त्वमें, प्रत्येक पदमें जो अन्तः उद्योतमान है वह नहीं छूटा। मनुष्य मिट गया, मगर जीवत्व नहीं मिटा। देव मिट गया मरघ जीवत्व नहीं मिटा। अनेक पर्यायें बदल गई, गुणस्थान बदल गए, मगर जीवत्व नहीं मिटा। प्रत्येक पदमें जो अंतः

उद्योतमान है ऐसे इस सहज चैतन्यस्वरूपको नमस्कार हो ।

१२३—परिस्थितिवश करने पड़ रहे काममें ज्ञानीकी अनास्था—

लोकमें अब तक चैतन्यस्वरूपको निरखनेका ही काम नहीं किया, इसका फल है कि संसारमें हम आप रुलते चले आ रहे, जन्म मरण पाते चले आ रहे । तो क्यों जी, कोई कहे कि रोजिगारमें न जायें क्या ? हाँ न जावो । अगर यह करते बने तो मत जावो । चेतनाके अतिरिक्त सब बेकार बात है । करो, यह ही करो । जब यह करते नहीं बनता तो सब कुछ और बातें करनी पड़ती है । करनेका काम तो यह है और करने पड़नेके काम बहुत हैं । क्या करे ? जब नहीं है इतना साहस । इतना साहस कब बन सकता जब तत्त्वबोध हो, निरारम्भ हो, निष्परिग्रह हो । तब ऐसी स्थिति बन सकती, वहाँ भी सदा नहीं बनती, किसीके बनती । तब फिर यहाँ श्रावक स्थितिमें जहाँ शुभोपयोगकी प्रधानता है, इस स्थितिमें जितना हम पा सकें उसकी रुचि करें । तो यह करना पड़ रहा है सब रोजिगार । करना पड़ रहा है, ऐसा मानो । यह जीवनमें करनेका काम है यह विश्वास न करो नहीं तो बड़ा अंधेरा रहेगा, तिरनेका समय न आयगा । करना पड़ रहा है, सम्हालना पड़ रहा है । इस सहज चैतन्यस्वरूपमें सहज परमात्मतत्त्वको यह काम करनेके हैं क्या ? परिस्थितियाँ हैं ऐसीं । इन सब कामोंमें त्रिवर्गका साधन गृहस्थको करना पड़ता है और जब गृहस्थ धर्ममें आये हैं, सब कुछ करना पड़ता है तो इतने पर भी विवेक बुद्धि ज्ञान सही रहे, जिन्दगी हमारी इसलिए है यह प्रकट नजरमें रहे । गले पड़े बजाय सरे । लौकिक बातोंमें यह न फँसे । यह कहावत प्रसिद्ध है - क्या करें, गले पड़े बजाय सरे । कोई समस्या ऐसी आ गई कि जिससे परिस्थितिवश उससे हट नहीं सकते, करना पड़ रहा है तो कहते हैं कि क्या करें, गले पड़े बजाय सरे । यह अहाना कैसे चला ? एक ऐसा चित्रण करो कि होलीके दिनोंमें जब बहुतसे लोग इकट्ठे होते हैं तो सभी लोग एक दूसरेपर रंग, गुलाल, कीचड़ आदि छोड़ते हैं, एक दूसरेके गले मिलते हैं, एक दूसरेसे हँसी मजाक करते हैं । एक कोई ऐसी ही कुछ मित्रोंकी टोली थी, एक मित्रने धोखेसे एक मित्रके गलेमें ढोल डाल दिया याने उसकी हँसी उड़ानेके लिए मजाक किया तो उसने उस समय क्या चतुराई खेली कि झट दो लकड़ियाँ उठाकर बजाना, नाचना शुरू कर दिया । लो उसकी वह मजाक शोभाके रूपमें परिणत हो गई । तो यही दशा श्रावक जनोंकी है । श्रावकजन यह सभझें कि ये गृहस्थीके प्रसंग सब करने पड़ रहे हैं, ये मेरे कर्तव्य नहीं हैं । इनको भली भाँति विधिपूर्वक निपटानेमें ही शोभा है, इस श्रावक दशामें निष्परिग्रहताकी स्थिति बन नहीं पाती, यही कारण है कि मुनिजन इस गृहस्थीके जंजालको सदाके लिए छोड़कर एकान्त वनमें रहकर तपश्चरण कर अपना कल्याण करते हैं ।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥६॥

१२४—स्याद्वादसम्मत नयविधिसे वस्तुपरिचय—

जिस अखण्ड निज चैतन्य स्वरूपके दर्शनका संदेश दिया है आचार्य संतने पूर्व कलशमें, उस अखण्ड चिद्रूपको समझनेका उपाय है क्या ? एकदम ही कोई उस शुद्धनयके विषयभूतमें प्रवेश करनेमें समर्थ नहीं है, तो उसके जाननेके कोई उपाय तो हैं ही । उन उपायोंमें पहले नयको ही बात ले लीजिए । वस्तु प्रत्येक द्रव्यपर्यायात्मक है । भले ही जब उसके अखण्ड स्वरूपपर दृष्टि देते हैं तब वहाँ, द्रव्यपर्यायका विकल्प नहीं रहता, किन्तु द्रव्य, पर्याय कहीं मिट नहीं गई, यह उस द्रष्टाकी एक समाधि

की स्थिति है, पर द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु सदा रहती है। जिसे कहो बनना, बिगड़ना और बना रहना। ये तीन बातें प्रत्येक सत् में होती है जिसका दूसरा नाम है उत्पाद व्यय ध्रौव्य। उत्पाद, व्यय तो कहलाये पर्याय और ध्रौव्य कहलाया द्रव्य। जो बने बिगड़े वह तो है परिणति और जो निरन्तर बना रहे वह है द्रव्यस्वरूप। तो पर्याय न हों तो कोई सत् हो सकता है क्या? और, द्रव्यत्व न हो, ध्रुवता न हो तो कोई सत् रह सकता है क्या? प्रत्येक सत् द्रव्यपर्यायात्मक है। तब उस पदार्थके विषयमें जानकारियाँ जितनी चल सकेंगी वे द्रव्य और पर्यायकी दृष्टिके आधारपर चलेंगी। द्रव्य-दृष्टिसे जाना कि पदार्थ नित्य है, पर्यायदृष्टिसे जाना कि पदार्थ अनित्य है। तो इन दोनों दृष्टियोंका आधार लेकर प्रतिपादन करना सो स्याद्वाद है। स्याद्वादकी कहीं मिट्टी पलीत न करना कि यों दो धर्म रख दो, जैसे जीव नित्य है अनित्य नहीं, यह स्याद्वादकी मिट्टी पलीत क्यों कहलाती कि दोनों धर्मोंमें विरुद्ध कुछ नहीं कहा गया। नित्य है उसका भी निष्कर्ष है कि ध्रुव है, अनित्य नहीं है इसका भी निष्कर्ष है कि ध्रुव है। यहाँ विरुद्ध दो धर्मोंमें एक वस्तुमें अवस्थान नहीं दिखाया गया है, जब कि वस्तु द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे नित्य नहीं है। यों नित्यपना और अनित्यपना ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं और उनका एक सत्में आवास बताया गया है। आवास कहीं भिन्न-भिन्न समयमें नहीं है। दोनों ही धर्म एक साथ हैं। कहीं ऐसा नहीं है कि उत्पाद व्यय कहते हों कि अब यह ध्रौव्य अपनी कला खेल रहा है, इसको निपटने दें, फिर हम अपना काम करेंगे या उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे कह दें कि भाई तुमको बहुत समय हो गया, अब तुम चुप बैठो, अब हमें काम करनेका मौका दो। हम भी सत्में अपना काम करें या ध्रौव्य उत्पादसे प्रार्थना करे। यह तो वस्तुगत धर्ममें है, दोनों ही तथ्य याने द्रव्यत्व व परिणमन एक साथ वस्तुमें हैं।

१२५—द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकनयका विषय एवं नयपरिचयका प्रयोजन—

पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है और द्रव्यदृष्टिसे वस्तुका परिचय बनाया और पर्यायदृष्टिसे परिचय बनाया इसीका ही नाम है द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। तो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें जो द्रव्यका मुख्यतया अनुभव करे सो द्रव्यार्थिकनय। वहाँ भी यह न जानना कि द्रव्यार्थिकनयका विषय एकमात्र द्रव्यत्व है। विषय तो किसी भी ज्ञानका वस्तु ही होता है और वह द्रव्यपर्यायात्मक है, पर द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें द्रव्यत्वको मुख्यतया अनुभवें तो वह द्रव्यार्थिकनय है। इसी प्रकार ऐसा न जानना कि पर्यायार्थिकनयका विषय मात्र पर्याय है। विषय तो वस्तु ही रहेगा, क्योंकि अवस्तु किसी भी ज्ञानका विषय नहीं बनता। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। तो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें जब पर्यायको मुख्यतया अनुभवा जाता है तो वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है। तो द्रव्यार्थिकनयसे ९ तत्त्वोंको देखो, पर्यायार्थिकनयसे ९ तत्त्वोंको देखो और उसमें परिचय बनाओ। जब उन ९ तत्त्वोंको अभेदकी अभिमुखता पूर्वक देखा तो यह ही द्रव्यार्थिकनयका विषय बना, जब भेदकी अभिमुखता पूर्वक देखा तो यह ही पर्यायार्थिकनयका विषय बना। तो इन ९ तत्त्वोंको जब द्रव्यपर्याय दोनोंसे न छुवा हो मात्र एक जीवस्वभावको देखा उस समय तो नयश्री उदयको प्राप्त नहीं होती। यहाँ नय अस्तमित हो गया। देखिये—इस स्थितिमें, इस अनुभवकी स्थितिमें जो विषय हुआ है वह एक है, इस प्रकारके विकल्पसे भी रहित है। केवल एक स्वभावानुभव और सहज आनन्दमय स्थिति है, वहाँ यह मैं एक हूँ, इस तरहकी बुद्धि जगे तो वही सब व्यक्तिपना आ जाता है। तो ऐसे उपयोगमें व्यक्तित्वसे रहित, केवल, द्रव्ययर्यायसे आलीढ नहीं, किन्तु एक स्वभावरूप वस्तुका मुख्यतया अनुभव करे, वहाँ नयश्री

उदयको प्राप्त नहीं होती। देखो अखण्ड तत्त्वकी समझके लिए नयोंका प्रकाश चल रहा है, पर नय भी एक अपने प्रयोजनमें ऐसे बँधे सजे रहते हैं कि वे अपनेको बलिदान करके भी इस साधकको एक लक्ष्यमें पहुंचानेमें सहयोगी होता है। तो पदार्थोंके जाननेके उपायोंमें ये नय बहुत सहयोगी है।

१२६—प्रमाणसे वस्तुका पूर्ण परिचय व प्रमाण परिचयका प्रयोजन—

भैया ! नयोंसे सब कुछ जानें पर, वहाँ कोई नयोंमें एकान्त ही करलें, अन्य नयकी अपेक्षा न करे अथवा दोनोंको मानले, मगर निरपेक्ष माने जैसा अनेक दार्शनिक मानते हैं—अणु दो प्रकारके होते हैं नित्य अणु, अनित्य अणु, कारण अणु, कार्य अणु, तो नित्य अनित्य दोनों मानकर भी यहाँ स्याद्वादकी बात नहीं आयी। तो नयोंकी ऐकान्तिकता वस्तुस्वरूपको सिद्ध नहीं करती। प्रमाण पदार्थोंके स्वरूपको सिद्ध करता है। प्रमाण सर्वनयात्मक है। प्रमाण सर्वांगज्ञान करने वाला है, उस प्रमाणकी विधियाँ दो हैं—प्रत्यक्ष विधि और परोक्ष विधि। जहाँ इन्द्रिय मन परनिमित्तका योग लेते हुए जो ज्ञान चलता है वह वह तो परोक्ष विधिका प्रमाण है और जो परनिमित्तके योग बिना केवल एक आत्मज्ञान, आत्मबल ज्ञानसे जो परिचय चलता है वह है प्रत्यक्षविधि। तो प्रमाण यद्यपि सर्वांगात्मक ज्ञान है तो भी अनुभव इससे परे है। वहाँ किसी प्रकारका विकल्प नहीं। जब ज्ञान निज ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्वमें एकरस हो जाता है, तब सर्वांगात्मक यह अनुभव बनता है। जहाँ विकल्प टल जाते हैं ऐसे अनुभवकी स्थितिमें प्रमाण भी अस्तको प्राप्त हो जाते हैं। यों नय और प्रमाण ये परिचयके मुख्य साधन हैं। मगर ये साधन अपने लक्ष्यमें जब यह जीव पहुंचता है अनुभवके निकट तो ये नय प्रमाण अस्तको प्राप्त हो जाते हैं, अहा, यह नय व प्रमाण इस ही में मग्न रहता है कि साधक अपने प्रयोजनभूत लक्ष्यमें पहुंच जाय।

१२७—निक्षेपसे वस्तुपरिचयव्यवहार व निक्षेपकोंका मूल प्रयोजन—

अब नय और प्रमाणके आधारमें एक बात और समझिये। निक्षेप - निक्षेप कहते हैं न्यास को, व्यवहार को। ये चार प्रकारके होते हैं—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भाव-निक्षेप। नाम रख दिया अमुकचन्द, अमुकलाल, अमुकप्रसाद। नाम निक्षेपकी बात देखिये—व्यवहारमें यह नाम निक्षेप कितना प्रयोजनवान है। नाम रखे बिना क्या कोई लेन-देन चल सकता ? क्या कोई किसीको बुला सकता ? क्या कोई किसीसे कुछ बात कह सकता ? कुछ भी तो नहीं काम चल सकता। नाम बिना जब लौकिक काम नहीं बनते तो फिर तत्त्वज्ञानके प्रसारका काम कैसे बन सकेगा ? आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदिक ये सब नाम ही तो हैं। तो नामनिक्षेप बिना किसी प्रकारका व्यवहार नहीं चलता और तीर्थकी प्रवृत्ति भी नहीं करा सकते। तो यह नाम निक्षेप कितना सहयोगी है इसका आप लोग स्वयं अनुभव कर रहे होंगे। अगर नाम निक्षेपकी बात न हो तो आपका यह विशाल मंदिर बनवानेका काम भी कठिन हो जाय। अभी तो किसी ने फर्स बनवाया, किसी ने बेदी बनवाया, किसी ने गेट बनवाया, सबके नाम उसमें लिख जाते हैं, नामकी वजहसे ही आप मंदिर बनवा लेते हैं। अगर मानलो सबका एक नाम रख दिया जाय खचेड़ूमल, अब वहाँ कोई दान दे तो वहाँ नाम लिखा गया खचेड़ूमल। तो इससे तो उस दान देने वाले भाईको शान्ति न मिली, क्योंकि उसके मनमें यह बात न आ सकी कि यह तो मेरा ही नाम लिखा गया। तो ये भिन्न भिन्न नाम हैं, इनसे जो व्यवहार चलता है वह नाम निक्षेप है, और जो नामसे समझा उसमें जो यह जानकारी की कि जिसका यह नाम है वह यह चीज है। जैसे मानों ग्रन्थ ही पढ़ रहे उसमें लिखा है द्रव्यार्थिक, बाँचा तो

शब्द । नामका ही तो बोध किया । अब उसमें यह परिचय बनाया कि जिसका यह नाम है वह यह तत्त्व है, यह विषय है । लो स्थापना हो गई । वहाँ स्थूल रूपसे जो व्यवहारमें स्थापना चलती है, मूर्तिमें यह पार्श्वनाथ हैं, यह आदिनाथ हैं, अथवा जिनका स्टेचू बना—महात्मा गाँधीका या अन्य किसी नेताका या कोड़ी सतरंजमें यह बादशाह हैं, यह बजीर है आदिक जो स्थापनाका भाव है उसका व्यवहार स्थापनानिक्षेपका स्वरूप है । पर मूलमें देखो कि प्रत्येक शब्दज्ञानके साथ स्थापना लगी हुई है और साथ ही उसमें पूर्वापर परिणतियोंका भी ध्यान जमा हुआ है, वह द्रव्यनिक्षेप है, और उसमें वर्तमान पर्यायका जो बोध चल रहा वह भावनिक्षेप हुआ । तो ये चारों निक्षेप ज्ञानमें सहयोगी हैं । अब इन निक्षेपोंके द्वारा जब हम आगे बढ़े और नय प्रमाणसे सब प्रकारका परिचय पाया, अब सब कुछ जाननेके बाद एक अखण्ड ज्ञानस्वभावका जो एक बाह्य परिचय हुआ उस ही परिचयको ज्ञानमें ढाला और ज्ञान द्वारा अपने ही इस ज्ञानस्वभावको विषय बनाया और वहाँ जो एकरसता होनेपर अनुभव जगा उस अनुभवकी स्थितिमें निक्षेपका पता ही नहीं । उससे अतीत यह अनुभूतिका भाव है ।

१२८—अद्वैतानुभवका विश्लेषण—

अखण्ड ज्ञायकतत्त्व जब एक अपने अनुभवमें आता है, प्रमाण, नय, निक्षेपको तो बात क्या, कुछ द्वैत ही प्रकट नहीं होता, बुद्धिमें नहीं हैं ऐसा यह अद्वैतानुभव है । कहीं यह न समझना कि उसने यह निर्णय किया हो कि जगतमें मेरे सिवाय कोई दूसरा है नहीं । जगतमें पदार्थ अनन्त है । अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात काल द्रव्य है, यह सब है मगर यहाँ अनुभवकी स्थितिमें निज अद्वैतका अनुभव किया गया है । कहीं भी विकल्प नहीं चल रहे उस स्थितिकी बात कही जा रही है कि सर्वकष याने सारे विकल्पको जो दूर भगा दे, इस प्रकारका जो एक अखण्ड ज्ञानस्वरूपका अनुभव है वह अनुभव प्राप्त होनेपर फिर द्वैत ही नहीं प्रतिभासित होता । इस प्रकार ग्रन्थकार यहाँ प्रत्येक परिचयोंमें संकेत दे रहे हैं उस अखण्ड ज्ञानस्वभाव का । उस रूप जो अहंका अनुभव करे, मैं यह हूँ, उसका बंधन दूर होता है, वह संसारसे पार होता है, मुक्तिके निकट होता है । अपने आपको अनुभव करो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमात्र अनुभव करना एक ऐसा अमृतपान है कि जिसमें जन्म जरा मरण रोग शोक चिन्ता विकल्प भय आदिक समस्त संकट अनुभवकी निरखसे एक साथ ही दूर होते हैं । सो यह निज ज्ञायक स्वभावका अनुभव यही एक आचार्य संतोंके समस्त उपदेशोंका लक्ष्य है । वास्तविक परिचय तो अनुभवमें मिलता है । परिचय तो लिया जाता है, लक्ष्य भी लेते हैं । जैसे खानेकी चीजके रसोंका परिचय लोग करते हैं, कराते हैं, बोलते हैं, पर रसोंका अन्य प्रकारसे ज्ञान करना, बताना, बोलना और एक उसको खाते हुए में समझना जैसे इन दो समझोंमें अन्तर है ऐसे ही इस ज्ञायक स्वभाव सहज परमात्मतत्त्वके परिचयमें और अनुभूत होनेपर होने वाले परिचयमें ऐसा ही अन्तर समझिये और प्रारम्भमें यह ही तो एक अन्तर बताया गया कि सम्यक्त्वसे पहले होने वाला तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान है और सम्यक्त्व होते ही वही तत्त्वज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है । क्या सम्यक्त्वसे पहले ऐसा तत्त्वज्ञान था जो वस्तुस्वरूपके विपरीत था ? वस्तुस्वरूपके विपरीत हो तो ऐसे ज्ञान द्वारा वस्तुका परिचय अनुभव सम्यक्त्व नहीं बन सकता । वह सारा तत्त्वज्ञान तो अनन्तानुबंधी कषायके उपशम, क्षय, क्षयोपशमका हेतुभूत है वह समस्त तत्त्वज्ञान सही है सम्यक्त्व होते ही वह सानुभव हो जाता है । जब अनुभव होता है उस समय प्रमाण, नय, निक्षेप आदिक कुछ भी उदयको प्राप्त नहीं होते ।

१२९—अखण्ड अन्तस्तत्त्वके अनुभवमें द्वैतकी अप्रतिभातता—

प्रकरण यह चल रहा है कि जिस समय अखण्ड निज चैतन्यस्वरूपका अनुभव होता है उस समय प्रमाण, नय, निक्षेपकी तो बात ही क्या कहें कुछ दूसरी बात वहाँ प्रतिभात ही नहीं होती। ऐसी बात सुनकर कुछ अन्य दार्शनिक बड़े खुश होंगे। ज्ञानाद्वैतवादी यहाँ कह सकते हैं कि बहुत अच्छा कहा, और इतनी ही बात क्यों? कभी भी दूसरा कुछ है ही नहीं है। बस ज्ञान ही ज्ञान सब कुछ है, ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ नहीं, ऐसा अन्य दार्शनिक कह सकते हैं। हमको जो कुछ दिख रहा, जाननेमें आ रहा अमुक तमुक यह सब भ्रम है। यह सब ज्ञानकी ही परिणति है। यहाँ कुछ है नहीं। और मोटे रूपसे कोई यों सोच ले कि ज्ञानमें आये, तो हैं, ज्ञानमें न आये तो नहीं है। इसीसे बढ़कर यहाँ तक आरेकामें चला जायगा कि बस ज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं है, पर यहाँ इसका यह अर्थ न लगेगा कि दूसरा कुछ है ही नहीं, किन्तु ज्ञानानुभूतिके समयमें उस व्यक्तिके लिए, उस पुरुषके लिए दूसरा कुछ भी ज्ञानमें प्रतिभासित नहीं हो रहा। चीजें तो सब है, सब बाहर पड़ी हैं, अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य है, पर रहो। यहाँ यह बात बतायी जा रही कि जब यह ज्ञान बाहरी बातोंका उपयोग तजकर केवल एक अपने स्रोतभूत सहज ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें लेता है, देखता है और बड़े धीरे गुप्त अपने आपमें मिल करके उसके अन्तः अनुभूति होती है उस अनुभवकालमें वहाँ दूसरा कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता। विज्ञानाद्वैतवादी एक बौद्धोंका भेद है। ये ज्ञानको नित्य नहीं मानते। मानते तो अनित्य ही हैं किन्तु यह ज्ञान ही ज्ञान पदार्थ है, दूसरा और कुछ नहीं। तब दूसरे जो नित्य ज्ञाननादी हैं ब्रह्मवादी वे यहाँ प्रसन्न हो सकते। बहुत ठीक कहा जा रहा। ज्ञानमात्र है, ब्रह्ममात्र है और वह ध्रुव है, नित्य परिणामी है, वह ही जगतमें है, दूसरा और कुछ नहीं। सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन। दूसरा कुछ है ही नहीं। जो कुछ दूसरा नजर आता है वह सब इस ब्रह्मकी ही पर्याय है। आरामं तस्य पश्यन्ति, न तं पश्यति कश्चन, लेकिन यह बात यहाँ नहीं कहा जा रही, क्या कहा जा रहा है सो सुनिये।

१३०—स्वमें उपयुक्त होनेपर प्रमाणादिसे निर्णीत भी अन्य सतोंकी अप्रतिभातता—

इस अखण्ड चैतन्यस्वभावके अनुभवके आनेपर दूसरा कुछ भी प्रतिभात नहीं होता। इसके मायने है कि दूसरा सब कुछ है पर प्रतिभास नहीं होता। जो दार्शनिक यह कहते कि दूसरा कुछ है ही नहीं। केवल एक ज्ञानमात्र ब्रह्मस्वरूप ही तत्त्व है, अन्य कुछ नहीं, वे निष्पक्ष चिन्तन करेंगे तो समझ लेंगे कि यह बात नहीं है। यह तो सब हम आपके अनुभवकी बात कही जा रही है। तो ज्ञान का स्वरूप, ज्ञानका स्वभाव, ज्ञानकी कला, जो कुछ है वह सब ज्ञानमें आये ऐसा ज्ञानका स्वभाव है। यहाँ हम आप छद्मस्थ जो कुछ एक जगह ज्ञान लगाते हैं, जिसे अन्य जगह न लगायें तो वही प्रतिभास में आता और एक आत्मस्वरूपमें लगाये तो वही वही प्रतिभासमें आता है, यह एक हमारी ही स्थिति है ऐसी, पर जो ज्ञानी है, प्रभु है जिसमें उपयोग जुड़ता नहीं, जोड़ना, लगाना नहीं पड़ता, उपयोग सहज चलता रहता उनको सब कुछ प्रतिभास हो जाता है। और यहाँ कुछ थोड़ा आया ना प्रतिभास, वहाँ उसपर यही मान बैठें कि दूसरी चीज कुछ नहीं है, तो ज्ञानका काम समाप्त है फिर ज्ञान ही कुछ नहीं, जीव ही कुछ नहीं तो फिर यहाँ चर्चा किसकी? इसलिए प्रमाण, नय, निक्षेप इनका भी महत्त्व है और यह पदार्थोंका विश्लेषण कराता है, जानकारी कराता है, यों ही न कहना कि यह सब व्यवहार है। अरे भाई एक उपचारकी चीज होती है। उसे तो उसी कथन रूपमें पानेको झूठ बताया गया।

उपचारके प्रयोजनको न दृष्टिमें लेकर केवल जिन शब्दोंमें उपचारकी कथनी की गई उन ही शब्दोंमें उपादानतया सही समझ लेना उसे कहते हैं उपचार, वह असत्य है। पर उपचारका भी नाम व्यवहार है और तत्त्व प्रकट करनेका भी नाम व्यवहार है और प्रमाण, नय, निक्षेपके द्वारा वर्णन करना, कथन करना इसका भी नाम व्यवहार है। तो उपचारका नाम व्यवहार है, और उपचारके प्रकरणमें कह दिया जाय कि व्यवहार झूठा है, जो जैसा कहा वैसा नहीं है और भाँति है, इससे सब व्यवहारोंमें यह बात लगा लेना मूढता है। देखिये दूध अनेक प्रकारका होता है, गायका दूध, भैंसका दूध, बकरीका दूध और एक आकका भी दूध होता है। यह आकका दूध ऐसा होता है कि इसके लग जानेसे कहो आँखें फूट जायें, या कोई पी ले तो कहो मरणको प्राप्त हो जाय। अब कोई आकके दूधको ही दृष्टिमें रखकर यह रखकर यह कहने लगे कि दूध जहरीला होता है तो उसका यह कथन मिथ्या है। वहाँ यह समझना चाहिए कि आकके दूधके लिए ऐसा कहा गया है न कि गाय, भैंस, बकरी आदिके दूधके लिए। ये सब दूध तो बड़े पौष्टिक होते हैं। इनका प्रयोग तो घर घरमें होता है। ये सब दूध तो हम आपके लिए बड़े उपयोगी हैं। इसी बजहसे खानेकी चीजोंमें दूधको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। तो यह व्यवहार कथन है, व्यवहार मिथ्या होता है, ऐसी ऐकान्तिक घोषणा करना निपट अज्ञानता है। क्योंकि यहाँ विवेक न रहा। उपचार मिथ्या है, सो जिन शब्दोंमें कहा गया उन ही शब्दोंमें यदि कोई समझे तो वह मिथ्या है, उसका अभिप्राय समझना चाहिए। जैसे किसीने कहा घीका घड़ा लावो। अब कोई समझे कि जैसे लोहे, ताँबे, पीपल आदिके घड़े होते हैं वैसे ही घीका भी घड़ा होता तो भला बतलावो वह घीका घड़ा कैसे ला सकेगा? अरे वहाँ यह समझना चाहिए कि जिस घड़ेमें घी रखा है वह लावो यह कहा गया है। तो भैया सब जगह प्रयोजनको समझें, शब्दोंमें न अटकें।

१३१—उपचार, व्यवहार व निश्चयसे अतीत अन्तस्तत्त्वके आश्रयताका संदेश—

उपचारमें और व्यवहारमें यही अन्तर है कि व्यवहारमें तो जो बात जिस ढंगसे कही गई वह उस ढंगमें सत्य है। जैसे कर्मानुभागका उदय पाकर जीवमें कर्मका बंध हुआ, यह एक सत्य घटना है। अब उसमें कोई ऐसी कर्तृत्वबुद्धि रखें कि कर्मने जीवकी परिणति की तो उसका यह कथन मिथ्या है। वह उपचार कथन होगा। यहाँ प्रयोजनके ज्ञाता होकर इस बुद्धिसे दूर हों कर्मद्रव्य पृथक् है, जीवद्रव्य पृथक् है। सबका अपने अपनेमें जुदा-जुदा परिणमन होता है, कोई किसीका परिणमन नहीं करता। निमित्त नैमित्तिक योग तो है, सो व्यवहारदृष्टिमें यह सब यद्यपि भूतार्थ है, सत्य है, जब एक भेदरूपसे, इस परिणतिके रूपसे कथन करते हैं तब व्यवहार भूतार्थ है, लेकिन जब समस्त भेदभावोंसे अतीत द्रव्यपर्यायको निरखते हैं, एक द्रव्यस्वभावका अनुभव करते हैं तो यह अभूतार्थ है, अब यह तो एक समाधिरत पुरुषका काम है। वह हम आप भी कर सकते हैं। हम आपमें भी वैसी पात्रता है। बाहरी बात जो अपने उपयोगमें बसा रखी हैं, वे सब बेकारकी बातें हैं। ऐसा बोध रखकर समाधिमें रत होनेका पौरुष करें। ज्ञानदृष्टि वाले जीवकी एकदम सीधे उस ही ज्ञानस्वभावमें दृष्टि जायगी और जो अज्ञानीजन है उनको योग वाली, पर्याय वाली बात दृष्टिमें आयगी, वह अमुक है यह तमुक है ··· और जो ज्ञानी पुरुष हैं उनकी दृष्टि सीधे भूतार्थपर जायगी। सभी विकल्पोंके प्रसादसे विकल्पसे दूर होकर निजके प्रतापसे कैवल्य स्वरूपका अनुभव प्राप्त होता है।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

१३२—परतत्त्वसे शान्ति मिलनेके भ्रममें स्वभावदृष्टिकी अपात्रता—

शान्तिलाभके लिए अपनेको अपना उपयोग कहाँ लगाना है ? देखिये-उपयोग कहीं न कहीं लगे बिना रहता नहीं है । खास कर पर संसारियोंमें यह उपयोग भ्रमा अब तक, बाहरी पदार्थोंमें उपयोग लगाया, तो उसका फल कुछ अच्छा नहीं निकला, दुःख ही दुःख निकला । कल्पनासे सुख मान लिया था कि इसकी प्रीतिसे मुझे सुख मिलेगा इस वस्तुसे मुझे सुख मिलेगा, ऐसा मान लिया था, लेकिन जब उनमें लगकर चला तो फल मिला अन्तमें दुःख, तो यह निश्चित बात है कि संसारके जितने भी सुख हैं सब सुखोंका फल है अन्तमें दुःख । फिर निरख लो जिस जीवपर, मनुष्यपर हम विश्वास रखे हैं कि वह मेरा है और उससे मुझको सुख शान्ति है, वही मेरा सब कुछ है, तो जीवनमें वह उद्बोध हो जाता है । जब किसीसे सुखकी आशा रखे हैं और हो गया वह प्रतिकूल तो उसके प्रति बड़ा कठिन दुःख होता है । अगर किसीसे अपने सुखकी आशा न हो तो वह दुःखका कारण भी नहीं बनता । इससे अगर कुछ सुखकी आशा कर रखी हो, अपना सम्बंध बना रखा हो और वही हो जाय प्रतिकूल तो देखो कितना दुःखका वातावरण बन जाता है । और, कदाचित मान लो जीवन भर भी कोई विनयशील रहे, आज्ञाकारी रहे, कभी विषादका वह कारण न बने, इतने पर भी अन्त समयमें क्या होता है ? चूँकि उसमें उपयोग लगाया, उसमें सुख माना, भूल तो रहा ही है, भूलका फल तो दुःख ही है, उस उस वियोगके समयमें सारी जिन्दगी भर सुख भोगनेका कसर निकल आती है । इतना दुःख होता है कि आगे भी उसे कष्ट भोगना पड़ता है, इसलिए जो जीवनमें विषयोंसे, उपेक्षाभावमें रहता है, ज्ञाता द्रष्टा रहता है, वह जानता है कि ऐसा होता है पुण्य पापका फल । यहाँ मेरा कुछ नहीं है, ऐसा मानकर अगर चलें तो उसको मरण समयमें क्लेश न होगा । जो विषय सुखोंमें आशक्त रहता है उसको वियोगके समयमें बहुत दुःख होता है ।

१३३—समागत विषयसाधनोंको भिन्न असार व बिनश्वर जान लेनेका परिणाम—

पहले से सही जान लेनेकी बातका फल अच्छा होता है, जान लिया कि उन सबका वियोग होगा, जिन जिनका घरमें संयोग हुआ है उन सबका वियोग होता है, ऐसे पहलेसे अगर मान रहे हों और किसीका वियोग हो जाय तो आप यह कहेंगे कि लो हम तो पहलेसे ही जानते थे, कुछ अनहोनी नहीं हुई है, उससे चोट नहीं आती । और, जिसके बारेमें ऐसा सोच रहे हैं कि मरते तो औरों के हैं, हमारे पुत्र, हमारे घरके लोग, ये कहीं मरनेकी चीज है ? मुखसे बोल जायेंगे, राजा राणा आदि अनित्यभावनाके गायन, किन्तु श्रद्धा उल्टी ही रहती है तो जब कभी वियोग होता है तो उस समय बड़ा कठिन दुःख होता है । अच्छा बताओ—यह फर्क कैसे आ गया कि कोई पुरुष विवाह शादी बारातमें हजार रुपयेकी आतशबाजी फूँक देता है फिर भी वह उसका कष्ट नहीं मानता और कहीं ५) का कोई एक पेन (कलम) गुम जाय तो उसका वह बड़ा कष्ट मानता है । तो उसमें यह अन्तर किस बातका आया ? अरे उस आतशबाजीके बारेमें उसने यह निर्णय कर रखा था कि यह तो फुकनेकी ही चीज है और उस कलमके बारेमें उसने अपना ऐसा कोई निर्णय नहीं बनाया था । कलमके विषयमें तो उसका यही निर्णय बना हुआ था कि यह तो मेरी ही जेबमें रहेगी, मेरे ही हाथमें रहेगी । बस पहले से इस प्रकारका निर्णय बना हुआ होनेके कारण वह ५) के कलमके गुमनेपर तो

दुःख मानता है और हजार रुपये आतशबाजीमें फुक गये के प्रति दुःख नहीं मानता । अगर पहलेसे यह सोच लिया कि जितने भी समागम हैं वे सब विनाशीक हैं, मिट जाने वाले हैं ऐसा, भाव, श्रद्धान निर्णय पहलेसे बना रखा होता तो कष्ट न होता और अगर ऐसा ही सोचता है कोई कि यही तो हमारे सब कुछ है तो वह उनका वियोग होनेपर बड़ा दुःख मानता है । बाहरमें किस जगह उपयोग लगायें कि हमको शान्ति मिले ? तो ऐसा कोई स्थान बाहरमें नहीं है । कहीं कोई आदमी दूसरेके घरमें रहकर गुजारा करना चाहे तो वह कर नहीं सकता । लोग उसे अपने घरसे हटा देंगे । हाँ महिमान हो तो एक–दो दिन ठहर जायें यह बात और है किन्तु परघरमें जानेपर कहीं ठौर नहीं । ठौर है तो अपने निज घरमें । जैसे लोकमें यह बात पाते हैं ऐसे ही यह परमार्थकी बात है । परघरमें शान्ति न मिलेगी । पर घर मायने चेतन, अचेतन, परिग्रह, परिवार आदिक, इनमें उपयोग लगानेसे शान्ति न मिलेगी । निज घरमें आयें तो शान्ति मिलेगी । वह निज घर क्या है ? अपना स्वरूप, याने अपने ही सत्त्वके कारण अपने आप अपनेमें जो कुछ भाव है बस वही ध्रुव है । मेरा सब कुछ है, मेरा प्रदेश, मेरा घर, मेरा आत्मा मेरा धाम है, उसमें उपयोग रमे तो शान्ति है ।

१३४—आत्मस्वभावकी परभिन्नता—

इस कलशमें यह बात बतला रहे है कि वह मेरा शान्तिधाम आत्मस्वभाव कैसा है ? पहले तो स्थानका निर्णय करें । उन नयोंमें से जितने भी अशुद्धनय हैं उनके विषयमें ही स्वभावका स्वीकारत्व इस आत्मस्वभावका अभ्युदय नहीं होने देता । सहयोग तो देते हैं मगर अशुद्धनयकी दृष्टि, आत्मस्वभावके अनुभवपूर्ण दशा नहीं है । देखिये—अनुभवमें न व्यवहारनय है न निश्चय नय है, न द्रव्यार्थिकनय है, न पर्यायार्थिकनय है । मगर यहाँ शुद्धोपयोग होनेसे पहले शुभोपयोग ही मिलेगा, अशुद्धोपयोग न मिलेगा । शुद्धोपयोगकी परिणतिके अनन्तर किसीके अशुभोपयोग अब तक न हुआ, न होगा । तो जैसे शुद्धोपयोगके अनन्तर पूर्वभावी शुभोपयोग अनिवार्य है ऐसे ही आत्मानुभवसे पहले शुद्धनयका आलम्बन अनिवार्य है, मगर आत्मानुभवके समय जैसे अशुद्धनयका प्रयोग नहीं ऐसे ही शुद्धनयका प्रयोग नहीं । मगर उस शुद्धनयके आलम्बनकी हममें पात्रता जगे इसके लिए साधन है अन्य नय । देखो भैया शुद्ध अशुद्धका, निश्चय व्यवहारका अनेक जगह परिवर्तन मिलेगा जिसे इस समय शुद्धनय मान रहे वही थोड़ा अंतरंग दृष्टि मिलने पर अशुद्धनयकी संज्ञा पा लेता है । मगर परम शुद्धनय नहीं बदलता । जिस समय एक अखण्ड ज्ञायक स्वभाव अंतस्तत्त्वकी दृष्टि करेंगे, वह आत्मस्वभाव क्या है याने अपने आपकी बात चल रही है कि मैं क्या हूँ ! मैं आत्मस्वभाव हूँ, जो परभावसे भिन्न हैं मायने मैं पर पदार्थोंसे निराला हूँ, परभाव मायने परका निमित्त पाकर होनेवाले अपने आत्माके भाव, उनसे मैं निराला हूँ, यह बात तो प्रकट समझमें आ रही कि मैं पर पदार्थोंसे निराला हूँ । उनकी सत्ता उनमें है, मेरी सत्ता मुझमें है । उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनमें है मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें है, उनके प्रदेश जुदे, मेरे प्रदेश जुदे । उसके जाननेका उपाय क्या है ? तो उसका सीधा उपाय है प्रदेशोंकी भिन्नता । फिर इसके आधारपर चलें । उनका उत्पाद व्यय ध्रौव्य उनमें है, मेरा उत्पाद व्यय ध्रौव्य मुझमें है, मेरी गुण पर्यायें मुझमें, अन्य वस्तुकी गुण पर्यायें उनमें । प्रकट भिन्नपना है मेरे आत्मस्वरूपका पर पदार्थोंसे और इसी वजहसे पर पदार्थोंके भावोंसे भी भिन्नता है, पर पदार्थोंके गुण उन्हीं में है, मेरे गुण मुझ ही में है ।

१३५—आत्मस्वभावकी परभावभिन्नता—

आत्मत्व परभावोंसे भी भिन्न है और पर पदार्थोंका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जो भाव हैं, जिनका नाम है विभाव, उनसे भी मैं निराला हूँ। जब अपने अपके सहजस्वरूपका निर्णय किया जा रहा है तो वहाँ ये रागद्वेषादिक विकार, कषायें स्थान नहीं पा सकते। ये परभाव हैं,परका निमित्त पाकर हुए हैं। परभावका अर्थ यह है कि पर कर्मविपाकोदयका निमित्त पाकर होने वाला जीवभाव तथा परका उपयोग करनेसे होने वाला भाव। परका उपयोग न लगायें, आश्रयभूत कारणमें कभी उपयोग न भी लगायें तो भी परभाव होते हैं वे होते हैं अव्यक्त, जिसे कहते हैं अबुद्धिपूर्वक। किन्तु बद्ध जो कर्म हैं, जिनका प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग बंध होता है, सो अनुभागका जब उदय हुआ, कहाँ उदय हुआ ? कर्ममें, और उस उदयका प्रभाव किसमें हुआ ? कर्ममें। कर्म अचेतन हैं, नहीं तो वे इससे भी ज्यादह कष्ट पा लेते, क्योंकि साक्षात्, अनुभागका उदय कर्ममें हुआ, जो कर्मकी परिणति है। जैसे दर्पणमें रंग-बिरंग कपड़ेका जो प्रतिविम्ब हुआ है वह वैसा ही हुआ है जैसा कि रंग-बिरंगा कपड़ा है ऐसे ही वह कर्म अनुभागमें रागादि हुआ जैसा ही कर्मोंका बंध हुआ इस जीवमें। जीव बँधा हुआ है ना। उभय बंध, तो उस अनुभागका जैसा उदय हुआ मायने वहाँ जो जो परिणतियाँ हुई, जो जो बात हुई, कर्मने नहीं समझा, लेकिन इस उपयोगमें प्रतिफलन हुआ। प्रतिफलन तक तो अनिवार्य निमित्त नैमित्तिकभाव है, अब ज्ञानी पुरुष है तो वह उस प्रतिफलनमें अपना उपयोग न फसाये, उपेक्षा करे या अपने आत्मस्वरूपको अपने उपयोगमें लगा दे तो हो रहे प्रतिफलन, ऐसी कभी स्थिति होती है, तो कुछ पदोंमें चलते हैं मगर यह कषाय, यह राग, अनुभाग वह सब कर्म विपाकका प्रतिफलन है अतएव परभाव कहलाते हैं। परभावोंसे भिन्न है आत्मस्वभाव, पर पदार्थके गुण पर्यायोंसे भिन्न है और पर पदार्थका निमित्त पाकर स्वयंमें उत्पन्न होने वाले क्रोधादिक भाव, उनसे भी भिन्न है मेरा निरपेक्ष सहजसिद्ध आत्मस्वभाव।

१३६—आत्मस्वभावकी आपूर्णता—

यहाँ कोई कहे कि भाई मैं अब पूरी तरहसे समझ गया आप यह कह रहे कि रागादिक भावोंसे भी भिन्न है वह आत्मा। ऐसा हम मानते हैं और समझ गए कि मैं रागादिक नहीं हूँ किन्तु मैं ज्ञानवाला हूँ, जैसा कि मैं ज्ञान करता रहता हूँ। इसे जाना, खण्ड ज्ञान जिसे बोलते, जो हमारी रात दिनमें जानकारी चल रही है उनका नाम मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बताया है। समझ गए कि मैं यह हूँ। समाधान—भाई अभी नहीं समझे। परभावोंसे भिन्न हूँ यह बात तो सही है, पर मैं अधूरा नहीं हूँ। यह छुटपुट ज्ञानवाला मैं नहीं हूँ, क्योंकि आपूर्ण हूँ, परिपूर्ण ज्ञानवाला हूँ, परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप हूँ। जो मैं हूँ, इसमें किसी भी ढंगसे खण्ड नहीं है, तो मैं मतिज्ञानावरणादिक, श्रुतज्ञानावरणादिक इनके क्षमोपशमसे उद्भूत भावों वाला नहीं हूँ।

१३७—आत्मस्वभावकी आद्यन्तविमुक्तता एवं एकरूपता—

तब कोई सोच सकता है कि लो अब तो बात पूरी आ गई, अब हम खूब समझ गए कि मैं रागद्वेष रूप नहीं हूँ। पर द्रव्यरूप तो हूँ ही नहीं, ये तो प्रकट भिन्न जीव हैं, पर मैं मिथ्यात्वादिक रूप नहीं हूँ और उस छुटपुट ज्ञानरूप भी मैं नहीं हूँ। ये खण्ड ज्ञान, ये अधूरे ज्ञान, इन रूप भी मैं नहीं हूँ। मैं खूब समझ गया कि मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता ऐसा ज्ञान जो त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका जाननहार मैं केवल जाननरूप हूँ, अब मैं समझ

गया अपने स्वभावको । लेकिन अब भी समझे नहीं, जो ऐसा मानता वह भी आत्म-स्वभावको समझा नहीं । वह आत्मस्वभाव तो आदि अन्तसे रहित है । भला कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान वह परिणति क्या आदि अन्तरहित हैं ? आदिरहित तो है नहीं इतना तो सब जानते हैं, अनादिकालसे यह जीव कैसा साधारण ज्ञानमें बस रहा । निगोद जीवोंको कितनासा ज्ञान ? उनकी तो बात छोड़ो, यहाँ भी जीवोंको कितना ज्ञान ? तो वह केवलज्ञान अनादिसे तो नहीं, पर मैं तो अनादिसे हूँ । मेरा स्वभाव भी अनादिसे ही है, स्वभाव और मैं भिन्न-भिन्न चीज नहीं, केवल-ज्ञानकी तो आदि है, मैं अनादि हूँ, इसमेंसे एक बात तो कट गई । मगर अन्तरहित तो है केवलज्ञान ? हाँ अन्तरहित तो है, याने केवलज्ञान कभी नष्ट न हो जायगा । केवलज्ञान मिट जाय और संसारी बने या और बने क्या ऐसा हो लेगा? यह कभी न होगा । लेकिन सूक्ष्मतासे अध्ययन करें तो जो भी शुद्ध परिणमन हैं वे परिणमन प्रतिक्षण होते ही तो रहते हैं । अगर समझें कि एक ही परिणमन है अनन्तकाल तक, तो इसके मायने क्या कि परिणमन हो नहीं रहा, बस एक परिणमन है । बस एक ही है सो वहाँ दिख नहीं रहा अब वह, मगर शुद्ध जीव, शुद्ध द्रव्य पर्यायदृष्टिसे जो है वह तो परिणम रहा है निरन्तर, तो प्रतिक्षणमें केवल एक परिणाम कहलायगा । और प्रतिक्षणमें जो केवल एक परिणाम कहलायगा उसका प्रतिक्षणमें उत्पाद हो रहा तो वहाँ बात क्या हो रही ? वह प्रतिक्षणमें केवलज्ञान, केवलज्ञान बस यही निरन्तर एक धारासे परिणमता हुआ चला जा रहा है । तो सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो प्रतिक्षण केवलज्ञान मिटता जा रहा है । प्रतिक्षण नया-नया केवलज्ञान होता जाता है और उस केवलज्ञानकी धारा यह कभी न मिटेगी । यह अनन्तकाल तक रहेगी । यह बात सही है तो ये केवलज्ञान आदि अन्तविमुक्त नहीं, किन्तु मेरा स्वभाव, मेरा स्वरूप आदि अन्तसे रहित है ।

१३८—आत्मस्वभावकी विलीनसंकल्पविकल्पजालता—

आत्मस्वभाव सुननेपर कोई श्रोता कह देगा कि हाँ अब तो बात हमने पूरी समझ ली कि मैं आत्मस्वभाव क्या हूँ । परभावसे भिन्न हूँ, परिपूर्ण हूँ, आदि अन्तसे रहित हूँ, और, समझे क्या ? अपना स्वभाव । जो अपना स्वभाव है सहजभाव है ऐसा यह मैं एक जो सब पर्यायोंमें रहने वाला एक चैतन्यस्वभाव है वह मैं आत्मा हूँ । ··· समझ लिया मगर अभी उत्तम परिचय नहीं बनता । जैसे कि कोई किसी फल या व्यञ्जनको खा रहा मानलो रसगुल्ला खा रहा । और रोज रोज खानेसे उसकी एक रसगुल्ला खानेकी दिनचर्या सी बन गई है, उसका रस जो रोज-रोज अनुभवता है उसे तो रसका पूरा पता है । वह जानता है कि रसगुल्ला ऐसा मीठा होता है, वह दूसरोंको भी रसगुल्लेके रसका बहुत बहुत प्रकारसे मिठासका परिचय कराता है, एक तो इस प्रकारसे होने वाला ज्ञान और एक ऐसा कि कोई खूब एक तान होकर सब प्रकारके और व्यापार बंद करके आँखें भींचकर बड़े आनन्दके साथ उसका स्वाद लेते हुए इसका ज्ञान ले रहा है, तो बताओ इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंमें अन्तर है ना ? हाँ अन्तर है, क्योंकि एक ज्ञान अनुभवपूर्ण है, एक नहीं । बस ऐसे ही यहाँ समझ लीजिए—हम जो कह रहे हैं कि यह उपयोग अपने उपयोगसे बाहर कुछ चीज स्थापित करके समझ रहा है कि यह आत्मस्वभाव परभावोंसे भिन्न है, परिपूर्ण है, विशुद्ध सनातन है, एक रूप है । फिर यदि कभी एकरस होकर, एकतान होकर ज्ञान ज्ञानके सहज स्वरूपको जान रहा है तो उस समय ज्ञान ज्ञेयकी एकता हो जाती । ऐसे ही ज्ञान ज्ञेयकी अभेद स्थिति बिना समझ रहा है यह सब, तो कहते हैं कि समझ नहीं है । इससे आगे बढ़ो । कहाँ ? आत्मानुभवमें, देखो उस समयकी जो स्थिति है वह संकल्प

विकल्प पक्ष जालसे रहित एक है। इतना भी विकल्प जहाँ नहीं रहता, केवल एक चित्स्वरूप उस अनुभवमें अनुभवता है उस अनुभूतिके विषयको पश्चात् समझता कि यह है आत्मस्वभाव।

१३६—आत्मस्वभावके अनुभवके लिये शुद्धनयकी कृपा—

इस आत्मस्वभावका उदय कौन कराता? शुद्धनय। परंतु आत्मानुभव तो उस शुद्धनयसे भी परे है। ऐसा यहाँ आत्मस्वभाव कहीं अनुभवमें आये वह समय आजकल भी मिल सकता है उसका कोई निषेध नहीं है। हाँ आजकल सम्यक्चारित्रकी परिपूर्णताका तो निषेध है, पर सम्यग्दर्शन और आत्मानुभवका निषेध नहीं है। ये हो सकते हैं हमको यह स्थिति बनाना है। मोटे रूपमें यों कह लीजिये कि उसका ज्ञान जैसे दुनिया भरके पदार्थोंको जाननेमें लगाते हैं, ऐसा न करके यह ज्ञान अपने ही स्रोतसे उठावें। यह परिणति, यह समझ कहाँसे उठती? किसकी परिणति? कौन स्रोत है? उस ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानस्वभावको यह ज्ञान जानने लगा। देखिये—जैसे आत्मस्वभावके जाननेकी बात कही जा रही है, ज्ञान ऐसा अलग खड़ा, आत्मस्वभावको सामने रख लिया, इस तरह मेल करके परमार्थतः इस आत्मस्वभावका जानना नहीं बनता किंतु जानना बनता है तो और ही प्रकार। मगर, जिसकी चर्चा की जा रही है वह आत्मस्वभावका परिचय अनुभूतिमें मिलता है। निर्विकल्प स्थिति, एक अनुपम, अलौकिक आनन्दकी प्रतीतिको लाता हुआ ही अनुभव जगता है। वेदान्तकी एक जागदीशी टीकामें छोटी सी बात कही है कि कोई एक घर नई-नई बहू आयी। अभी कुछ ही माह पूर्व विवाह हुआ था। उसके पहली बार गर्भ रह गया। जब संतानोत्पत्तिका समय आया तो वह बहू अपनी साससे बोली सास जी, देखो जब संतान पैदा होने लगे तो मुझे जगा देना। कहीं ऐसा न हो कि मेरे सोते हुए में ही हो जाय और पता न पड़े तो वहाँ सास बोली—अरी बहू, तू इसकी कुछ चिन्ता न कर, जब संतान उत्पन्न होगा तो तुझे जगाता हुआ ही उत्पन्न होगा, तो ऐसे ही समझो कि यह ज्ञान जब किसीके उत्पन्न होता है तो आनन्दको जगाता हुआ ही, उसको आनन्दित करता हुआ ही उत्पन्न होता है। याने वहाँ ज्ञान और आनन्द, सहज होता है। ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें ले तो वहाँ आनन्द सहज है, कृत्रिम नहीं, ऐसे आनन्दका अनुभव कराता हुआ यह आत्मानुभव उद्गत होता है, बस उस समयमें असली रूपमें समझा इस जीवने कि मैं यह हूँ, और फिर उसकी यादमें वह सारी जिन्दगी प्रसन्न रहता है। उसका समस्त पर तत्त्वोंसे कटाव हो गया और वह अपने आपमें आनन्दविभोर रहता है। उसकी यादमें ही कर्म निर्जरा चल रही है फिर अनुभूतिका तो प्रताप अपूर्व है। जिन जिन प्रकृतियोंकी निर्जरा सम्यक्त्वमें है आत्माके अनुभवके समय, तो और समयसे कुछ विशेषता भी हो जाती है। तो मैं क्या हूँ, इसका सारा निर्णय इसकी याद, हमारी स्थितिको मोड़ सकती है। हम संसारमें न रुलें, संसारमें जन्म मरण न पायें इसका अगर कोई उपाय है तो प्रारम्भिक यह ही उपाय है कि मैं क्या हूँ, इसका सही-सही अपने आपमें निर्णय बना लें। मैं ऐसा आत्मस्वभावी हूँ, जो पर पदार्थोंसे जुदा, परका निमित्त पाकर होने वाले विभावोंसे जुदा परिपूर्ण आदि अन्त रहित केवल है, सब पर्यायोंको जानने वाला है, सर्वत्र है, ध्रुव है, इतने भी विकल्पसे रहित एक चैतन्य स्वभाव मात्र मैं हूँ। ऐसा आत्मस्वभावको प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय प्रकट होता है। या यह शुद्धनय ऐसे आत्मस्वभावको अभ्युदित करता है, इसको ज्ञानमें लेता है। बस इसीको कहा समयसार, कारणसमयसार, सहज परमात्मतत्त्व, सहज परमात्मस्वरूप ज्ञायक स्वभाव, अंतस्तत्त्व। बस इस रूप अपनेको मानना कि यह मैं हूँ, ऐसा समरस बनना कि आत्मस्वरूपके बाहरमें किसीपर पदार्थका कुछ भी परिणमन चले, कोई निन्दा करे, कोई अपमान

करे, कोई कैसा ही चले, उसका मेरेपर कुछ असर नहीं पड़े, विषाद न आये चित्तमें । बताओ हमारी कोई दुर्गति कर रहा क्या ? कोई दुर्गति नहीं कर रहा ? मेरा मैं ही जिम्मेदार हूँ । मेरा निर्माता अन्य नहीं, मेरा सब कुछ मुझमें मेरेसे चल रहा, दूसरा कोई पदार्थ मेरे आश्रय नहीं । हर जगह यही बात समझना तत्त्वनिर्णयमें ।

१४०—निमित्तनैमित्तिकयोग एवं वस्तुस्वातंत्र्यके परिचयसे स्वभावदृष्टि पानेका प्रयोग करनेका अनुरोध—

निमित्तका प्रयोग दो स्थानोंके लिए किया जाता है वास्तविक निमित्तके लिए और आश्रयभूत कारणके लिए । यह दुविधा केवल जीवके विभागोंके प्रसंगकी चल रही है । अचेतन अचेतन पदार्थमें परस्पर दो बातें मिलती हैं । निमित्त और उपादान । वहां तीसरा आश्रयभूत कारण नहीं मिलता । चेतन अचेतनका परस्परमें निमित्त नैमित्तिक योगवश परिणमन चलता । तो वहां दो ही बातें होती हैं – उपादान और निमित्त मगर, चेतनमें उस विभाव परिणामके आश्रयभूतमें उपयोग चलता तो उसमें तीन बातें होती हैं– (१) उपादान (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत । आश्रयभूत कारण मिलें तो विभाव कार्य हो, ऐसा नियम नहीं । इसलिए ये निमित्त नहीं कहलाते, किन्तु व्यक्त विभावके आश्रयभूत कारण हैं, वहां निमित्त है कर्मदशा । उसका अन्वय व्यतिरेक चलता है । तो चलो वह रहे, यह रहे, कुछ रहे । ज्ञानी अपने उपयोगको परभावसे भिन्न इस अंतस्तत्त्वकी ओर ले जाता है, उसके उपयोगमें वही, वही समाया है, उसका ही आनन्द चख रहा है, इसी में ही तृप्त हो रहा है । अपना अभ्यास हर उपायों द्वारा ऐसा होना चाहिए कि मैं यह समझ लूं कि यह मैं आत्मतत्त्व हूं, इसके लिए विविध परिचयका प्रयोग करें, आचार्य संतोंने जो वर्णन किया है वे शब्द हमें यह ही शिक्षा देते हैं कि निश्चयनयसे तो यह बात सुविदित होती ही है और निमित्तनैमित्तिक योगके वर्णनसे यह ही बात हमें प्राप्त होती है कि ये कषायें मैं नहीं हूं, ये तो औपाधिक चीजें हैं, पुद्गलकर्मनिष्पन्न हैं, जिसे समझदारोंने अजीवाधिकारमें, बंधाधिकारमें बहुत–बहुत वर्णनके साथ कहा, एक अपने आत्मस्वभावको परखनेके लिए, जो निमित्त नैमित्तिक योगकी बात सुनी उसकी सहायता लेना है स्वभावदर्शन करनेके प्रसंगमें कि यह मैं नहीं हूं । मैं तो एक शुद्ध चैनन्यमात्र हूं, एक निश्चयदृष्टिसे तथ्यका निर्णय करें तो वहाँ एक ही द्रव्य नजरमें आयगा । तो यह परिचय स्वभाव दर्शनकी ओर ले जायगा । शास्त्रवर्णन से लाभ उठाना और जिनवाणीमें कही हुई बातमें शंका न करना, सबका प्रयोजन अपने आत्मस्वभावको दिखा देनेका है, तब फिर यह मानकर चलें कि मैं क्या हूँ । ध्यान सहज स्वरूपका रखना कल्याणका उपाय है ।

नहि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरि तरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात् जगदपगतमोहीभय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

१४१—आत्मस्वभावमें बद्धत्वकी अप्रतिष्ठा—

केवल आत्मस्वरूपका विचार चल रहा है याने यह आत्मा स्वरूपसे अपने आप अपनेमें सम्बन्ध बिना अपने ही गुणोंमें किस प्रकार है, किस स्वभावरूप है, इस बातका वर्णन चल रहा है । इससे पहले कलशमें बताया था कि आत्मस्वभाव परभावोंसे भिन्न है, परिपूर्ण है, अनादि अनन्त है और समस्त संकल्प विकल्प जालसे रहित है, यह बात कही गई, यह बात निरखी गई एक दृष्टिसे । जब केवल आत्मतत्त्वका, आत्मद्रव्यका, स्वभावका दर्शन करनेके लिए चल रहा हो उपयोग, उपयोगमें इस प्रकार का यह आत्मतत्त्व दिखता है जो आत्माके स्वयंकी गाँठकी बात है । पर वर्तमान हालत इस संसार अवस्थामें क्या हो रही है ? जो गुजर रही, क्या उसको कोई मना कर सकता ? गुजर रही । क्या

गुजर रही ? शरीरमें बँधे हैं, कर्ममें बंधे हैं, यह नानारूप हो रहा है, चारों गतियोंका परिभ्रमण चल रहा है, इसके भीतर सर्दी, गर्मी आदिक उठ रहे हैं, ये सब बातें इसमें हो रही हैं कि नहीं इस समय ? हो तो रही हैं, यह कोई असत्य बात तो नहीं है, लेकिन जब आत्मस्वभावको देखते हैं इस बातकी परख करते हैं कि मेरा वह आत्मस्वरूप अपने आपके स्वभावसे है क्या ? तो उस निगाहमें यह वार्ता अभूतार्थ जचती है ।

१४२—भूतार्थ व अभूतार्थका विशुद्धार्थ—

एक बात और यहाँ ध्यानमें देनेकी है । भूतार्थ और अभूतार्थका शुद्ध अर्थ यह नहीं है कि सत्यार्थ और असत्यार्थ । भूतार्थ मायने सत्य, अभूतार्थ मायने झूठ, यह अर्थ इन शब्दोंमें नहीं है । हाँ यह भी अर्थ हो सकता है जब उस प्रकारका प्रकरण बने तो, भूतार्थ और अभूतार्थ का यहाँ शब्दार्थ क्या है ? स्वयं भूतः अर्थः अपने आप होने वाला तत्त्व, तो अर्थ मायने ज्ञेय जो अपने आप निरपेक्षतया केवलमें बात हो उसे कहते हैं भूतार्थ और अभूतार्थ मायने ऐसा न होना, याने जो स्वयं अपने आपमें केवलमें निरपेक्षतया न हो उसे कहते हैं अभूतार्थ । जो स्वयं केवलमें निरपेक्षतया न हो और जीवमें किसी सम्बंधसे कोई निमित्त पाकर किसी परिस्थितिमें हो तो ऐसा होना मात्र स्वप्न जैसी कल्पना भरकी बात नहीं है, यहाँ तो यह प्राणी कर्मबंधसे बँधा है जो भी बंध है, जीव इस शरीरमें रह रहा है, बस रहा है, तो यह बात क्या झूठ है, क्या मात्र कल्पनाकी बात है । जैसे स्वप्नमें कल्पना उठ गई कि अरे नदी बह रही, पर है कुछ नहीं, स्वप्नमें कल्पना उठ गई कि मैं जंगलमें हूँ, और मेरेसे साँप लिपट गया, और बात ऐसी है नहीं, पड़े तो है आरामके कमरेमें, डिल्लो पिल्लोमें, अच्छे आरामके घरमें पड़े हैं, क्या इस तरहकी कल्पना भर है कि मैं शरीरमें बस रहा हूँ या शरीरमें आत्मा है ? जरा शरीर वहीं रहने दो और थोड़ा दो हाथ आगे आप आ जावो । तो क्या आप आ सकेंगे ? नहीं आ सकते । इसलिए इसे असत्यार्थ तो न कहेंगे मगर अभूतार्थ कहेंगे, क्योंकि स्वयं केवलमें निरपेक्षतया उस एक द्रव्यमें केवल होने वाली बात नहीं है । जो स्वयं केवलमें निरपेक्षतया उस एक द्रव्यमें होने वाली बात नहीं हैं, वह है अभूतार्थ । लेकिन जिसको रुचि है, एक आत्मस्वरूपकी धुन है और उस ही की नजर रखता है वही रुचिमें है, वही देख रहा है, तो जब इस ओर नजर आती है तो कहते हैं कि वह सब मिथ्या है, मिथ्या होओ याने मिथ्याका भी अर्थ क्या है ? मिथ्याका अर्थ झूठ नहीं है मगर प्रसिद्धि तो यहो है कि मिथ्या मायने झूठ । मिथ्या मायने झूठ नहीं । तो क्या है मिथ्याका अर्थ ? संयोगवाली बात । मिथ् धातुसे बना है मिथ्या मिथ् संश्लेषणे मिथ्याका अर्थ है संश्लेष, जिसका एक शब्द बना मैथुन । तो चूँकि अध्यात्मप्रेमियों द्वारा संयोगमें हुआने वाली बात झूठ समझी गई इसलिए मिथ्या शब्दका भी अर्थ झूठ बन गया । शब्दार्थसे देखो तो मतलब यह है कि शुद्ध तत्त्वके प्रेमियोंको संयोगकी बात तो है असत्य और केवलकी बात है उनके लिए सत्य । इस तरह तो बात चलती, मगर यह अर्थ मुख्यतया यों नहीं बनाना कि संयोगकी रुचि वालेको फिर सत्य क्या, असत्य क्या ? उनके लिए तो एकदम पन्ना पलट जायगा । इसलिए भूतार्थका अर्थ यह लेना कि केवल स्वयंमें निरपेक्षतया अपने आप होनेवाला जो भाव है सो भूतार्थ है और स्वयंमें निरपेक्षतया जो नहीं बन सकता उसे कहते हैं अभूतार्थ । भूतार्थ अभूतार्थका अर्थ क्या है कि जो पर उपाधिके सम्बन्धमें बनता हो वह तो अभूतार्थ और जो निरुपाधिकभाव है वह है भूतार्थ । संयोगको ले करके जो बात कही जाय वह है अभूतार्थ, और जो संयोग बिना केवल एकमें निरखकर जो बात समझी जाय वह है भूतार्थ ।

१४३—दृष्टान्तपूर्वक आत्मस्वभावमें बद्धस्पृष्टवत्की भूतार्थता व अभूतार्थताका निरखन—

भूतार्थ व अभूतार्थके विशुद्धार्थके साथ सत्यार्थ, असत्यार्थकी बात अगर लावेंगे तो एक दृष्टान्त में देखें—कमलिनीका पत्ता तालाबमें है और वह जलसे ऊपर तैरता है, उसपर कुछ जलकी बूँदी भी तैरा करती हैं, अब यह बताओ कि कमलिनीका पत्ता पानीसे छुवा हुआ है या नहीं ? चाहे पत्ता भीतर भी पड़ा हो, बतलाओ पानीसे छुआ है या नहीं तो, संयोगदृष्टिसे तो दोनोंको देख रहे हैं सो कहना पड़ेगा कि हाँ पानीसे छुवा हुआ है । तो जब संयोग दृष्टि करके देखा तो पानीसे छुवा हुआ है वह पत्ता, यह भूतार्थ है, किन्तु कमलनीके पत्तेके स्वभावको निरखकर कहा जाय तो केवल पत्तेको ही निरखा जा रहा और वहाँ भी पत्तेके स्वभावकी दृष्टिसे निरखा जा रहा है । तो कहा जायगा पानीसे छुवा हुआ है, यह बात कहना अभूतार्थ है ? सही नहीं है बात । स्वयं एकमें स्पर्श नहीं परका सो यों भी अभूतार्थ है जलस्पृष्टत्व कमलिनीके पत्तोंको क्यों बोला जा रहा इस उदाहरणमें ? और पत्तोंमें भी, स्वभाव तो सबमें है यही । मगर संयोग पाकर पानीको ग्रहण करे यह बात कुछ ज्यादह है और पत्तोंमें, इसमें नहीं है । इसमें तो पानीकी बूँद ऊपर ऊपर लुढ़कती रहती है और बादमें वह पत्ता बड़ा सूखा सा मिलता है । पर एक दृष्टान्तकी बातमें पत्तेके स्वभावको देखें तो पत्तेमें जलका प्रवेश है, यह बात अभूतार्थ है, जब संयोगदृष्टिसे देखें तो यह बात ठीक है, तो यही बात आत्मामें लीजिये । आत्माको, इस जीवको जब संयोगदृष्टिमें देखते वर्तमान परिस्थितिको देखते, तो यह कर्मोंसे बँधा है, शरीरसे छुवा है, स्पृष्ट है, यह बात भूतार्थ, सही है पर एक जीव द्रव्यके स्वभावको देखते हैं तो जो भी सत् है वह दूसरेकी दयापर सत् नहीं है, वह स्वयं सत् है । स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है स्वयं अपने स्वभावसे ही, जब ऐसी तथ्यकी दृष्टि करते हैं तो जीवमें कर्म बँधे हैं, शरीर स्पृष्ट है क्या यह बात सत्य है ? जब केवलकी दृष्टिसे देखा, स्वभाव की दृष्टिसे देखा तो बँधा हुवा है, यह अभूतार्थ है । तो आत्मस्वभावमें बद्धत्व व स्पष्टत्व ये प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते । जैसे कोई महिमान आ गया आपके घरमें, तो आ गया, आरामसे रह रहा, मगर आपके घरमें वह प्रतिष्ठाको प्राप्त न होगा । आप कहेंगे कि आदर तो हो रहा उसका बहुत ? भले ही हो, मगर आपके घरमें अवस्थित, प्रतिष्ठित, अधिष्ठित नहीं रह सकता, क्योंकि वह महिमान है । महिमानका अर्थ है महिमा न, याने जिसकी महिमा नहीं है कुछ उसको महिमान कहते हैं ।

१४४—भूतार्थ दृष्टिसे स्वयंमें भूतार्थको निरखनेमें हितपंथका लाभ—

जीवको हित किस दृष्टिमें मिलता है ? इस ढंगसे ज्ञान पौरुष करने जब चलेंगे तो एक ही बात निर्णय और लक्ष्यमें रहेगी कि आत्मस्वभावकी दृष्टि ही बहुत काल निरन्तर रहे । तो उसमें हमको हित का मार्ग मिलता है । जो परिस्थितिमें गुजर रहा विकार, रागद्वेष, पर पदार्थोंके प्रति प्रेम ये सब अनर्थ व्यर्थ दुरर्थ अहितकी चीजें हैं, क्या मिलेगा इनसे । चार दिनको घुल मिलकर बोल रहे हैं, अन्तमें वियोग होगा यहाँका यह चार दिनका संग परिग्रह इस जीवको क्या लाभ देगा ? इससे विकारोंमें, विभावोंमें, इन बातोंमें होड़ नहीं करनी । परिस्थिति वश क्या गुजर रहा है ? ज्ञाता दृष्टा रहो, गुजर जावो उन परिस्थितियोंमें । अपनेमें एक अन्तः पौरुष करो ज्ञानस्वरूपमें मग्न होनेका । इसको ही जानता हुआ संकल्प विकल्पसे दूर हो, ऐसी स्थिति मुझको मिले, यह निर्णय और लक्ष्य रहना चाहिए । चाहे कैसी ही परिस्थितिमें गुजर रहे हों, अच्छा तो आत्मा कर्मसे बद्ध है, शरीरसे स्पृष्ट है, यह भूतार्थ है, चल रही है यही बात, मगर जब इन सबको झिटककर जैसी ही दृष्टि अपने

आपके जीवस्वभावमें दी, केवलको देखा, ज्ञानबलसे ही देखा जाता तो बस वहाँ बद्धत्व और स्पृष्टत्व वह बात अभूतार्थ है। होकर भी मना करना यह भी तो कभी कर्तव्य होता कि नहीं। यह जीव अभी संयोगदृष्टिसे देखा गया, वर्तमान परिस्थितिकी दृष्टिसे देखा गया, निमितनैमित्तिक योग में जो घटना चल रही है उस दृष्टिसे देखा गया यह आत्मा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि खोटी खोटी पर्यायें धारण करता फिर रहा। समस्त खोंटी पर्यायोंको पार करके मैं मनुष्यकी पर्यायमें आया हूँ। मैं मनुष्य ही अपनेको मानता हूँ, इसके लिए यह मैं मैं नहीं करना था? अरे ये तो नाना दशायें बन रही है मगर केवल जीवद्रव्यके स्वभावको देखें तो वह एक चेतना। उस चैतन्य स्वरूपको देखो तो नानापन नहीं है। यहाँ जितना भी एक चैतन्यस्वरूप है। मनुष्य जा रहा है सड़कसे और वहाँ धूप भी है, पेड़ भी खड़े हैं, नाना प्रकारके पेड़ोंकी छाया पड़ती है। कभी अंधेरा बन गया, कभी उजेला बन गया, अन्य अन्य बन गए। मनुष्य भी तो देखो जाड़ेके दिनोंमें कान्ति-हीन, बरषातमें सड़ा रद्दी सा, और गर्मीके दिनोंमें कान्तिमान सा मालूम पड़ता है। तो उपाधियों से यह चूँकि नरक तिर्यञ्च अधिक गतियोंमें चल रहा, पर जब एक जीवद्रव्यके स्वभावको निरखते हैं तो वह नानारूप नहीं है, वह एक चैतन्यस्वरूप है। यह नानारूपता इस जीव द्रव्यके स्वभावमें प्रतिष्ठाको नहीं पाती। हो रहा है ना निमित्त नैमित्तिक योग। खूब परख लो,हो तो रहा अपने अपनेमें परिणमन, मगर कोई विकार पर उपाधिके सन्निधान बिना नहीं होता इसलिए वह परभाव है, मेरे स्वभावमें कोई भी संयोगी भाव प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होता। शुद्धनयकी दृष्टिसे अपने आपके स्वभावका अवलोकन करना यह हितपंथका एक तरीका है।

१४५—विभावोंकी परभावताकी प्रसिद्धि—

अग्नि जल रही और उसपर पानी भरे बर्तन रख दिए गए। पानी गरम हो गया। गरम पानी ही हुआ। पानीने अपनी शीत पर्यायको छोड़कर उष्णता पर्याय ग्रहण की, लेकिन अग्निकी उष्णताके सान्निध्य बिना तो पानी गरम न हो सका। इस तरह हम जान जाते उपादानका रहना। ऐसे ही जीवका रागादिक निज स्वभाव नहीं है, इस बातको जाननेका भली भाँति तरीका यह बताया गया है तो उसका यह निर्णय बना लीजिए कि ये रागद्वेष विषयकषाय आदिक विकार ये कर्म अनुभागका उदय जिसमें हुआ ऐसी कर्मदशाका सन्निधान पाकर हुआ है, उसका यह प्रतिफलन है, यह तो अनिवारित बात है, आप जैसी दृष्टि लगायें वैसी बात समझमें आयगी। संयोगी दृष्टिसे देखें तो यह सब बात भूतार्थ है। अब जब आत्मानुभव करने बैठें और कदाचित् ऐसी बात आ जाय कि इस ज्ञानमें यह सहज ज्ञानस्वरूप अनुभवमें आये, वही ज्ञानमें आये। ज्ञान विकल्पजालसे रहित एक स्थिति बन जाय सहज ज्ञान आनंदको भोगनेवाली। ऐसी स्थिति होनेपर ज्ञानमें ज्ञानामृतका पान हो रहा। ऐसी स्थिति होनेपर भी क्या संसारी जीवोंके उन कर्मानुभागोंका प्रतिफलन बंद नहीं हो गया। वह बराबर निरन्तर जैसा जैसा उदय चल रहा कर्ममें वैसा-वैसा प्रतिफलन भी निरन्तर चल रहा परन्तु उपयोग है सहज ज्ञानस्वरूपकी ओर। अनुभवमें चल रहा है सहज आत्मतत्त्व। इसलिए उस समयमें यह आश्रयभूत कारणोंपर ज्ञानी अपनी दृष्टि नहीं दे पा रहा है तो यहाँ जब जीवकी द्रव्यस्वभावपर दृष्टि है तो उसके अनुभवमें बस यह ही अंतस्तत्त्व भूतार्थ है, बाकी रागद्वेष विषय कषाय अभूतार्थ है, साथ ही जो संयोगी पदार्थ है, संयोगजन्यभाव है वह मायारूप है, किसी भी पदार्थका ऐसा स्वरूप नहीं है। यह राग जीवकी परिणति होकर भी क्या जीवका स्वभाव है,

क्या जीवमें स्वयं अपने आप परनिमित्त सन्निधान बिना हुआ है क्या ? अगर परनिमित्त सन्निधान बिना विकार होने लगें तो मुक्त होनेपर भी जब कभी भी विकार हो बैठे सिद्ध भगवंतोंके । भली-भाँति आचार्य संतोंने दर्शनशास्त्रमें इस बातको अच्छी तरह समझा दिया कि ये परभाव है, हाँ, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं करता । विप्रभाव किस तरह ग्रहण करता है उपादान ? अपना विप्रभाव इस तरह उपादान प्रकट करता है, कि कर्मनिमित्तका सन्निधान पाकर यह अपनी परिणति से परिणम जाता, अपनेमें उपादान प्रभाव बना लेता है । यह औपाधिक है इसलिए परभाव है, इन परभावोंमें रुचि नहीं करना चाहिए । ये विभाव मेरा स्वरूप नहीं । मेरा स्वभाव तो एक सहज चैतन्यस्वरूप है, जो अपने आपमें है, जो अपना प्राण है उस अंतस्तत्त्वका आश्रय किये बिना, अपनेको चैतन्यस्वरूपमात्र अंगीकार किए बिना मोक्षमार्ग नहीं मिलता । तो जितने भी भाव हैं, औपाधिक हैं वे मेरे आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होते ।

१४६—आत्माके स्वक्षेत्रमें रागादिविकारोंकी संभवता होनेपर भी आत्मस्वरूपमें विकारोंकी असंभवता—

मेरेमें राग है कि नहीं है ? अच्छा चलो बताओ मेरे स्वरूपमें राग है कि नहीं ? नहीं । तो लो यहीं अन्तर आ गया ? अब देखो—वह मैं स्वरूपसे कुछ अलग चीज हूँ क्या । जो यह कह बैठे कि अभी तो मेरेमें राग है और स्वरूपकी बात जब कहे तो कहे कि मेरेमें राग नहीं है । मैं ही इस रूप परिणम रहा हूँ, पर स्वरूपदर्शनकी विधि शुद्धनयसे होती है । तो यह कर्मसे बँधा है, शरीरसे बँधा है, यह नाना गतियोंरूप है, इसमें ज्ञानदर्शन आदिक अनेक गुण हैं, यह रागादिक विकाररूप परिणम रहा है । ये सारी बातें भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं । स्वप्नमें जैसे कल्पना जग जाती लोगोंके कि मैं पहाड़ पर चढ़ रहा हूँ, ऐसी यहाँ यह कल्पना मात्र नहीं हैं ? अरे स्वप्नमें ही तो ऐसा देख रहे, लेटे तो हो अच्छे मकानमें, पर एक सोते हुएमें पहाड़पर चढ़नेका स्वप्न आया । तो जैसे स्वप्नमें बस झूठी कल्पनायें चलती, सत्य कहीं कुछ नहीं, ऐसे ही यहाँ यह सब जो संयोग दशा है स्वप्नकी तरह मिथ्या नहीं है । ये उपाधि सम्बन्धसे होने वाली बातें हैं अतः ये मेरे जीवस्वभावमें नहीं है, केवल एक जीव द्रव्यके स्वभावको देख करके निर्णय किया । यह निर्णय आया कि बद्धस्पृष्टत्व आदिक भाव अभूताथ हैं, ये मेरेमें प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं हो सकते । फिर क्या ? ये सब ऊपर ऊपर तैरते हैं । ऊपर तैरने का मतलब क्या—कि यह संयोग अवस्थामें पर्यायरूप है, पर्यायको कहते हैं ऊपरी चीज, और स्वभाव को कहते हैं आन्तरिक चीज । जैसे कहते हैं अन्तर यही ऊपरी जान, वे बिराग यहँ राग बितान । प्रभुमें और मुझमें अन्तर है तो ऊपरी अन्तर है वह ऊपरी अन्तर क्या ? ··· बस यही कि वे विराग हैं और यहाँ रागका फैलाव है । जैसे भींटमें कलई पोत दिया, या पानीमें तैलके कुछ बूँद डाल दिया । क्या इस तरह ये राग मुझमें फैल रहे ? अरे ऐसा नहीं है, वह पर्याय है, जीवके चारित्र गुणकी पर्याय है, लेकिन ऊपरी अन्तर है, क्योंकि पर्याय सदा साथ नहीं रहता । तो बाह्य और आन्तरिक बात यह अनेकों जगह अपेक्षाओंसे समझी जाती । तो चूँकि विकार संयोगज भाव हैं, नैमित्तिक भाव हैं, पर्यायमें आये हैं, सो ये जीवस्वभावमें प्रतिष्ठाको नहीं पाते ।

१४७—स्वभावदृष्टिसे दृष्ट अन्तस्तत्त्वके आश्रयमें कल्याण—

जीवद्रव्यके स्वभावको देखें । मैं वह हूँ जो हैं भगवान । जो मैं हूँ वह हैं भगवान ! स्वरूपदृष्टिसे देखें । मुझमें और भगवानमें क्या अन्तर है ? प्रत्येक पदार्थ सत् है ना । सो अपने आप सत् हैं । मैं भी स्वरूपमय सर्वस्व जीव अपने आपमें हूँ । उस ही अंतस्तत्त्वकी दृष्टिमें वह हूँ जो

हैं भगवान। जो मैं हूँ वह हैं भगवान। मगर पर्याय दृष्टिसे देखें क्या गुजर रहा है, अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान। तो यहीं भूतार्थ और अभूतार्थ ये दोनों बातें आ गई। अपना परिचय सब ओरसे समझिये। आचार्य संतोंने जितने भी वचन लिखे उनमें यह नहीं कहा जा सकता कि यह व्यवहारकी बात है इसलिए झूठ है, इसमें एकान्त अद्वैतकी बात नहीं है इसलिए झूठ है, ऐसा निर्णय न करना, नहीं तो समयसार ग्रन्थके चार छह पन्ने छोड़कर समयसार ग्रन्थके भी सब प्रकरण व अन्य ग्रन्थ बेकार हो जायेंगे। अगर वह सब झूठ है तो फिर झूठको क्यों रखते ? धवल, जयधवल, महाधवल आदि महान महान ग्रन्थ पडे हैं फिर तो वे सब बेकार हो जायेंगे। अरे इन सब ग्रन्थोंमें जिसका उपयोग प्रवेश करे उसे स्वभावके दर्शनके लिए बड़ी प्रेरणा मिलती है। कर्म कर्ममें परिणमन कर रहा, जीव-जीवमें परिणमन कर रहा, मगर कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है कि वहाँ यह अज्ञानी जीव बाह्य वस्तुओंका आश्रय लेता है, और अपनी कषायको व्यक्त करता है यह तरीका विकारो-द्भवका जिसे ज्ञात हो गया वह प्रतिफलनमें क्यों चिपकेगा ? अपनी उपयोगमें वह विकार क्यों अपनायगा ? आश्रयभूत कारणोंमें क्यों रहेगा ? वह तो उससे उपेक्षा करके शुद्धदृष्टिके लिए अनुरागी बनेगा। मैं चैतन्यस्वभाव हूँ। गुजरे जो कुछ बाहरमें गुजरे। जो जैसा चलता हो चले, मेरे लिए अन्य कोई मेरा साथी नहीं, ईश्वर भी साथी नहीं, सबका आश्रय तजकर जो अपना परम पद है अनादि अनन्त अहेतुक, जो एक चिद्रूप चैतन्यस्वरूप है, वह शरण्य है। वह किस तरह जान जाता ? कि जैसे एक सर्राफ सोनेके डलेको कसोटीमें कसकर खूब उसकी परीक्षा करके बता देता है कि इसमें तो ७५ प्रतिशत शुद्ध सोना है, ठीक इसी तरह नाना परिणतियोंमें चलते हुए इस जीवमें भी ज्ञानसे परीक्षा करते हैं तो बस परख बन जाती है कि यह है मेरा स्वरूप।

१४८—आत्मनिर्णयका महत्त्व—

देखो भैया ! मैं के निर्णयका ही सारा खेल है, जगतमें कोई जीव रुले तो उसका साधन इस मैं का निर्णय है। संसारसे मुक्त हो उसका भी मूल साधन उस मैं का निर्णय है। जहाँ परमें मैं का निर्णय चल रहा वह संसारमें रुलता है और जो निजमें मैं का निर्णय कर रहा वह संसारसे मुक्त हो जाता है। देखिये—व्यवहारमें कही हुई बात झूठ न समझना, हाँ जो बात उपचारसे कही जाय उन्हीं शब्दोंमें उसको उपादानरूपमें सत्य समझा जाय तो वह उपचारकी बात है, झूठ है। जहाँ संकेत हो कि व्यवहारका यह अर्थ लेना जैसा कहा वैसा नहीं है, तो यह कहना किस व्यवहारकी बात है, यह भी तो विवेक करे। उपचारकी बात है वह। जैसे आकका दूध होता है जहरीला, जिससे जीवोंका प्राणघात भी हो जाता तो उसे देखकर कोई कहे कि देखो दूध नहीं पीना चाहिए। दूध पीनेसे जीवोंका प्राणघात भी हो जाता है, तो उसका यह एकान्तकथन करना झूठ है। ऐसे ही व्यवहार शब्दका प्रयोग व्यवहार व उपचार दोनोंके लिए होता है। तब उपचार नामक व्यवहारको असत्य पाकर यों घोषणा करना कि सब व्यवहार असत्य हैं यह तो उन्मत्तवत् चेष्टा है। उपचारसे कही हुई बातको उपचारकी भाषामें ही समझना चाहिए। यदि उसे कोई व्यवहारकी बात या निश्चयकी बात समझ ले तो वह झूठ है। तो आश्रय तो लेना है हमें स्वभावका ना। तो निश्चय भाषामें बढ़कर एक द्रव्यके स्वभावको देखो मैं एक चैतन्य स्वरूप हूँ, ऐसा अनुभव बनायें, ऐसी अपने आपमें रुचि करें, अनुभव बनायें, बस मैं चैतन्यमात्र हूँ। ओहो, यह जिसकी धुन हो जाती है उसको अन्य जीवोंसे घृणा नहीं होती। अन्य जीवोंको देखकर पहिले पहिले स्वभाव ही देखेगा फिर देखना पड़े बाहर तो दिखेगा ये दिखने वाली चीजें तो औपाधिक हैं, स्वरूप इनका न्यारा है, तो ऐसे उस स्वभावका

अनुभव करें जो चारों ओर से अंतः प्रकाशमान है, सो ऐसे उस स्वभावका ही अनुभव करो। जो अन्तः चारों ओरसे प्रकाशमान है। इसके लाभके लिए मोहको त्यागें, मोह कहो, मिथ्या कहो, संयोगी बात कहो, इन बातोंको त्यागकर एक इस सम्यक् स्वभावका ही आश्रय करो।

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधीर्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हटात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं, नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः।१२॥

१४९—बन्धनके भेदनका सुझाव—

निज सहज परमात्मतत्त्वकी उपलब्धि कैसे हो? कैसे यह सहज परमात्मस्वरूप एकदम समक्षमें व्यक्त जाहिर हो? उसके उपायकी चर्चा इस कलशमें की गई है। सर्वप्रथम इस कल्याणार्थी को चाहिए कि वह भूतकालके वर्तमानकालके और भविष्यकालके बंधनका भेदन करे। बंधन क्या? कर्मबंधन। बंधन क्या? भीतरमें एक विभावसंस्कार बंधन, इनको दूर करें। देखिये-एकान्ततः कोई ऐसा निर्णय नहीं है कि यह जीव पहले वैराग्य करे या ज्ञान करे। जब जो बात बन सके उसे अभीसे शुरू करे। अगर इस भरोसे रहे कि पहले ज्ञान जगे तब फिर पदार्थोंसे उपेक्षा करेंगे तब तो यहाँ से कायरता न जायगी, और कोई यह सोचे कि मैं पहले उपेक्षा करलूँ, सर्व पदार्थोंसे विरक्त हो लूँ, फिर ज्ञानमार्गमें आऊँगा, सो भी काम न बनेगा। ये परस्पर एक दूसरेके साधक हैं। ज्ञान है तो वैराग्य बढ़ता, वैराग्य है तो ज्ञान बढ़ता। इसलिए इष्टोपदेशमें यह बात कही कि यथा यथा समायातिहि संवित्तौ तत्त्वत्तमं तथा तथा न रोचन्ते मूविषया सुलभा अपि, पर यह बात एकान्ततः नहीं है दूसरा छंद कहते हैं कि यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि, तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् जैसे जैसे ज्ञानमें उत्तम तत्त्व समाता है वैसे ही वैसे सुलभ विषयभी रुचिकर नहीं होते और जैसे जैसे सुलभ विषय रुचिकर नहीं होते वैसे वैसे सँवित्तिमे उत्तम तत्त्व समाता जाता। अभी कोई लौकिक काम करने हों, ये करना, वो करना, कितना ही हापड़ धुपड़ मचाते हैं। ये काम कोई करनेके हैं जिन्हें उपादेय मान लिया लौकिक जनोंमें उसके लिये सारे उपाय बताते हैं तो ऐसे ही अपनेको हितमार्गमें चलना है तो कुछ वैराग्य भी हो, कुछ ज्ञान भी हो, कुछ संयममें भी हो, कुछ स्वाध्याय भी चलता हो सभी यत्न करना चाहिए। यहाँ सबसे पहली बात कहाँसे शुरू की जा रही है। इस कलशमें कहा है कि भूत-कालके वर्तमानकालके और भविष्य कालके तीनोंके बंधनोंका भेदन करें। कैसे करें? उसका उपाय क्या है? प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना, इनका उपयोग करें यह उपाय है। भजन अनुसार मनन करें.

मैं दर्शन ज्ञान स्वरूपी हूं, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूं।टेक। हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहजज्ञानघन स्वयं पूर्ण। हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूं ॥१॥ मैं खुदका कर्ता भोक्ता हूँ, परमें मेरा कुछ काम नहीं। परका न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ ॥२॥ आऊं उतरूं रम लूं, निज में, निजकी निजमें दुविधा ही क्या, निज अनुभवरससे सहज तृप्त, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ ॥३॥

१५०—बन्धन हटानेका उपाय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना—

भूतकालका बंधन याने पहले जो कर्मबंध हो गया उसको विफल, करना उससे हटना, उसके फलमें न फसना यह बात कैसे बने? इसके लिए उपाय कहा गया है प्रतिक्रमण और वर्तमानकालमें जो दोष लगे उस दोषसे कैसे निवृत्त हों उसका उपाय है उनकी करें आलोचना और आगामी कालमें बंधन न बने इसके लिए प्रत्याख्यान करें। तीनोंका अर्थ क्या है? पहिले कोई दोष लगा हो तो किसी गुरुके पास जाकर जो दोष किये थे उनकी आलोचना करे। और प्रायश्चित करके उन दोषोंको

दूर करें और आगामी कालमें, फिर कभी ऐसे दोष न करूँगा, ऐसा आशय बने। तो अन्तर्दृष्टिसे वे सारी बातें एक दृष्टिमें हो जाती हैं। वह क्या ? समयसारमें श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि पुद्गलकर्म-विपाकभवेभ्यः भावेभ्यः आदि, पुद्गल कर्मके विपाकसे उत्पन्न होने वाले भावोंसे, रागद्वेषादिक कषायोंसे जो आत्मा अपनेको हटाता है वहाँ पूर्व बँधे हुए कर्मका फल हीन हुआ, विफल हुआ, सो प्रतिक्रमण बन गया। वर्तमानमें कोई दोष नहीं चल रहा किन्तु उपयोग सहज आत्मस्वरूपमें लगा है जिससे कर्मोंसे निवृत्त हो रहा है, आलोचना हुई। भविष्यमें ऐसा कर्मोंका बंधन मेरे न रहो, प्रत्याख्यान हुआ, तो सब विधियोंको बनाकर, मोक्षमार्गमें चलो। व्यवहारमें भी ऐसा उपेक्षित हो जाय कोई कि अजी क्या करना है ? काहेका व्रत, काहेका तप, काहेका देवदर्शन, काहेकी गुरुसेवा, ये सब बाहरी बातें हैं। बस एक आत्माका ज्ञान करलें तो बेड़ा पार हो जायगा, ऐसा एक रूखा व्यवहार, अज्ञानमय व्यवहार अगर कोई बनायगा तो वह तो उस ज्ञानको प्राप्त करनेका पात्र ही न बन पायगा। विनयाद्याति पात्रताम्। बिना बिनय गुणके आये आत्मज्ञान करनेकी पात्रता ही न आयगी। गुरुविनय, समाजविनय, देशविनय, यथायोग्य विनयसे अपनेको पात्र बनावें याने अपने को मान कषायके वशीभूत न होने दें, यह बात कब बनती है, जब सब जीवोंके प्रति यह भाव है कि जैसे सब जीव वैसा मैं। व्याहारिक प्रवृत्तिमें ऐसी पात्रता है कि वह व्यवहारमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना बना लेता है। और वास्तवमें निश्चयसे तो वर्तमान विभावभावसे अपनेको हटाता है तो उसके ये तीनों उपाय हो जाते हैं तो भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकालके बंधनका भेदन करके यदि कोई बुद्धिमान अपने आपमें आत्माका कलन करता है तो वह शाश्वत, अन्तः प्रभुकी प्रतीतिका लाभ पाता है। आत्मकलन क्या करके होता ? बेगसे मोहको दूर करके, देखिये मोहका दूर होना और अपने आपके स्वातंत्र्य का भान होता, सहज अंतस्तत्त्वका भान होना, यह बात एक साथ है। वस्तुतः परपदार्थका मोह तब ही दूर हो सकता है जब यह ज्ञानमें आये कि सबका सत्त्व न्यारा न्यारा है। एकका दूसरा कुछ भी नहीं लगता। देखिये बाहरकी बातोंमें, कल्पित गैर पदार्थोंमें ममता हटानेके लिए अनेक लोग शूरवीरसे बन रहे हैं, पर कल्पित अपने परिजनोंसे क्या कर रहा, यह भी तो देखें। ममतासे कोई हटा नहीं यहाँ परिजनपर अजमावो। जिनपर रागद्वेष करके हम अपनेको कलंकित करते हैं उनपर अजमावो। ये परिजन सब भिन्न भिन्न जीव हैं, मैं इनसे बिल्कुल जुदा हूँ, इनके कर्म इनके साथ है, इनके सांसारिक सुख दुःख इनके कर्मोदयके आधीन हैं। उनको मैं सुखी दुखी नहीं करता। अपने अपने बाँधे हुए साता असाताके उदयके अनुसार यहाँ सुख दुःख चलता है। मैं उनका कुछ नहीं करता। वे मुझसे पृथक् जीव हैं,। जब ऐसा भीतरसे भान हो तभी तो मोह हटेगा। घर में रह रहे तो राग तो न हट पायगा अभी। मगर वह राग भी हटनेकी ओर रहेगा।

१५१—बन्धनसे हटकर आत्मकलनका कर्तव्य—

कल्याणार्थी पुरुष मोहको हटाये और मोह हटाकर फिर अपने आपमें अपने आपका कलन करे, निरीक्षण कर ग्रहण करे। जांच पड़ताल करते हुए ग्रहण करना। यदि कोई ऐसा कर सके तो वह समझता है कि ओह यह आत्मा, यह तो यह, व्यक्त स्वयं विराजमान है। हूँ ना मैं, कोई भी पदार्थ होता है स्वयं अपना कोई सत्त्व स्वरूप सर्वस्व लिए हुए होता है, पर पदार्थका सम्बन्ध होनेसे जो विकार बना, जो परिस्थिति बनी, यह तो उसका ऊपरी रूप है। अंतः क्या है उस पदार्थमें, कि जो उस पदार्थका स्वरूप है सो उसके अन्दर है। हर एक चीजमें घटा लो, लौकिक बातोंमें देख लो,

किसी बढ़ईने नई चौकी बनायी तो वह उस समय अपने असली रूपमें हैं। बादमें जब रोगन लगा दिया तो वह एक औपाधिक बात है। तो मेरे आत्माका जो सहज स्वरूप है, चैतन्य-चेतना है तो वह अपने आपमें अपना कुछ काम कर रहा है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरन्तर हो रहा है। विपरिणमन होते हुएमें भी भीतर अर्थपरिणमन आधार हो रहा है। वही एक ऐसी मुद्रा बना लेता है निमित्तके सान्निध्यमें, उपाधिके सम्बन्धमें कि उसका रूप बदलता जाता। उसकी समझ तो शक्तिमें नहीं मिटती मगर उसमें एक विकारका परिणाम सामने आ जाता है। ज्ञानी जानता है कि मैं यह नहीं हूँ। मैं तो अपने आप सहज जो हूँ सो हूँ। बस यह जो अपने ज्ञानका स्वरूप है सो मेरा, बाकी सब बाहरी। वस्तुस्थिति यह है, यहाँ कोई साथी नहीं। यहाँ कषाय रखना, एक दूसरेको बुरा निरखना, किसीको भला बुरा निरखना, यह मेरा है, यह गैर है आदिक जो विकल्प अवस्थायें हैं ये तो अज्ञान अंधकार हैं तो ऐसे बंधनसे दूर होना चाहिए। धर्मके मामलेमें भी बंधन न हो। जैसे धर्मके प्रसंगमें गोष्ठियाँ बनाकर यह रूप कर लेते हैं कि ये हैं सो मेरे, ये हैं सो गैर। तत्त्वज्ञान यह भी कर रहा, वह भी कर रहा, जितना मोक्षमार्गमें चलनेकी योग्यतामें बनता सो कर रहे, मगर एक सत्परिचय बनाये बिना, इस मोहपर बिजय पाये बिना आत्मानुभवका पात्र नहीं बनता। इसलिए अपनेको कोई भार न रहे। यहाँ कुछ भी इष्ट नहीं और कुछ भी अनिष्ट नहीं, अपने आपपर करुणा करना है तो सब प्रकारके बंधन से रहित अपने आपको अनुभवना है और समझना है अपना सहज चैतन्यस्वरूप।

१५२—आत्मानुभवैकगम्यमहिमा भगवान आत्मा—

कलशमें कहा है आत्मानुभवैकगम्यमहिमा याने जिसकी महिमा आत्मानुभवसे ही गम्य हो सकती है। वह सहज आत्मस्वरूप क्या है? यह है, आत्मानुभवसे ही पहिचाना जा सकता है। जिसे कहते हैं कि बिल्कुल सही अनुभवमें आया हुआ। जब ऐसा जाना तो यह तो मेरेमें था ही। है तो यही स्वयं खुद। खुद अनुभवसे नहीं समझा, यह कितने अँधेरकी बात है? देखो खुद आनन्दमय है और ज्ञानस्वरूप है किन्तु खुदको न जाने, खुदका प्रकाश न हो तो यह कितने गजबकी बात है। याने इतना बेतुका रूप तो अचेतन भी नहीं पाते। दीपक है, प्रकाशमय है, पर दूसरोंको प्रकाशित करता है खुद भी प्रकाशरूप है। वह अचेतन है मगर प्रकाशरूप भी है, प्रकाशकरूप भी है। उसके लिए दोनों बातें उपयोगी बनती हैं, बाह्य पदार्थोंको ढूढ़ लेते हैं और दीपकको भी देख लेते हैं ऐसी ही बात तो यहाँ हम आपमें हैं। ज्ञानस्वरूप ही हैं हम आप। एक दूसरेको भी जाने खुदको भी जाने। जैसे दीपक दूसरेका भी प्रकाश करता, खुदका भी करता मगर कितना अंधेर हो गया कि यह बाह्य को जाननेमें तो बड़ा चतुर बन रहा और स्वयंको जाननेकी बात यह असम्भव सा समझता है। यह ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञानस्वरूपको जानना जो कठिन हो रहा है यह सब वासनाका प्रभाव है। इस ज्ञानको जानना जो कठिन हो रहा है यह सब विषय वासनाका प्रभाव है। इस ज्ञानस्वरूपको जानना जो कठिन हो रहा है यह सब विषय वासनाका प्रभाव है, इष्ट अनिष्ट बुद्धिका प्रभाव है, रागद्वेषका प्रभाव है, इसलिए प्रथम यह कह रहे कि पहले बंधन मिटाओ। यह आत्मस्वरूप कर्मबंधसे रहित है। स्वरूपकी बात देखो। परिणाममें तो चल रहा जीव-बंध उभयबंध मगर स्वरूप देखो तो स्वरूपमें क्या कर्मबंध है? जो बात स्वरूपमें है वह कभी मिट नहीं सकती। जो स्वरूप है, रचा हुआ है स्वरूपसे। क्या स्वरूपमें जन्ममरण है? क्या स्वरूपमें भव है? न बंधन है, न भव। तो ऐसे अन्तः स्वरूपको ज्ञानदृष्टि द्वारा ही परखा जाता है।

१५३— आत्माको एक लक्ष्य होकर अनुभवने की अतिशायिता—

जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला एक्सरा यंत्र सीदे हड्डी का ही लक्ष्य कर लेता है न कपड़ोंका, न रोम का, न चमड़ी का, न मांसका, किसी अन्य का फोटो नहीं लेता, सीधे हड्डीको बता देता है, ऐसे ही ज्ञातापुरष, ज्ञानी पुरष अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करते तो उनको न शरीर उपयोगमें है न जगह उपयोगमें है, न समय उपयोगमें है। केवल एक सहज सामान्य ज्ञानस्वरूप ही ज्ञानमें रहता है। जब तक यह बात ध्यानमें है कि अभी सुबह है, अब शाम है, तो बस अभी सुबह शाममें ही फंसे हैं। जिसे ध्यान है कि मैं मंदिरमें बैठा हूं, भजन कर रहा हूं, अमुक जगह बैठा हूं, अब इतना समय है तो वहां आत्मानुभव नहीं होता। जहां समय की सुध नहीं, जगह की सुध नहीं, देहकी भी सुध नहीं, वहां बस क्या है। चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि। न वजन, है, न भार, एक ऐसी आलौकिक स्थिति है कि उसको कितना हल्का कहा जाय ? तभी तो ऐसा आत्मानुभव करने वाले को ऋद्धि व सिद्धि हो जाती है, आकाशमें विहार कर रहे, यह भी क्या मामूली बात है। जिसने एक ज्ञानघन अंतस्त्वका अनुभव किया। उसीके ऐसे अनेक अतिशय, होते। थोडी देरको मानो जैसे आकाश, वह पर द्रव्य है, अचेतन द्रव्य है, अमूर्त है, उसे कितना हल्का याने भाररहित बताया जावे तो उस आकाश के हल्केपनसे भीं ज्यादह हल्कापन लगता है यहाँ ऐसा आत्मानुभव करने वाले ऋषीजनोंको अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ हो जाती हैं, उस तपकी महिमा और एक ज्ञानकी महिमा दोनों जुटे हुए है तपश्चरण और तत्त्वज्ञान। यह एक सहज आत्मनन, आत्मानुभव है, इसका प्रताप है—शरीरमें सुगंध आना, शरीर से निकले हुंए विष्टा मूत्रमें भीं सुगंध आना, आकाशमें गमन हो, जिधर निकल जायें उधर सुभिक्ष हो जाय। अरे जिनको आत्मानुभूति हुई उनकी समृद्धिहुई ऋद्धि हुंई, दुनिया के लोगों को चमत्कार दिखा सब। यह आत्मा जो व्यक्त है, ध्रुव है, कर्मकलंकसे रहित है, वहाँ अन्यका प्रवेश नहीं। मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूं। ऐसा मैं सबसे निराला एकत्व विभक्त, पर तत्त्वों से निराला और स्वमें एक रूप जो चैतन्यस्वरुप है, उसका जो कलन करता है उसके लिए यह सहज परमात्मतत्त्व व्यक्त मालूम होता है। हाथमें तो मुदरी लिए हुए है, मूठी मैं बंद किए हैं। उसीं बंद मुट्ठीसे ही बकतमें जेबमैं सब जगह टटोल रहे, पर अंगुठी नहीं पा रहे। तो यहाँ वहाँ देखकर वह कितना व्यग्र होता ? और आज उसकी कैसी बुध्दि भ्रान्त हो गई। वह बडी घबडाई हुई मुद्रामें बैठा है। उसे एकदम ध्यान आ गया, अरे मेरी मुट्ठीमें तो नहीं है। देखा तो खुदकी हीं मुट्ठींमें वह अंगुठी मिली। बताओ उसकी अँगुठी कहीं बाहर गई थी क्या ? नहीं, थीं उसकी मुट्ठीमें, पर उसका पता न होनेसे वह उसके लिए कुछ न थी और उसका जब पता हो गया तो उसके लिए सब कुछ है। ऐसे ही यह आत्मा स्वयं है, मगर यह ऐसा भूला है ज्ञानस्वरूप होकर भी। जो आगमसे, साधनसे, ज्ञानसे सारी बातों को जान रहा है वही समझ पाता है कि यह एक कैसी उल्टी लीला है कर्मलीला है।

१५४—आत्मपरिचय बिना ही कर्मकलङ्का भारवहन—

देखो कैसी यह माया बन रही है कि यह आत्मा अपने आपको भूल रहा है। एक बाबूजी अपने घर की व्यवस्था बना रहे थे। वह अपने आराम करनेके कमरेमें जहाँ जो चीज रखते वहाँ उसका नाम भी रखते। छातेकी जगह छाता लिख दिया, कोटकी जगह कोट, टोपीकी जगह टोपी, घडीकी जगह घडी, बेंतकी जगहबेंत, यो सब चीज ढंगसे रखते गए और जिस जगह जो चीज रख

दिया उस जगह उस चीजका नाम भी डाल दिया धीरे धीरे काफी रात आ गई। अन्तमें जब खुद खाटपर लेट गए तो उस खाटके काठपर लिख दिया 'मैं', याने इस खाटपर मैं पड़ा हूँ। जब प्रातः काल सोकर जगे तो सब बाबूजी अपनी व्यवस्था देखने लगे—ओह ठीक। घड़ी, बिल्कुल ठीक, कोट बिल्कुल ठीक। यों सब चीजें ठीक निकलीं, पर जब खाटमें मैं लिखा देखा तो उसे देखकर मैं की खोज करने लगा। इधर उधर खाटके छेदोंमें बहुत ढूढ़ा पर मैं न मिला। बाबूजी बड़े हैरान हुए और चिल्ला पड़े—अरे मनुवा (बाबूजीका नौकर) यहाँ आना। ···क्या हो गया बाबूजी ? ···अरे बड़ा गजब हो गया। आज तो मैं गुम गया। मनुवाने बाबूजीकी बात समझती और वह हँसने लगा। तो बाबूजी बोले—अबे तू हँसता क्यों ? तुझको हँसनेकी पड़ी, यह मैं गुम गया। तो नौकरने समझाया बाबूजी आप थके हैं। आरामसे सो जावो। हमारी जिम्मेदारी है कि तुम्हारा मैं तुमको मिल जायगा। बाबूजीको अपने पुराने नौकरकी बातपर विश्वास हो गया। सोचा कि कहीं इसने जरूर होगा। अब बाबूजी ज्योंही आरामसे खाटपर लेटे तो नौकरने कहा—अब देखो बाबूजी तुम्हारा मैं मिला कि नहीं। तो बाबूजीने ज्योंही अपने शरीरपर हाथपर हाथ फेरा तो समझ गए। ओह, इस बिस्तरपर यह मैं स्वयं ही तो पड़ा हूँ। कहाँ गया, कहीं बाहर मेरा मैं। तो ऐसा ही यह आत्मा सहज स्वरूपतः विशुद्ध ज्ञानानन्दका निधान हूँ। इसकी कहीं कुछ अटकी नहीं है। इसकी ओरसे कुछ अटका नहीं है। स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूप है। पर ऐसा विश्वास न कर यह अज्ञानी बाह्य पदार्थोंसे मानता है कि आनन्द मिलेगा। बाह्य पदार्थोंके संग्रहमें, तृष्णामें, ख्यालमें बने हुए हैं।

१५५—मोहलीला समाप्त कर ज्ञानलीलामें प्रवेश करनेका संदेश—

यह मोहकी आदत हर जगह अपना प्रभाव दिखलायगी। धर्मका काम करें तो वहाँ भी मोहका प्रभाव। बहुतसे लोग तो पूजा पाठ करने जाते तो फलके छन्दके समय खुद तो ले लेते काला कमलगट्टा व स्त्रीको दे देते नारियल और दूसरेकी कुछ परवाह नहीं, ऐसा अगर मोहका नृत्य है तो वहाँ मोह है कि नहीं ? मोहका एक रूप ऐसा भी बन जाता कि जो यहाँ आता है, जो हमारे मंडलमें है वह तो मेरा है खास, वह तो है इष्ट और बाकी इनमें जान नहीं, इनमें ज्ञान नहीं, इनमें बुद्धि नहीं, ये सब मूर्ख हैं, अचेतन हैं, जड़ हैं, इस तरहकी दृष्टि अगर बनती है तो बताओ वहाँ मोहका नाच है कि नहीं। जब सब तरहका बंधन दूर नहीं हुआ जहाँ कल्पित कुछमें नियत हो रहे। ये लोग ही तो हमारे सब कुछ हैं, वहाँ अन्धकार है। अरे बाबा आवो तो आवो, न आवो तो न आवो, हममें यह बुद्धि न हो कि ये मेरे खास हैं, ये कोई नहीं। धर्मोपदेशको स्वाध्याय बताया है और स्वाध्यायका अर्थ है स्वका मनन करना। धर्मोपदेशमें केवल बाहरका ही ख्याल है कि यह मेरा बहुत समर्थक है। लोग समझें कि यह बड़े अच्छे वक्ता हैं आदिक किसी भी भावसे परकी ओर ध्यान देकर जो बात कहे वह स्वाध्याय नहीं रहा। स्वाध्याय एक ऐसा रोजका प्रोग्राम है कि चलो इसी प्रोग्रामसे लोग आते हैं, वहाँ थोड़ा स्वाध्याय करनेकी अच्छी विधि बन जाती। वहाँ मात्र यह दृष्टि न रखना कि दूसरोंको समझाना है, मैं भी साथ ही साथ समझता चलूँ और उसका स्वाद लेता चलूँ यह भाव रहे। सिर्फ दूसरोंको समझाने भरकी दृष्टि न रहे। जो कुछ दूसरोंसे कहे उसका अपनेसे भी वास्ता रखें। जिस समय बोल रहे उस समय खुद अपने आपकी ओर दृष्टि बनानेका प्रोग्राम न रखे तो उससे क्या लाभ ? अब आप समझिये—कितनी स्वतंत्रता होनी चाहिए धर्मपालन के लिए ?

१५६—उत्तरोत्तर अन्तः प्रवेशकर श्रेयोलाभ लेनेका अनुरोध—

इस कलशमें अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि पहले भूत भविष्य और वर्तमानके बन्धनको दूर करें। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना ये इस बन्धनको दूर करने वाले हैं। भला बतलावो कोई जन्मते ही बड़ा तत्त्वज्ञानी बना क्या ? संस्कार चले, माँ ने दर्शन किया तो खुद भी उसी तरहसे झुककर दर्शन किया। माता पिता ने विनयरूप प्रवर्तन कराया, विद्याभ्यास कराया, कितना कितना व्यवहारका काम कराया। तो जो चीज ऊँची है जिसे हमें पाना है उसके लिए सब प्रकारके पुरुषार्थ बनावें और सब पुरुषार्थोंमें मुख्य पुरुषार्थ तत्त्वज्ञान है। उसके बिना तो काम बनेगा नहीं। तो विरक्त होकर उपेक्षित होकर, परको पर जानकर उसीमें चित्त लगाकर बन्धन हटावें। जैसे बने उस प्रकार इस सहज आत्मस्वरूपका अनुभव बनना चाहिए। यह सहज चैतन्य प्रतिभास मात्र हूँ, चिद्रूप चैतन्य-मय, जिसमें बन्धन नहीं, राग नहीं, जिसमें कोई पंक नहीं उस स्वरूपका कलन करें तो मेरे लिए यह नित्य ध्रुव शाश्वत चैतन्यदेव सदा प्रकाशमान है। बस एक बार भी अनुभवमें आये, उसकी स्मृति ही बहुत बड़ा एक प्रासाद उत्पन्न करती है। चित्तमें वही धुन रहती है। आत्माको सन्तोष होता है तो आत्मरमणमें ही, बस वही जीव आत्मानुभव करने योग्य है और वही सच्चा आशीर्वाद है। लोग तो कहते हैं कि महाराज आपका आशीर्वाद मिले तो हमारा बेड़ा पार हो जायगा, पर पार होगा अपने आपके निजके आशीर्वादसे। बार बार मननमें, अनुभवमें, चिन्तनमें, ज्ञानमें ज्ञान स्वरूपको ले चलें तो अलौकिक आनन्द प्राप्त हो। ऐसा आनन्द पाये तो यही सच्चा आशीर्वाद है, क्योंकि ऐसे ही उपायोंसे हम संसारके संकटोंसे दूर हो सकते हैं।

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंपमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥१३॥

१५७—भूत वर्तमान भविष्यके बंधन तोड़कर आत्मानुभवके लिये उद्यमन—

आत्मानुभूतिके लिए किस विधिसे चलना है ? पहले तो भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्य-कालके बंधनको तोड़ना है। उसको मोटे रूपसे एक दृष्टान्तमें बतलाते हैं। देखो अनेक लोग भूतका मोह, वर्तमानका मोह और भविष्यका मोह करते हैं ना ? कोई पुरुष पहले बहुत धनी था, अब गरीब हो गया तो वह सबके समक्ष शानके साथ कहता है कि अजी मेरे पास इतना इतना ठाठ था। मेरा मेरा आलाप गई गुजरी बातसे करता है वह ही तो भूतका मोह कहलाता। वर्तमानका मोह हो ही रहा और भविष्यका मोह याने जिसकी आशा रखे उसमें होता। एक उदाहरण लो आपने किसीका मकान घर रखा रहन। उसमें कुछ म्याद रखते हैं कि मानो ३ वर्षमें उठा सके तो उसका नयीं तो हमारा तो उसके मानो ढाई साल गुजर गए। अभी ६ माह शेष रहे, और आप यह जान रहे कि इसमें इतनी हिम्मत नहीं है कि यह हमारा ऋण अदा कर सके, तो आप ६ महीना पहिले ही उस मकानको अपना मान बैठते हैं यह भविष्यका मोह हुआ। ऐसे ही भूत, भविष्य वर्तमानका राग, यह भावबंधन ही तो है। और द्रव्यकर्ममें देखो तो पहलेके बाँधे कर्म यह भूतका बंधन आज उदयमें आ रहा, वर्तमानमें जो हो रहा सो वर्तमानका बंधन, और भविष्य का बन्धन भी तो कर्मसत्त्वमें है तो इन सब बंधनोंको दूर करनेकी एक तरकीब है—सर्वसे विविक्त चैतन्यस्वभाव अपने आपको निरखना। आत्मानुभव हो ऐसी स्थितिमें कहीं उसका कर्मबंधन नहीं खतम हो गया, मगर उसके उपयोगमें बंधन नहीं। उस उपयोगमें बंधरहित केवल चैतन्यस्वभाव है। आत्मप्रतीतिकी विधिसे बंधनका भेदन किया

और मोहको दूर किया और उस स्वरूपको, स्वभावको अपने ज्ञानमें लिया, यही आत्मानुभव बनता। इस तरह जो आत्मानुभव बनता है वह क्या है ? एक शुद्धनयात्मक आत्मानुभव है। देखो एक आत्मानुभव भगवानके भी होता। चलता ही तो है अनुभव। वीतराग ऋषीसंतोंके हुआ, १२वें गुणस्थानमें हुआ, मगर यहाँ शब्द डाला है शुद्धनयात्मक आत्मानुभूति याने जहाँ नयोंसे जाना है, शुद्धनयसे जो जाना है वह शुद्धनयात्मक ज्ञानानुभव ही आत्मानुभव है। तो जो शुद्धनयात्मक अनुभव है वह है ज्ञानानन्द।

१५८—ज्ञानानुभव बिना अनेक विद्यामें बढ़कर भी आत्मानुभवकी अशक्यता—

देखो—आत्मानुभूतिका सरल उपाय यहाँ आचार्यसंतने ज्ञानानुभूतिकी याद करा कर बता दिया। केवल अपनेको ज्ञानमात्र ज्ञानमात्र मनन करें। मनन तो चलता है ना, क्या क्या ? मैं तो इस मोहल्लेका हूँ इस घरका हूँ, व्यापारी हूँ, अमुक हूँ, सर्विस वाला हूँ, विद्वान हूँ और उसका घमंड भी बना रहता, क्योंकि परमें अहंबुद्धि है। जैसे यहाँ अनुभव करते हैं कि मैं यह हूँ, यह हूँ, ऐसा अनुभव न करके यह अनुभव करें कि मैं सिर्फ ज्ञान ज्ञानमात्र हूँ। जाननप्रकाश चैतन्य दृष्टि। देखो कुछ अपने आपकी ओर झुकोगे तो समझमें आता जायगा, शब्द न समझा सकेंगे, किन्तु अपने आप समझ लेंगे। एक तो गैल दिखाना ऐसा होता कि देखो यहाँसे जाना आगे, दो रास्ते फूटे मिलेंगे, दाहिनी ओरके रास्तेसे जाना, आगे जानेपर चौराहा आयगा, वहाँ से बाईं ओरको जाना इस इस प्रकार एक तो मार्ग बता दिया। वह चलता भी है उसे वे वे सब चिन्ह दिखते भी हैं जो बताये, मगर उसका स्पष्ट ज्ञान तभी स्पष्ट हो पाता जब वह सही चिह्न पा लेता, पर हाँ धारणा तो उसको पहले से ही हो गई उस मार्गकी जानकारी करके, पर मार्गका परिचय प्रयोगसे ही स्पष्ट हुआ, ऐसे ही आत्मामें प्रयोग किया जाय। आत्मस्वभाव अंतस्तत्त्वकी ओर झुक जाय, उसका ग्रहण किया जाय तो अनुभव होगा कि मैं क्या हूँ। यह तो एक बड़े गजबकी बात है कि दुनियावी हिसाब किताब लगानेमें तो बड़े चतुर बन रहे, पर अपनी बात अपनी समझमें नहीं आती। तो क्यों नहीं समझ बनती कि यहाँ इष्ट अनिष्ट राग विषय चल रहे हैं, यही अंधेरा इस आत्मतत्त्वको समझने नहीं देता और कोई समझ कर भी नहीं समझ पाता। कोई तो ऐसे हैं कि उनकी समझ ही नहीं, और कोई ऐसे हैं कि समझ कर भी नहीं समझ पाते। वे समझते हैं उनके शब्दों द्वारा अभ्याससे। बहुत बहुत उपदेश झाड़ें, बहुत बहुत शास्त्र भी पढ़ें, मगर क्या है। जब तक यह ज्ञान इस सहज ज्ञानस्वरूपको अनुभवमें नहीं लेता, ज्ञानमें नहीं समाता, जब तक समझ नहीं, और जब तक वह जीव अज्ञानी है, भले ही शास्त्रज्ञानमें बहुत बढ़े, भले ही यहाँ वहाँकी बातें बहुत जान ले मगर इसको अपने आपमें जब तक ज्ञानानुभूति नहीं बनती, तब तक ज्ञानी नहीं। वह अज्ञानी बना हुआ है। दुनियामें भी तो ऐसे चतुर हैं, उनमें बड़ी चालाकी भरी, कितनी ही तरहके भेषमें रहते कोई बाल बढ़ा लेते, कोई साधुका रूप रख लेते, कोई रईसी ढंगके कपड़े पहिन लेते। जैसे रेलगाड़ियोंमें जो चोर होते है वे देखनेमें कितना सूटेड बूटेड एक रईस जैसे लगते हैं, वे अंग्रेजीमें बड़ी शानसे बात भी करते हैं। उन्हें कोई बता थोड़े ही सकता कि ये चोर हैं, पर वे ही मौका लग जानेपर माल चुराकर चम्पत हो जाते हैं।

१५९—आत्मानुभवके इच्छुकोंको आत्मतत्त्व व अनात्मतत्त्वके परिचयकी आवश्यकता—

इस आत्माका स्पष्ट बोध तब होता है जब अनात्मतत्त्वका भी बहुत परिचय हो। उस अनात्मतत्त्वमें कर्मका अधिक सम्बन्ध है। कर्मसिद्धान्तका अधिक परिचय होना चाहिए और फिर

अध्यात्मस्वरूपका भी अधिक परिचय होना चाहिए। ज्ञानको आत्मानुभवके लिए कितनी सुगमता रहती है। विकारोंसे हटना उसका खेल होता है। जिसने कर्मकी अनेक दशायें जानीं, कर्मका प्रति-फलन देखा उसका एकदम निर्णय है कि यह सब हो तो रहा है, किन्तु मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। स्वभावदर्शनमें मदद देता है कर्मसिद्धान्तका परिचय। कोई कर्मसिद्धान्त नहीं जानता है तो उस भेष में कहते हैं कि हमको तो आत्माकी बात जाननी है और बाहरी बातोंमें क्यों चर्चा करना। वे तो कूपमण्डूक है। और किसीने शास्त्रोंकी बात, यहाँ वहाँकी बात खूब जाना और उस ही की बातमें कुछ संतुष्टसे हो रहे—हमने खूब समझा। अरे वह कोई संतोष नहीं है, वह एक अहंकार हुआ, उसमें मौजमानी बात है। कोई इस भेषमें बढ़ रहा, तपश्चरणमें बढ़ रहा, बाह्यमें खूब बढ़ रहा, पर भीतरमें कुछ ज्ञान नहीं, अनन्तानन्त जीव तो ऐसे हैं कि जिन्हें कुछ पता ही नहीं, विरले ही कोई ज्ञानी है जिन्हें आत्मानुभूति होती। तो शुद्धनयात्मक जो आत्मानुभव है सो यही तो है वह ज्ञानानुभूति। मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह बड़ा एक अमृतमय तत्त्व है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस प्रकारका मनन बने, क्योंकि जिसरूप अपनेको भाया—मैं ज्ञानमात्र हूँ, वह ज्ञानमात्र कभी मरता है क्या? ज्ञानमात्र अपनेको माने तो वह अमर ही तो हो गया। तो शुद्धनयात्मक जो आत्मानुभव है वह ज्ञानानुभूति है, ऐसा जानकर हे ज्ञानी जनो, आत्माको आत्मामें रखकर स्थापित करो। याने ज्ञानमें ज्ञानस्वभाव स्थापित करो, निष्प्रकम्प होते हुए स्थापित करो, जिससे कि ऐसा अनुभव हो कि चारों ओरसे यह सर्वत्र ज्ञानघन है।

१६०—ज्ञानमात्र ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वका विवेचन—

देखो इसमें दो प्रकारसे मनन करनेका संकेत है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ। हैं ये दोनों मनन अपने आत्माके ही अन्दर, मगर रीति पद्धति, विधिमें थोड़ी विशेषता है परस्परमें। मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह तो एक आकिञ्चन्य भावनाके आधारको लेता है, उसे पुष्ट करता है, मैं और कुछ नहीं, मैं ज्ञानमात्र हूँ। अन्य कुछ नहीं, जिसे कहते इतना भर। आप तो इतना भर कह दें और कुछ नहीं। बस ज्ञान-ज्ञान इतना भर मैं हूँ। जिसका निष्कर्ष यह निकला कि स्वरूपके सिवाय जिसका अन्य कुछ नहीं, जिसमें अन्य नहीं, जिसका किसी परमें प्रवेश नहीं। मैं ज्ञानमात्र हूँ। मनन करनेमें आ तो रहा है, अपने लिए अमूर्तकी ओर, हल्केकी ओर याने निर्भारकी ओर आ रहा है। और साथमें ज्ञानघन की भी प्रतीति लगी है। ज्ञानमात्र चिन्तनमें तो एक हल्कापन सा आ रहा है और एक भरा हुआ अनुभव यह ज्ञानघनकी प्रतीतिके साथ चल रहा है। मैं परिपूर्ण हूँ, ज्ञानघन हूँ। ज्ञानघनका विश्वास रहेगा तो यह दीनता मिट जायगी कि मुझे यह काम करनेको पड़ा, अभी यह काम करनेको पड़ा। अरे मुझे बाहरमें कुछ नहीं करनेको पड़ा। बाहरमें कुछ किया ही नहीं जा सकता और अन्दरमें यह परिपूर्ण ब्रह्म परम पदार्थ ही है। इसे करना ही क्या है। देखिये स्वरूपदृष्टिके क्षेत्रकी बात चल रही है। मैं ज्ञानघन परिपूर्ण कृतार्थ हूँ। तो अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करें, ज्ञानघन अनुभव करें। फल क्या होगा? सहज आनन्दकी अनुभूति जगेगी, जिसमें वास्तविक तृप्ति होगी। तो एक ध्यान बनालो मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही ज्ञान हूँ। जरा ईमानदारीसे सच्चाईके साथ प्रयोग दृष्टि बनाकर आत्मज्ञान बने, अपनेपर दया करके एकान्तमें बैठकर। चार आदमियोंके बीच प्रसंगमें बैठकर यह आत्मानुभव की बात नहीं बनती, क्योंकि अभी आत्मा ऐसा बेईमान बना हुआ है कि इसके अन्दर चारों प्रकारकी कषायें हैं। धर्मकी घटनामें, धनके प्रसंगमें मान और माया ये बड़े जबरदस्त है। जरा-जरा सी बातमें

ये अपना नाच दिखाते हैं। अभी भगवानके सामने बिनती पढ़ रहे तो बहुत धीरे धीरे अटपट ढंगसे पढ़ रहे थे, आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय। और अगर कोई दो चार भाई वहाँ पहुंच गए तो फिर अपनी बड़ी मुद्रा बना लेंगे, और वहीं बिनती बोलनेका लय स्वर ढंग भी एकदम बदल जायगा। तो यह मायाचारकी ही तो बात है। तो एकान्तमें अपनेपर दया करके कि इस संसारमें मुझे अकेला ही कष्ट सहना पड़ता है उससे निवृत्त होनेके लिये आत्मानुभव बनावें। आत्मानुभव बनता है अपनेको ज्ञानमात्र मनन करनेसे। मैं ज्ञान ज्ञान रूप हूँ, ऐसा सोचते सोचते रूप यह आ जायगा कि मैं ज्ञानघन हूँ, समन्तात् ज्ञानघन हूँ। पर एक और विशेष याद दिलानेके लिए यह शब्द पड़ा है घन। घनके मायने लोग लगाते वजनदार। जैसे लोहेका हथौड़ा होता है तो उसे लोग घन कहते। घनका अर्थ लोग वजनदार लगाते, पर घनका अर्थ वजनदार नहीं। किन्तु घनका अर्थ है जिसमें वही वही हो, दूसरा कुछ न हो, अब जितना घन है उसमें वही वही है इसलिए उसका नाम धर दिया घन। एक लोहेके अलावा उसमें और कुछ नहीं इसलिए वह घन है। कोई स्वर्णका डला हो, जिसमें मात्र वही वही हो, अन्य चीज उसमें न मिली हो तो वह कहलाता है घन। याने जो वही वही हो जिसमें अन्य चीज न मिली हो वह कहलाता है घन। जैसे लकड़ियोंमें एक सागौन की लकड़ी होती, अब उसमें जब बीचमें बुरादा न हो, सिर्फ वही वही हो, तो उसे कहते हैं घन। ऐसे ही यह आत्मा ज्ञानघन है तो उसका अर्थ है कि मात्र ज्ञान ही ज्ञान है, ज्ञानघन आत्मा है, जिसमें अन्य कोई चीज नहीं मिली, बस ज्ञानमें ऐसा ज्ञानघन अन्तस्तत्त्व समाना यही ज्ञानानुभूति है। यही शुद्धनयात्मक अनुभव है।

१६१—आत्मानुभूतिमें अलौकिक आनन्दस्वरूप सहज परमात्मतत्त्वका लाभ—

आत्मानुभूतिमें क्या मिलता है? वह आत्मानुभूति क्या चीज है? उसका विषय स्वयं एक सहजसिद्ध अर्थ है। जो शब्दों द्वारा जाना गया और ज्ञान द्वारा अनुभव किया गया ऐसा वह एक परमार्थ तत्त्व है। उसकी अनुभूति बस यह ही तीन लोकमें सार है। वीतराग विज्ञानता, रागद्वेष रहित ज्ञानमात्र तत्त्व यह सहज ज्ञानस्वरूपका विशेषण लगाओ। केवलज्ञान वीतराग है, परंतु विज्ञान शब्दमें जो ता प्रत्यय लगा है उससे स्वभावभावरूप ज्ञानभाव याने सहज ज्ञानभाव द्योतित होता है इसको मन वचन काय सम्हालकर नमस्कार करें। मन, वचन, कायकी चंवलता हटाकर इस ज्ञान-स्वरूपपरमात्माकी भक्तिमें, अन्तस्तत्त्वको व बाह्यकी भक्तिमें केवलज्ञानको लें, रागद्वेषरहित सहज ज्ञान और बाह्य भक्तिमें, परमात्मा, तीर्थंकर, आत्मा। तो जो शुद्धनयात्मक आत्मानुभूति है वह यह ही तो ज्ञानानुभूति है जो चारों ओरसे विज्ञानघन है, ज्ञानरससे परिपूर्ण है। यह बंधनमें है क्या? नहीं? जैसे कोई राजा किसी प्रकारका अपराध लगाकर किसी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषको बाँध ले जाय, कैदमें डाल दे, आप कहेंगे कि जब कोई अपराध नहीं किया तो कैदमें कैसे डाल देगा? अरे बिना अपराधके भी कोई झूठा आरोप लगाकर कैदमें डाला जा सकता। तो वह सम्यग्दृष्टि पुरुष कैदमें पड़ा है मगर वहाँ जब वह ज्ञानानुभूति करता है, आत्मानुभव कर रहा तो उसके उपयोगमें बंधन है क्या? कोई ज्ञानको बाँध सका है क्या? चाहे कोई शरीरको बाँध दे, मगर आत्माको किसीने बाँधा क्या? ज्ञानको लौकिक जन कोई नहीं जानता, ज्ञानानुभूति वहाँ भी है, यहाँ भी अपने को बंधरहित, भवरहित जो जो बात सिद्ध पर्यायमें व्यक्त है उस उस रूप यह विशेषण लगाते जावो—यह ज्ञानस्वरूप, यह सहज परमात्मस्वरूप गतिरहित, इन्द्रियरहित, योगरहित, वेदरहित है यों लगाते

जावो, उपयोगमें, उस समयके अनुभवमें वह निर्बन्ध है। बस यही-यही मात्र एक साधारण सामान्य विशेषतारहित। अब इसको चाहे भोला, सीधा, सरल, अनजान, कुछ भी कह दो, लोग अनजान किसे कहते कि जिसे मायाचारी छल कपट आदिकसे परिचय नहीं। और जो सरल है, आत्माका रस लेता रहता है, उसके सहज ज्ञानसामान्य अनुभूतिमें है।

१६२—उपयोगभूमिमें विकार न आनेपर प्रतिफलित होनेपर भी विकारका अननुभव—

आत्मानुभवके समय किसीके विभावोंका भी परिणमन चल रहा, विभाव चल रहे, पर अनुभव नहीं चल रहा। ऐसा एक पुरुषार्थका स्थान है वह। कोई गृहस्थ अथवा कोई मुनि जिसके कर्मोंका उदय निरन्तर चल ही रहा, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवके अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है ना, श्रावकके प्रत्याख्यानावरणका और मुनिके भी संज्वलनका है, तो क्या वह धारा खतम हो गई? उस आत्मानुभव करने वालेका वश उन कषायोंका उदय रोकनेमें क्या चल रहा है निरन्तर उदय है अनुभाग है, जो प्रतिफलन हो रहा, यहाँ तक अनिवारित है बात, मगर उपयोग है सहज आत्मस्वरूपकी ओर तो अनुभव हो रहा है सहज ज्ञान तत्त्वका ही। प्रतिफलनका, उस विभावका अनुभव नहीं हो रहा है आत्मानुभवके समय। इस अनुभव दशामें यह जीव क्या कर रहा? ज्ञानानुभूति, ज्ञानानुभव। ऐसा यह ज्ञानमात्र अनुभव करने वाला, ज्ञानघनका अनुभव करने वाला जो अपने आपके इस मर्मको जान लेता उसने सब कुछ जान लिया। तो व्यवहारनयसे पर्याय, भेद, अभेद, स्थिति, निर्णय, निमित्त नैमित्तिक भाव सभी तो उस व्यवहारनय द्वारा समझे जा रहे हैं। जहाँ हमें रमना है उसे भी व्यवहार-नय बता रहा जिससे हमें हटना है उसे भी व्यवहारनय बता रहा। अब उसका प्रयोग बनावें जिससे हटना है उससे हट जावें और जिसमें लगना है उस ओर लगे तो कुछ यहाँ शुद्धनयका आलम्बन बना लेंगे, और शुद्धनयके आलम्बनसे सहज चैतन्यस्वरूपको ज्ञानमें ले लेंगे।

१६३—ज्ञानानुभवसे सर्वसिद्धि—

भैया ज्ञानानुभव पाया तो सब पाया, यह न पाया तो जीवन व्यर्थ जा रहा है। खाना पीना तो गाय, भैंस, आदिक बनकर भी मिलता। जितना आनन्द मनुष्य हलुवा रसगुल्लेमें मानता, क्या उससे कम आनन्द ये पशु हरी घासमें मानते? आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिक सभी संज्ञायें तो पशु पक्षी बनकर भी भोगी जा सकती थीं। फिर यहाँ मनुष्य होनेका सार क्या है? अरे यहाँ सार है आत्मानुभव। इस ओर आवो, विधिसे आवो। विधि छोड़कर भटक जावोगे। आचार्य संतोंने सब विधि बताया है, उसके अनुसार चलें और किसीके बहकावेमें क्यों आयें? ऋषि संत सभी प्रकारके शास्त्रोंके ज्ञानी होते हैं, उनका जो उपदेश मिलता है उसमें बहक नहीं मिलती और इसी प्रकार जो सब प्रकारके शास्त्रोंमें अपना कौशल रखते वे सही ढंगसे चलेंगे। उनके लिए आत्मदृष्टि करना, ज्ञानानुभव करना, स्वभावदर्शन करना, यह सब कौतूहल सा हो जाता, खेलमात्र लीलामात्र। जैसे बड़े-बड़े धनिकों द्वारा बड़े-बड़े काम आसानीसे कर लिए जाते हैं उससे भी अधिक आसान काम तत्त्व-ज्ञानी पुरुषको रहता है। वहाँ तो परेशानी भी रहती, मगर तत्त्वज्ञानीको आत्मानुभवके लिए कोई परेशानी नहीं। तो मूल उपकार अरहंत देवका है, तभी मूल वक्ता अरहंत हैं। फिर गणधर आदिक देव है, और और भी आचार्य संत हैं, वे यद्यपि आज हमारे सामने नहीं हैं, तो भी उनकी हम पर बड़ी करुणा है जो उनके वचन आगममें मिलते हैं। वे ठीक विधिसे चले, व्यवहारनय, निश्चयनय, शुद्धनयकी विधिसे चल कर पश्चात् आत्मानुभवकी पद्धतिसे चले तो आत्मानुभव हुआ। हम भी उनके बताये

मार्गसे चलें तो कल्याण निश्चित है ।

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहिर्महः, परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छ्वलननिर्भरं सकलकालमालम्बते, यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

१६५—शुद्धनय और अशुद्धनयका विश्लेषण—

शुद्धनय और अशुद्धनयका अर्थ क्या है ? शुद्धनय—जहाँ केवल एक द्रव्य ज्ञानमें जाना जा रहा हो और वह इसी विधिसे कि उसमें गुण और पर्यायोंका भेद भी न समझा जा रहा हो याने गुण और पर्यायें जहाँ निष्पीत हो चुकी हों, जिस प्रकार एक विशुद्ध याने सबसे वियुक्त द्रव्यका निहारना, इसे कहते हैं शुद्धनय और पदार्थके गुणोंका परिचय करना इसमें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चारित्रगुण है, यह बन गया अशुद्धनय । शुद्ध अशुद्धका अर्थ यहाँ पर्यायकी मलिनता और निर्मलता न करना किन्तु एक अखण्ड अंतस्तत्त्वकी दृष्टि कराये उसे कहते हैं शुद्धनय । और उस द्रव्यका भेदपूर्वक परिचय कराये उसे कहते हैं अशुद्धनय । अशुद्धनय कितने प्रकारके होते हैं ? अब देखो जीवमें चैतन्यस्वभाव है, इस तरहका जो निरख किया तो आप समझ रहे होंगे कि यह तो बिल्कुल शुद्ध वर्णन है । अनादि अनन्त चैतन्यस्वभावी इस जीवको कहा जा रहा, लेकिन यहाँ गुण—गुणीका भेद बनाया । अभेदमें चैतन्यस्वभावमात्र है, और गुण गुणीके भेदसे कहा हुआ जो नय है वह अशुद्धनय है । शुद्धनयकी महिमा जाननेके लिए अशुद्धनयका जिक्र कर रहे, अशुद्धनयका अर्थ पर्यायकी मलिनता नहीं है । अशुद्धनयका विस्तार बहुत है, शुद्धपर्यायका वर्णन करना यह भी अशुद्धनय है अशुद्धपर्यायका वर्णन वह भी अशुद्धनय है । जैसे कहा—जीवके दर्शनगुण है, चारित्रगुण है ? बताओ यह अशुद्धनयका वर्णन है कि शुद्धनयका ? अशुद्धनयका, इसे सद्भूतव्यवहार कहते । बतायी जा तो रही शक्ति वह सहजभावमें, लेकिन भेद करके बताया—कहीं जीवमें ये अलग-अलग नहीं पड़े हैं, वे एक ही हैं मगर आचार्य संतोंकी दृष्टियाँ और और सब जैन शासनका कथन कितना प्रमाणभूत है कि भेद करके जो बात कही गई वह वह उसी ढंगसे जाननेमें आ रही । लेकिन भेद करके कथन होनेसे अशुद्धनय कहलाया । जीवमें केवलज्ञान है । सिद्धभगवानमें केवलज्ञान है, यह बात तो अच्छी कही जा रही ना और उनकी तो हम रोज पूजा करते हैं । भगवानके ऐसे ही गुणानुवाद करके पूजा करते हैं । जीवमें केवलज्ञान है, यह किस नयसे कहा जाता है ? यह बार-बार ध्यानमें रखना कि मलिनताका नाम यहाँ अशुद्ध नहीं, भेदरहित सिर्फ एक अखण्ड तत्त्वको ग्रहण करनेका नाम शुद्धनय है । और भेदकथन है वह अशुद्धनय है ।

१६५—व्यवहारनयसे वस्तुपरिचयकी प्राक् आवश्यकता—

आत्माका परिचय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे होता है । सभी वस्तुओंका परिचय द्रव्य क्षेत्र काल भावसे होता है । जैसे आत्मा द्रव्यदृष्टिसे कैसा है ? गुण पर्यायका पुञ्ज । क्षेत्रदृष्टिसे कहा है असंख्यात प्रदेशी है, इतना लम्बा चौड़ा जितना वर्तमानमें है उस दृष्टिसे आत्माका परिचय मिला, उसकी दृष्टि किया, परिचय मिला । उस समय आत्माकी जो परिणति चल रही हो उसका परिचय करना वह कालदृष्टिसे परिचय है । जैसे आत्मा क्रोधी है, निर्मल है, ज्ञानी है । और भाव दृष्टिसे आत्माका परिचय करेंगे तो वर्णन दो तरहसे करेंगे, कुछ भेद रूपसे कुछ अभेद रूपसे । इस जीवमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, शक्ति है, यह वर्णन हुआ भेद विधिसे, गुणोंकी कथनपद्धतिसे । और अभेद भाव चित्स्वरूप, जीवमें चैतन्य है, इसमें भी भेद किया गया, इतना भी भेद मिटाकर यह चैतन्यस्वभाव मात्र है, यों अखण्ड केवल चित्स्वरूपका जहाँ शुद्ध दर्शन है वहाँ है शुद्धनयका विषय । और यहाँ देखो

आत्मानुभवकी बातमें क्या हम आत्माको इस तरह देख रहे कि यह अनन्त गुणोंका धारी गुणपर्यायोंका पिण्ड है। यह आत्मा त्रैकालिक अनन्त गुणात्मक है, इस तरह का मनन आत्मानुभवमें सहयोगी तो है मगर साक्षात् आत्मानुभव नहीं है, और साक्षात् साधकतम भी नहीं है, उससे तुरन्त आत्मानुभव तो नहीं होता, मगर आत्मपरिचय हो जाता है, आत्मा असंख्यातप्रदेशी है, इतना लम्बा चौड़ा है ऐसा ज्ञान है, तो है सही बात, मगर क्षेत्रदृष्टिसे आत्माका जब मनन किया जा रहा है तो उसके अनन्तर ही आत्मानुभवकी सुध नहीं हो पाती। यद्यपि ऐसा जाने बिना आत्माकी समझ नहीं बनती, मगर यहाँ उस विधानको देखो—जो आत्मानुभूतिकी पद्धतिमें होता है उसकी बात कही जा रही है। कालदृष्टिसे देखा तो जीव केवलज्ञानी है, मनःपर्ययज्ञानी है, क्रोधी है, मानी है। इसी तरह भेदरूप गुणोंकी परिणतियोंका भेद करके उसमें कोई कोई मनन करके जब आत्माका परिचय किया जा रहा है वहाँ भी परिचय तो ठीक है, मगर इस परिचयके अनन्तर आत्मानुभव नहीं बनता। इसी प्रकार जीवके कितने गुण हैं? अनेक गुण हैं, ज्ञान है, दर्शन है, इस प्रकार भेद विधिसे जो शक्तियोंका वर्णन है वह आत्मानुभूतिकी साक्षात् साधक नहीं, परिचायक व सहयोगी अवश्य है। तो आत्मानुभूतिकी स्थितिकी क्या बात है कि विकल्प भी नहीं है ऐसे निज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि हो। जो ज्ञान बने, ज्ञानमात्र शुद्ध चैतन्यमात्र शुद्धनयात्मक जो आत्माका अनुभव चले वहाँ आत्मानुभव है। तो आत्मानुभव हुआ किसका? ज्ञानस्वभावका, इसी कारण इससे पहले कलशमें कहा गया था कि आत्मानुभूति जो है वह ज्ञानानुभूति है।

१६५—सामान्यविशेषात्मक आत्माका सामान्यविधिसे उपयोग होनेपर ज्ञानानुभूतिकी संभवता—

उक्त ज्ञानानुभूतिकी बात चलनेपर एक प्रश्न होता है, समस्या होती है, बात तो सीधी है, ठीक है, सुगम है, निज घरकी बात है, ऐसा हो जाना चाहिए सहज बात है, मगर यहाँ तो अंधेर मच रहा, ऐसा तो कोई अनुभव नहीं कर रहा, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि देखिये—द्रव्य जितने होते हैं वे सब सामान्यविशेषात्मक होते हैं। द्रव्यकी अपने आपकी एक खासियत है, और सामान्यविशेषात्मक द्रव्यका जो परिचय बनता है वह कभी सामान्य विधिसे, कभी विशेष विधिसे होता है। जब सामान्यका परिचय हो रहा तब विशेषका तिरोभाव है, वस्तु जो है सो है। उस वस्तुका जब सामान्य विधिसे मनन है तो वहाँ विशेषका तिरोभाव है, सामान्यका आविर्भाव। और जिस समय वस्तुका गुणोंका पर्यायका विशेषका ज्ञान है, चिंतन है, मनन है तब विशेषका आविर्भाव है, सामान्यका तिरोभाव है। बस ये दो बातें हैं। जब सामान्यका आविर्भाव, विशेषका तिरोभाव हो ऐसे अनुभवमें आये आत्मतत्त्व तो वह है आत्मानुभवकी स्थिति। कहीं यह बात न समझना कि आत्मा में जो चीज है सामान्य विशेष उसमें विशेष छूट जायगा क्योंकि सामान्यको जाना जा रहा है। ऐसी शंका नहीं रखना। कारण कि सामान्यविशेषात्मक पदार्थको ही अगर सामान्य पद्धतिसे जाना जा रहा है तो वहाँ विशेष ओझल हो गया, उपयोगसे तिरोहित हो गया, विशेषका विकल्प ही नहीं हैं है, इस तरहका अनुभव की जानेवाली बात होती है। यहाँ देखो महिमा किसकी जानी गई? सामान्यकी। और विशेषकी दृष्टिमें क्या प्रभाव बना? विशेष विशेषकी ही जहाँ दृष्टि हो वह तो विडम्बना बनानेका स्थान हुआ, विकल्पका स्थान हुआ। तो सामान्यविशेषात्मक आत्मामें सामान्य बुद्धि बने, अन्तस्तत्त्व ज्ञेय बने। यह विशेषको तिरोहित कर सामान्यके आविर्भावका उपाय है।

१६७—सामान्यभावकी दृष्टिका महत्त्व—

इस जमानेमें आदर सामान्यका है कि विशेषका? विशेषका। सामान्यको कौन पूछता यह

बहुत विशिष्ट पुरुष है, लोकमें विशेषकी इज्जत है, सामान्यकी नहीं, मगर अध्यात्मके प्रसंगमें सामान्य का आदर है और जरा इसको इस दृष्टान्तसे समझें, नमककी डलीके चरित्रकी तरह। जैसे पकौड़ी बनाई गई तो उन पकौड़ियोंमें नमक पड़ता है ना। अब उस पकौड़ीको कोई खायगा उसको नमकका भी स्वाद आयगा कि नहीं ? अरे स्वाद तो नमकका आयगा मगर वह नमक कहीं आंखों से तो नहीं दिखता, इन आँखोसे तो वहां दालकी पकौड़ियां दिखतीं तो वह यही कहेगा कि पकौड़ियां बड़ी अच्छी लग रहीं। अच्छा अब कोई पकोड़ियां बेसनकी जरा ऐसी भी बनवाओ जिसमें नमक बिल्कुल न पड़ा हो, वह भी देखनेमें साफ वैसी ही होगी जैसी कि और पकौड़ियाँ। उसे खिलावो, तो उसे खानेपर तो वह यह कह देगा कि यह तो बढ़िया नहीं है।...अरे क्यों बढ़िया नहीं है। फर्क क्या आ गया ? तो बस यह फर्क रहा नमकके मिलने और न मिलनेका। तो जिस नमक की इतनी बड़ी महिमा है कि नमक डल गया तो बड़ा स्वाद आ रहा और नमक न डला तो स्वादका नाम नहीं, तो ऐसे उस उपकारी नमककी कुछ याद भी नहीं करता पकोड़ियोंका आसक्त। याद तो तब आया जब दूसरी पकौड़ियाँ बिना नमककी सामने धर दी गईं। तो जिस नमकके प्रतापसे वे पपड़ियाँ पकौड़ियाँ अच्छी लगतीं उसका कुछ याद भी नहीं करता और परिचय भी नहीं कर रहा, क्यों नहीं कर रहा ? यों कि उसकी दृष्टि तो उस पकौड़ीपर है और बेसन है, दाल है, उसपर दृष्टि है, नमकपर दृष्टि नहीं। इसलिए नमक की बात उसके चित्तमें नहीं है। क्या वह नमक का स्वाद भी नहीं ले रहा ? स्वाद तो ले रहा मगर पकौड़ी के खाने में वह इतना आशक्त है कि वह नमकके स्वाद को अलगसे समझ नहीं पाता। और उस प्रसंगमें समझना जरा कठिन भी हो रहा। कोई बहुत ज्ञानदृष्टि करके समझे तो वहाँ अंदाज कर सकता।

१६८—सामान्यविधिसे अनुभवनेका महत्त्व—

अच्छा एक और घटना ले लो। नमककी छोटी डली अलग जीभ पर रख लिया तो आपको नमकके स्वादका स्पष्ट परिचय हो जायगा कि यह है नमक। तो हुआ क्या ? नमक तो सामान्यविषयक दृष्टान्तकी बात है क्योंकि वह थोड़ा था, उसपर कोई वजन नहीं, कुछ नहीं, सामान्य याने थोड़ासा जुड़ गया था। और, विशेष क्या था ? वे पकौड़ी जो दिख रहीं। तो विशेष रूपसे अनुभव करनेपर नमककी समझ नहीं और जब केवल नमक को जिह्वापर रखते हैं तो उसे नमकका स्वाद आता। ऐसे ही सामान्य और विशेष आत्मामें देखो सामान्य क्या है ? सामान्य रीतिसे क्या जाना जाना है ? वह चैतन्यस्वभाव अखण्ड चित्प्रकाश। विकल्प न करे, जब कभी विकल्प न बनें और उस चैतन्य प्रकाशको निरखनेका पौरुष करें तो वहां समझमें आ जायगा कि यह हैं परमार्थ। और विशेष क्या—नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, गृहस्थ व्यापारी, अमुक, तमुक आदि ये सब विशेष हैं। तो जब विशेष रूपसे अनुभव कर रहा हैं यह जीव, यह मित्र है, यह शत्रु हैं, यह विरोधी है, यह गैर हैं आदि, तो उसे अंतस्तत्त्वका स्वाद कहाँसे आये ? जब विशेषकी उपेक्षा करके केवल एक निजस्वभावकी दृष्टि बने तब वह आत्मानुभूति होती हैं कैसा है यह आत्मतत्त्व ? अखण्ड। आत्मा ही क्यों अखण्ड है ? जितने भी पदार्थ हैं वे सब अखण्ड हैं। पदार्थ कभी खण्ड रूप होता हो नहीं। आप नाम लेते जाइये। आत्माको तो अखण्ड कह रहे। बताओ—पुद्गल भी अखण्ड है कि नही ? अखण्ड है तभी तो अनेक पुद्गलकी मिल कर स्कंध पर्यायें बनी। इसे तो अनेक दार्शनिक संवृति कहते हैं, कल्पना है। ये अवस्था विशेष माने तो जाते हैं, मगर मायारूप है, अनेक पदार्थोंका मिलकर बना है, परमार्थ नहीं है परमार्थतः पुद्गल क्या है ? अणु है ? क्या अणुका भी खण्ड बनता ? अणुके खण्ड नहीं बनते। विशेषका वर्णन करनेमें

एकके विशेष विशेष खण्ड बनाकर वर्णन किया जाता है मगर वर्णन करनेसे अगर चीज वैसी बन जाय तब तो आपका अच्छा सौदा हो जायगा, क्योंकि आप सिर्फ भोजनका वर्णन करलें तब तो पेट भर जाना चाहिए, फिर तो भोजन करनेकी जरूरत न रहनी चाहिए। अरे वर्णन करनेसे कहीं पेट भरता। प्रत्येक पदार्थ अखण्ड है। अच्छा अधर्म व धर्मद्रव्य अखण्ड है कि नहीं, अधर्म धर्म अखण्ड है। आकाश द्रव्य अखण्ड है कि नहीं, कालद्रव्य अखण्ड है कि नहीं? अरे प्रत्येक द्रव्य अखण्ड है, खण्ड-खण्ड सत् नहीं होते।

१६९—खण्डके बोधसे अखण्ड बोधमें प्रवेश—

अब देखो स्याद्वाद एक अपेक्षावाद है, उसे कोई समझे तो सही। किसी पर्यायको देखे और कहे कि यह तो स्वतंत्र चीज है, यहाँ कोई संबंध पर्यायका किसी द्रव्य गुणसे नहीं। सो भैया, यह तत्त्वचर्चण अज्ञानीके नेतृत्वमें नहीं कि जो मनमें आया सो कह दिया। अरे स्वतंत्र सत्का पहले मतलब जानें कि किसे कहते हैं स्वतंत्र सत्। स्वतंत्र सत् उसे कहते हैं जो गुण पर्यायवाला हो, जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हो, जो अलग प्रदेश रखता हो उसे कहते हैं स्वतंत्र सत्। कोई भी गुण लो, वह क्या गुणपर्यायवाला है? निर्गुणाः गुणाः। क्या गुणमें पर्याय है? गुण तो गुण है। क्या इसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य है? ध्रौव्य भले ही कह लो, मगर उत्पाद व्यय रूपता सम्भव नहीं है। अब तीसरी बात सुनो यदि गुणको पर्यायको स्वतंत्र सत् कहा तो इसके मायने है कि दर्शन चारित्र आनन्द आदिक गुण और पर्याय ये सब अन्य अन्य हो गए, उनके परस्पर भिन्न प्रदेश हो बैठे, पर ऐसा है कहाँ? इसलिए गुण पर्यायकी स्वतंत्रताकी बात जरा भी नहीं बनती। जैन शासनका आगम ज्ञान इतना विशाल व प्रमाणभूत व दृढ़ चिना हुआ है कि जिससे कोई गलत बोले तो पता पड़ जाता है कि यह वचन ठीक नहीं रहा। इसप्रकार जैनशासनका जो ज्ञान रखते हैं वे कोई जरा भी यहाँ वहाँ चले, भंग हो, खण्ड हो, सब समझमें आ जाता। मगर जैसे जिस गोष्ठीमें मानो बड़ा तो एक है, जैसे एक चलावाला नेता है और बाकी छोटे लोग हैं, मानलो ९ लोग तो छोटे हैं और एक बड़ा है उनमें हाहा हूहू किसका समझा जायगा? उसका, एकका, बड़ेका। बाको ९ को कहा जायगा कि हाँ ठीक भी हो सकता है। तो तत्त्वज्ञान यह कोई १०–१५ दिनोंमें पढ़ लेनेकी चीज नहीं। इसके लिए तो जीवन भर गुरुचरणों में अपनेको अर्पित कर, उनके चरणोंमें सारा जीवन लगायें और परिश्रमसे अध्ययन करें तो उस तत्त्व ज्ञानको हासिल कर सकते हैं। यह आत्मा अखण्ड है। यह समझा शुद्धनयसे। आत्मामें ज्ञानादि अनेक गुण हैं यह समझा व्यवहारनयसे। शुद्धनय गुण पर्यायोंका भेद नहीं देखता। देखो गुणका, पर्यायका भेद व्यवहारसे किया और उसीको मानलें परमार्थ सत् स्वरूप तो कितनी बड़ी एक बेतुकी बात बन जाती है।

१७०—अनाकुलविधिसे अनाकुल अखण्ड अन्तस्तत्त्वके अनुभवमें आनन्दमयता—

आत्मा है अनाकुल स्वरूप। सो अखण्ड अंतस्तत्त्वको जब निरखा गया तो निराकुलताकी स्थितिको लेकर ही निरखा जा सकता है, आकुलताकी स्थितिमें वह अखण्ड आत्मतत्त्व निरखा ही नहीं जा सकता। स्वभावतः यह अन्दर बाहर सब जगह चकचकायमान है, जाज्वल्यमान है। भीतरमें सहजस्वरूप देखो चित्प्रकाशका। ऐसा यह एक स्वरूप अंतस्तत्त्व है, जहाँ सहज ही आनन्दका विलास चल रहा है, एक ही अपने आपमें देखो और अपने आपको अपना जिम्मेदार समझ लो, मेरा दूसरा कोई जिम्मेदार है क्या? जिसको हमने स्त्री पुत्र मान रखा वे कुछ हमारी मदद कर देंगे क्या? कभी नहीं,

त्रिकाल नहीं, वे अपनी कल्पना और योग्यताके अनुसार अपनी बात बना पायेंगे। दूसरा कोई मददगार नहीं। तो अब आप समझें कि यह मोह कितना विकट अंधकार है, यह मोह कितना विकट विशाल है पिशाच। इस भगवान आत्मामें मोह पिशाच लगा है तो ऐसा मथ रहा है कि इसे चैन नहीं पड़ती। कौन मथ रहा ? मोह, पिशाच। जरा भीतरमें निर्णय करके इतना भी सोच लें कि अपना कल जो दिन बीत गया उसमें अगर मृत्यु हो गई होती तो फिर क्या था हमारे लिये यहाँ का यह संग प्रसंग ? क्या ऐसा दिन न आयगा जो दिन यह कहलायगा कि लो थे, मर गए। जो बात कुछ दिन बाद होने की है उस बातका जरा अभीसे अंदाज करलें। अपनेको मान लें कि मैं तो मनुष्य ही नहीं हूँ तो फिर यहाँ की बात मेरे लिए क्या है ? और यह समय आयगा ना और यह बात बनेगी ना, मगर चैन इसको कहते हैं कि पहले से सही बात समझकर रहें। बाह्य पदार्थोंसे विकल्प हटाना, मोह हटाना अपने आपके अन्दर अभिमुख बनना इसीमें हित है। जब अभिमुखता स्वमें आती है तो वहाँ सहज आनन्दका बिलास होता है। जो चैतन्यसे निर्भर है, व्याप्त है, जहाँ उत्पाद व्यय ध्रौव्यके स्वभावके कारण विशुद्ध उच्छ्वलन निरन्तर चल रहा है, उससे व्याप्त भीतरकी बात हमारे सहज आनन्दको लिए हुए है, ऐसे इस अंतस्तत्त्वको देखिये। जो भव्य निज स्वभावकी भावना रखे इस उपयोगमें ऐसा सहज चैतन्यप्रकाश रखे, जिसके ऐसा सहजचैतन्यप्रकाश अनुभवमें रहे जिसको दृष्टान्त द्वारा सिद्ध किया था कि एकरस है और नमककी डलीकी तरह लीलायित है मायने केवल एक आत्मतत्त्व अखण्ड जिसके प्रति जोड़ तोड़ परिणाम न करें, जोड़ तोड़ किए बिना जो मूल बात है उसको अनुभवमें लें ऐसा भव्य आनन्दमय होता है।

१७१—व्यवहारसे आत्माकी परख बनाकर व्यवहारसे अतीत होकर अन्तस्तत्त्वके अनुभवनेका संदेश—

जोड़के मायने जोड़ना, तोड़के मायने तोड़ देना, निकाल देना। अच्छा बताओ जोड़ अच्छा है कि तोड़ ? तो आपके लिए क्या जोड़ ही बढिया होगा, क्योंकि जोड़से ही तो धन जुड़ेगा तोड़से नहीं। (हँसी) यह तो जोड़ तोड़ हुआ बाह्यमें। अब यह जोड़ तोड़ अपने आत्मामें घटाकर देखो आत्मा को जब ऐसा निरखा जाता है कि आत्मामें राग है, द्वेष है, क्रोध है, मान है, माया है, लोभ है, कर्मसे बँधा है, देहमें बँधा है तो यह सब आत्मामें एक जोड़की बात है। अब तोड़की बात देखो—आत्मामें ज्ञान गुण है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, शक्ति है, इस तरहसे वर्णन करनेका नाम तोड़ कहलाता है। देखो अखण्डमें जोड़ और तोड़ दोनों आत्मानुभवकी स्थितियाँ नहीं हैं। यह जोड़ तोड़ की स्थिति मिटे और जो एक अखण्ड चैतन्यस्वरूप है उसका, उसका अनुभव जगे। जोड़ बिना भी परिचय नहीं मिलता, तोड़ बिना भी परिचय नहीं मिलता तो भी परिचय परिचयमें ही रहें, समझने समझानेके लिए अन्य अन्य बातोंमें ही दृष्टि रहे, जोड़ तोड़में ही उलझे रहे तो फिर उस अखण्ड चैतन्यस्वरूपका अनुभव कहाँ पा सके। बस वहाँ दृष्टि करना है आत्मानुभवकी। आत्मानुभव ही एक मात्र सार है। जरा हिम्मत बना लो, परिवार तो कुछ काम आयगा नहीं, जरा हिम्मत बना लो, क्योंकि कायरता-कायरतामें ही अनन्त भव व्यतीत कर डाला। जिस जिस भवमें गए उस उसमें ही रचे पचे रहे। अब भी अगर परिजनोंमें ही रचे पचे रहे तो उसका परिणाम बहुत बुरा होगा। इसलिए किसी भी क्षण एक बहुत बड़ा साहस बनाकर एकदम इस संधिको तोड़ दें। अपनेमें एक पात्रता बने, जिसे कहते हैं कि धर्मका आदर किया गया है। उस तरहका आचार विचार बने तो अपनेमें वह पात्रता बनेगी कि किसी क्षण अपने आत्मतत्त्वका अनुभव कर लेंगे।

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मसिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

१७२—आत्माकी साध्यसाधकभावसे दो प्रकारमें एक आत्माकी उपासना—

जो पुरुष आत्मस्वरूपकी सिद्धि चाहते हैं, आत्मस्वरूप तो है ही, जो सहज आत्मस्वरूप है वह अपने ज्ञानमें निरन्तर बसा रहे, यह कहलाती है आत्मसिद्धि, जो पुरुष आत्मोपलब्धि चाहते हैं उनको क्या करना चाहिए ? यह ज्ञानघन, यह आत्मतत्त्व साध्य और साधक इन दो भावोंसे उपासित करना चाहिए । इस आत्माको साधना करके पाया गया है आत्माका जो शुद्ध पूर्ण विकास, वह क्या आत्मा नहीं है ? आत्मा ही तो है । जो साध्य है वह आत्मा है, जो साधन कर रहा है वह आत्मा है । यही ज्ञानघन आत्मा साधक है यही साध्य । आत्मा ही सिद्ध होता है । देखिये—यह एक निश्चय-दृष्टिसे कथन है । सो यहाँ अन्यकी बात न आयगी ? करना क्या है ? उपादानप्रधानदृष्टिसे बात सुनना है । पाया क्या गया ? यह आत्मतत्त्व, पूर्ण आत्मतत्त्व और पाया किसने ? इस आत्माने । अपना यह ही आत्मा साध्य है और यह ही आत्मा साधन है, इस प्रकार साध्य और साधन इन भावोंसे इस आत्माकी उपासना की । अब किस प्रकारका साधन हुआ, किस तरहसे उपासना करना चाहिए, आत्म-तत्त्वकी ? तो शुद्धनयके आश्रयसे भूतार्थका आश्रय करना चाहिए । भूतार्थका भाव क्या ? सब तरहसे समझ लेनेके बाद अखण्ड आत्मतत्त्वका आश्रय लिया जिसमें गुणभेद पर्यायभेदसे समझे तो सब, मगर जब गुणभेद भी न रहे, पर्यायभेद भी न रहे, मात्र जैसा यह आत्मा है, जैसा यह चैतन्यस्वरूप है, इसमें गुण गुणीका भी भेद न रहे, गुणका भेद न हो, पर्यायका भेद न हो, और जानें यह वस्तु ही पूरा, जो भूतार्थसे, परमशुद्धनिश्चयनयसे जाना गया वह एक अखण्ड अंतस्तत्त्व उसकी दृष्टिमें आता है, इसे कहते हैं भूतार्थका आश्रय । इसे कहते हैं शुद्धनयका आश्रय । इसके अतिरिक्त जितने भी और समझानेके प्रकार हैं वे शुद्धनय नहीं हैं । शुद्धदनय नहीं हैं तो क्या हैं ? यदि किसी आत्माकी शुद्ध-पर्यायोंका अभेद विधिसे परिचय किया जा रहा है, यह आत्मा केवलज्ञानी है, यह आत्मा अनन्त सुखी है तो वह कहलाया शुद्धनिश्चयनय । यह भी शुद्धनय याने अखण्डनय नहीं । जहाँ यह दृष्टि बनाया कि यह जीव रागी है, द्वेषी है यह कहलाया अशुद्धनियनय, क्योंकि निमित्तपर ध्यान नहीं दिया, अखण्डका ग्रहण नहीं हुआ । निमित्तका यहाँ अभी सम्बंध जोड़कर नहीं कहा, केवल एक द्रव्यको देखकर अशुद्ध की बात कह रहे हैं । अतः यह हुआ अशुद्धनिश्चयनय, फिर इसके आगे और बढ़े, व्यवहारमें गुणोंका भेद किया या गुण गुणीका भेद किया तो यह हुआ शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय । फिर आगे और पर्यायों का भेद किया, भेद विधिसे जाना । जितने गुणभेद किये वैसे विभावोंका ग्रहण हुआ तो हुआ असद्भूत व्यवहार और जहाँ पदार्थ कोई हो नहीं उन शब्दोंमें, मगर है प्रयोजन मात्र, तो उपचार हुआ । उपचार कब मिथ्या है कि उपचार जिस भाषामें कहा गया है उस भाषामें उपादानबुद्धिसे देखा तो वह मिथ्या है । मगर उपचार प्रयोजनकी बात कहे तो वह कहाँ झूठा है ? जैसे किसीने कहा घीका घड़ा, अब उसे कोई यों समझे कि जैसे मिट्टी, लोहा, ताँबा आदिके घड़े होते ऐसे ही घीका घड़ा, तो यह उपचार मिथ्या हो जायगा, मगर उसका प्रयोजन जान लें कि जिसमें घी रखा है सो घीका घड़ा तो यहाँ उपचारमें प्रयोजन झूठा तो नहीं है । प्रयोजन समझना चाहिए । ये नयोंके प्रकार कहे, पर अनुभवके निकट शुद्धनय है, जिसका आश्रय करके अनुभवमें उतरते हैं, सब नयोंका परिचय पाकर, सब नयों से आगे बढ़ कर शुद्धनयके भावोंमें आकर आत्मानुभवमें प्रवेश होता है ।

१७३—खण्डनयोंमें स्वयं सहजभूत अर्थत्वका अभाव—

शुद्धनयका विषय केवल एक अखण्ड आत्मतत्त्व है। इसके अतिरिक्त जो कुछ तत्त्व है शुद्धनय याने अखण्डनय नहीं है। शुद्ध निश्चयनय अशुद्धनिश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय ये अखण्डनय याने भूतार्थ नहीं। शुद्धनिश्चयनय क्यों भूतार्थ नहीं ? यों नहीं कि वह खण्डका ज्ञान करता है, वह परिणतिका ज्ञान करता है। यहाँ यह नहीं कि अशुद्धनय मिथ्या है। अशुद्धनयके मायने पर्यायकी बात कही, सो ऐसा गुजर ही रहा, असत्य कैसे, किन्तु जो शुद्धनय नहीं है वे सभी अशुद्धनय कहलाते। अशुद्धनय भी ऐसे अनेक हैं जो सच्चाईकी ओर ले जाने वाले हैं। जैसे दूधमें देखो, अब दूध दो तरहका शुद्ध कहलाता। एक तो वह शुद्ध दूध जो त्यागी व्रतियोंके लिए शुद्धविधिसे दुहकर आये और एक शुद्ध दूध वह कहलाता कि जिसमें शुद्धविधिसे दुहनेकी कोई बात नहीं, चाहे किसीने भी कैसे भी दुहा हो, पर दूध केवल दूध हो, जिसमें पानी वगैरह दूसरी चीजका मिलावट न हो और उस दूधमें से क्रीम आदि न निकाला हो वह शुद्ध दूध कहलाता। जब वस्तुकी ओरसे देखते हैं तो शुद्धदूध का अर्थ है खालिस दूध जिसमें कोई दूसरी चीज नहीं मिली है। स्वयं वह परिपूर्ण है, तो यह हुआ वस्तुकी ओरसे शुद्ध दूधकी बात। अब आत्माकी ओरसे शुद्ध आत्माकी बात कह रहे कि जिस आत्मा में से न कुछ निकाला गया याने गुणभेद नहीं किया गया, न कुछ जोड़ा गया याने उपाधि व औपाधिक भावोंको जोड़ा नहीं, ऐसा जोड़ तोड़से रहित आत्मतत्त्वकी बात जो दर्शाये उसे कहते हैं शुद्धनय, इसके अतिरिक्त जो नय हैं वे कुछ सत्य भी हैं कुछ मिथ्या भी। और कुछ सद्भूत कुछ असद्भूत। तो ऐसे शुद्धनयका आश्रय करके यह जीव एकदम अंतस्तत्त्वकी ओर आता है। अपनेको ऐसी ही तो उपासना करना है। देखिये—ज्यादह कोई झंझटकी बात नहीं है। जिसे करना है उसके लिए रास्ता साफ है, जिसे नहीं करना है उसके लिए रास्ता ही साफ नहीं है। कभी कभी ऐसा होता कि सही रास्तापर तो खड़े हैं और मन ही मन कुछ ऐसा ख्याल बना लिया कि हम तो मार्ग भूल गए तो फिर उस मार्गसे लौट आते हैं। एक कल्पनामें ही तो आ गया कि रास्ता भूल गए, भूले तो नहीं, पर उस भूलपर ही अधिक जोर दे दिया तो लौट भी आये, ऐसे ही आत्मा कहीं बाहर नहीं है। मार्ग कहीं बाहर नहीं है। मार्ग अपने आपमें है, उसे निःसंशय पूर्ण निर्णयके साथ जानें। देखो एक बात और होती है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होता है, गुण तो उस स्वभावको समझानेके लिए एक दृष्टिसे कथित है और पर्याय अनिवारित है, मगर पर्यायमें जो भेद डाला—यह ज्ञानपर्याय, दर्शनपर्याय, चारित्र पर्याय वह भी भेददृष्टिसे कथित है, पर वहाँ मूलमें अखण्ड द्रव्य, अखण्ड पर्याय है। अखण्ड पर्याय के मायने एक समयको जो अवस्था हुई है। वह क्या ? अगर उसे एक एक भेद करके बताया जाय तो पूरी अवस्था जो एक समयमें होती है वह बतायी नहीं जा सकती। भेद करके बतायेंगे तो खण्ड ही तो किया, वह पूरा पदार्थ नहीं आया। एक समयमें वस्तु जिस रूप परिणम रहा है उसको बतानेके लिए शब्द हैं क्या ? जैसे द्रव्यस्वरूप अवक्तव्य है ऐसे ही पर्यायस्वरूप अवक्तव्य है। जैसे स्वभावको भेद कर गुणरूपसे वचनगोचर बनाते हैं ऐसे ही एक समयके पर्यायको भेद करके हम वचनगोचर बनाते हैं।

१७४—वस्तुधर्मोंके विवरणका आधार द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि—

अर्थमें द्रव्यत्व व पर्याय होना अनिवारित है। इसी आधारपर जब वस्तुमें द्रव्य और पर्याय ये दोनों अनिवारित हैं तो अपने आप जो कुछ भी उसमें बात कहेंगे, जानेंगे द्रव्यदृष्टिसे व पर्यायदृष्टिसे। जैसे प्रश्न आया कि जीव नित्य है या अनित्य ? उत्तर कैसा आया ? द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टि

से नित्य नहीं है। नित्यमें नहीं न बोल कर आदिमें 'अ' भी लगा सकते हैं नित्य नहीं है याने अनित्य है, अच्छा और कोई ऐसा कह बैठे कि जीव नित्य है, अनित्य नहीं हैं सो लो—है और न में जोर देनेसे स्याद्वाद बन गया। एकमें है जोड़ दिया और एकमें न, तो स्याद्वाद बन गया क्या ? इस तरह स्याद्वाद नहीं बना क्योंकि उसमें दो धर्म कहाँ कहे गए हैं नित्य है अनित्य नहीं, ऐसा कहनेमें तो एक ही धर्म आया, एकान्त ही रहा। ऐसा तो सांख्य भी कहते, वेदान्त भी कहते, ऐसा तो ब्रह्माद्वैतवादी भी कहते। उनकी ही बात क्या, सभी यही कहते जो हमने कहा है सो सत्य है असत्य नहीं, इसके अतिरिक्त जो है वह असत्य है ऐसा तो सभी कहते हैं। वह स्याद्वाद नहीं है, वे है और न में फिदा है तो चलो यहाँसे भी आपत्ति हटावो - जो बौद्ध लोग कहते कि जीव अनित्य है, नित्य नहीं है बस मान लो स्याद्वाद हो गया। अगर ऐसा स्याद्वाद हो तब तो एकान्तवाद कुछ रहता ही नहीं, क्योंकि एकान्तवाद यह कहता कि जो हम कहें सो सो सत्य है, अन्य कुछ सत्य नहीं है, ऐसे ही नित्य है, अनित्य नहीं है, हर एक कोई अपना अपना मंतव्य बताता है जो जिस स्वरूपकी मान्यता लिए हुए है। तो जहाँ द्रव्यदृष्टिसे बात आये और पर्याय दृष्टिसे बात आये वह स्याद्वाद है और वहाँ ही निर्णय होता है।

१७५—आत्माके साध्यसाधकभावका विश्लेषण—

साध्य कौन है ? यह पूर्ण आत्मद्रव्य, मगर जब साध्य कहा तो पर्यायनयसे साधन कहना पड़ेगा, नहीं तो साध्य नहीं समझ सकते। अगर पर्यायनयकी बात साध्यमें न हो तो अन्तस्तत्त्व तो अनादिकालसे है ही, फिर साध्यकी क्या जरूरत ? ज्ञानघन आत्मा अनादिकालसे है। कभी से इसकी सत्ता बनी हो ऐसा नहीं है। फिर साध्यकी क्या जरूरत ? जब साध्य देखते हैं तो पर्यायनयसे विचार करें, जो अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्तिमय आत्मा है, वह ज्ञानमय आत्मा साध्य है और साधन क्या ? साधकमें भी पर्यायनयकी दृष्टि रखनी होगी, उससे निर्णय करना होगा। पर्यायनयका या पर्यायदृष्टिका अर्थ यहाँ यह नहीं है कि पर्यायको आत्मा मानें, लोग कहते हैं कि पर्यायदृष्टि करना बुरा, अरे पर्यायदृष्टिसे पर्यायको पर्याय जानना यह बुरा है क्या ? परन्तु पर्यायको ही द्रव्य सर्वस्व माने, आत्मसर्वस्व माने वह मिथ्यात्व है, अन्यथा कुछ निर्णय ही नहीं बन सकता। अब जरा पर्याय अवस्थासे देखना होगा कि साधक कौन ? जो अनादि अनन्त अहेतुक अंतस्तत्त्व विज्ञानघनकी उपासना करनेकी परिणति है बस ऐसी स्थिति वाला आत्मा साधक कहलाता है। साधक और साध्य ये दो भेद पर्यायविवक्षासे हैं। द्रव्यदृष्टिसे वह एक ज्ञानघन है। साधकमें भी वही द्रव्यदृष्टिका लक्ष्य है, साध्यमें भी वही द्रव्यदृष्टिका लक्ष्य है, वहाँ तो अन्तर नहीं, मगर साध्य साधन कहाँ ? वहाँ उपासक आत्मा है साधक, आत्माकी ही पूर्ण अवस्था साध्य है। साधकका अर्थ है साधने वाला और साध्यका अर्थ है साधन किए जाने योग्य है, मायने वह सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार यह जो अन्तस्तत्त्व याने स्वभाव जो स्वसमयमें है, परसमयमें है, सम्यग्दृष्टिमें है, मिथ्यादृष्टिमें है, सर्वत्र है, उसका जहाँ लक्ष्य है, आश्रय है वह स्वसमय है।

१७६—ओघ कारणसमयसार व समुचित कारणसमयसार—

कारणसमयसारको दो प्रकारसे देखना होगा—द्रव्यदृष्टिसे और पर्यायदृष्टिसे। पर्यायदृष्टिसे कारणसमयसार है, क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव। वह है कारणसमयसार। उसके अनन्तर कार्य समयसार होता है। द्रव्यदृष्टिसे, उपादान दृष्टिसे कारणसमयसारका निर्णय करनेके लिये वहाँ उपादान दो रूपमें परखें, ओघ और समुचित। ओघ दृष्टिसे देखनेपर कारणसमयसार क्या हुआ ? वह अनादि

अनन्त एकस्वरूप अन्तस्तत्त्व वह है, कारणसमयसार। अब देखिये—इन बातोंसे कैसे काम पड़ता ? कुम्हार घड़ा बनाना चाहता है तो घड़ा बनानेके लिए वह मिट्टी ही क्यों लाता ? कोयला क्यों नहीं लाता ? वह जानता है कि मिट्टीमें ही यह खासियत है कि उसपर प्रयोग करे तो घड़ा बन जायगा। तो सामान्य मिट्टी ओघ उपादान है और समुचित कारण है चाकपर सजी पिण्डरूप मिट्टी। जैसे—अरहंत होनेका कारण है १२वाँ गुणस्थान। यद्यपि घटका कारण नहीं है छर्रा मिट्टी, घटका कारण है जिस पिण्डरूप अवस्थाके बाद तुरन्त घट पर्याय कुछ बनता है लेकिन वह मिट्टी ही से तो बनता है अन्यसे तो नहीं, इसी कारण कुम्हार मिट्टी ही लाता अन्य कुछ इकट्ठा नहीं करता। तो मिट्टीको ही समझिये कि यह तो ओघ उपादान है व एक है समुचित कारण। जब निरपेक्ष साध्य अवस्था होती है जीवकी तो अन्दरमें वहाँ किसकी साधना बनती है ? अन्दरमें वह द्रव्यदृष्टिसे जो समझा गया कारण समयसार है उसकी दृष्टि बनाते हैं और साधनके लिए वे परिणतिको लक्ष्यमें नहीं लेते। समुचित कारणसमयसार १२वें गुणस्थानवर्ती जीवकी परिणति है, पर वह परिणति इस साधकका लक्ष्य नहीं है वह तो एक फल प्राप्त हुआ है। साधकका लक्ष्य है ओघ कारणसमयसार, ऐसा स्वभाव जो अभेद है, जो एक लक्षण द्वारा लक्षित है, वह द्रव्य दृष्टिसे ही लक्ष्यमें आता है।

१७७—रत्नत्रयात्मक आत्मामें साध्यसाधकरूपताका दर्शन—

यह प्रकरण चल रहा है कि आत्माको आत्माकी उपासना करना चाहिए याने साधक भी आत्मा और साध्य भी आत्मा। तो कैसे आत्माकी उपासना करना चाहिए ? तो बताया गया था अखण्डित, अनाकुल, अभेदरूप एक शाश्वत चैतन्यस्वभाव रूपमें आत्माकी उपासना करना। इसी बात को कोई न समझ सके, क्योंकि संक्षिप्त भाषा है, तो इसका कुछ विस्तार होना चाहिए। किस तरहसे आत्माकी उपासना करें ? तो उसका भेदरूप कथन है कि साधकको दर्शन ज्ञानचारित्रकी उपासना करना चाहिए। अर्थात् आत्मा सहजचैतन्यस्वरूप यह मैं हूँ, यह मैं हूँ इसके आश्रयमें कल्याण है इस प्रकारका श्रद्धान और यही ज्ञान, यहाँ एक ध्यानके प्रसंगकी बात चल रही है और इस ही में रमण, ऐसा ही ज्ञाता द्रष्टा रहना, यह हुआ चारित्र। ज्ञाता द्रष्टा रहना, इस प्रकारका निरन्तर बना रहनेका नाम चारित्र कहा। यह निश्चय चारित्रकी बात है। तो आत्मा तो अपने इस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंमय ही है, कुछ अलग चीज नहीं है। जैसे कोई पुरुष श्रद्धा कर रहा, ज्ञान कर रहा, रम रहा, और बातें लगाता जीव, तो वह पुरुषसे अलग तो नहीं, उस पुरुषकी ही स्थिति है इस आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप। वह इस तरह तीन रूपसे एकताको प्राप्त है। यह प्रमाणदृष्टिसे व भेददृष्टिसे बोध किया जा रहा है। इस तरह आत्माकी उपासनाके लिए हमारी तैयारी क्या होनी चाहिए ? नयोंसे परिचय व प्रमाणसे परिचय करना। उसका फल यह होगा कि नय और प्रमाणसे अतीत जो एक अवक्तव्य तत्त्व है उसका उसमें प्रवेश होगा।

१७८—आत्माकी उपासनाके अर्थीका प्रथम कर्तव्य नय व प्रमाणसे परिचय करना—

भैया नयोंके परिचयसे व प्रमाणके परिचयसे हमें वस्तुका सही बोध होगा। तो पहले सिद्धान्तप्रधान नयोंका परिचय बनावें। नय ७ प्रकारके हैं—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय व एवंभूतनय। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। इनको किस तरह संक्षेपमें समझें ? नैगमनयका विषय है अभेदमें भेद, भेदमें अभेद। संग्रहनयका विषय हैं अभेद। व्यवहारनयका विषय है भेद। यहाँ व्यवहारनयका विषय मात्र पर्याय नहीं। यह कालदृष्टिसे कथन नहीं है, क्योंकि ये तीन

नय द्रव्यार्थिकनयके भेद हैं। ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक नयका भेद है इसका विषय है वर्तमान पर्याय। इसके बाद और सूक्ष्म विषयपर चलें। तो इससे और सूक्ष्म चलेंगे तो अब पदार्थसे सम्बन्ध न रहेगा, क्योंकि पदार्थके बारेमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म बात बतायी गई ऋजुसूत्रनयके विषयमें। इसके बाद अब पदार्थ की बात नहीं है। इसी कारण पहले चारको कहा है अर्थनय। इसके बाद और सूक्ष्म चलेंगे, जानेंगेतो ये सब शब्दनय हैं। इस तरह अनेक शब्दोंसे उस एक बातको जाना था, यह बात ऋजुसूत्रनय तक रही है। अब जितने शब्द हैं उतने ही अर्थ होते हैं। पदार्थ याने उसका अर्थ और उसका भाव। उनमेंसे और सूक्ष्म क्या, अनेक शब्दोंसे उस तत्त्वको न बोलें किन्तु उनमें भी योग्य नियत शब्द रह जाते हैं, उनसे परिचय करना यह हुआ और सूक्ष्म परिचय, शब्दनयसे। अच्छा इससे और सूक्ष्म क्या कहा जायगा ? शब्दका भी भेद कर दिया। तो इससे सूक्ष्म यह बात आयगी कि एक शब्दके अनेक अर्थ होते हैं, उनमेंसे एक अर्थको प्रधान करें, यह उसमें सूक्ष्म हो गया। यही कहलाया समभिरूढनय। उससे सूक्ष्म क्या होगा ? उस शब्द द्वारा अनेक अर्थमें से एक अर्थको जाना, मगर उस अर्थको उस स्थितिमें जाना कि जो शब्दमें अर्थक्रिया बसी उस क्रियामें परिणत हुएकी स्थितिमें जाना। बस यही हुआ एवंभूतनय। इस तरह ये ७ नय, इनका विस्तार, नयोंके वर्णनकी पद्धतिसे अभिप्रायसे जुदा जुदा भी उतरने लगेगा। इसलिए नयके बारेमें बहुत कुशलता होनी चाहिये। देखो नयोंके परिवर्तनमें, जो निश्चयनयने कहा वह व्यवहारनय बन गया, जो व्यवहारनयने कहा वह निश्चयनय बन गया। नयोंसे कोई पूर्ण परिचित न हो तो उसमें कुछ अजानकार जैसा, कुछ किंकर्तव्यविमूढ़ जैसा दिखता रहेगा। क्या हो गया, अभी यह था, अब यह हो गया, इतनी भी अटक न रहे, इतना नयोंके परिचयमें उतरना चाहिए। दूसरी विधिसे देखो द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय। द्रव्यार्थिकनयमें नय तीन आये, पर्यायार्थिकनयमें चार आये। उसका प्रयोजन क्या है ? द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है सो द्रव्यार्थिकनय है पर्याय ही जिसका प्रयोजन है सो पर्यायार्थिकनय। अच्छा और विधिसे देखो—निश्चयनय व व्यवहारदृष्टिसे देखो। निश्चयनयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। व्यवहारमें ज्ञेय आता है सद्भूत असद्भूतव्यवहार आदि। निश्चय-नयके द्रव्यार्थिकके दस भेद हैं। निश्चयनयके पर्यायार्थिकके ६ भेद हैं यों १६ भेदोंमें निश्चयनय आया और व्यवहारनय उपचार व अनुपचारमें सद्भूत व असद्भूत आया।

१७९—अध्यात्मपद्धतिसे नयों द्वारा आत्माका परिचय—

अच्छा, अब अध्यात्मपद्धतिसे देखें—तो मूलमें दो भेद हैं—निश्चयनय, व्यवहारनय। यहाँ निश्चयनयकी विधि यह है कि अभेद निरखो जहाँ एक द्रव्यमें एकको ही निरखनेका भाव है उसे कहते हैं निश्चयनय और जहाँ भेद विधिसे निरखनेकी बात है वह हो जाता है व्यवहारनय। जैसे निश्चयनय में परमशुद्ध निश्चयनय यह एक सिरताज नय है, जहाँ आत्माको अखण्डरूपसे निरखा, एक स्वभावरूप निरखा, अनादि अनन्त अहेतुक, वह है परमशुद्ध निश्चयनयका विषय और जब किसी एक आत्माको पर्यायरूपमें देखा मगर उसमें भेद लगाकर नहीं, निमित्त दृष्टि करके नहीं, किन्तु यों ही देखा कि जीव रागरूप परिणम रहा है, जीव केवलज्ञानरूप परिणम रहा है। तो शुद्ध पर्यायको अभेद विधिमें निरखा तो वह कहलायगा शुद्धनिश्चयनय तथा अशुद्ध पर्यायको अभेदविधिसे देखा तो यह कहलायगा अशुद्ध निश्चयनय। और जहाँ भेद आता है, जैसे कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवको सुख होता है, यह बात असत्य तो नहीं है ? ऐसा होता है, जैसे रोटी सिक गई, तो रोटी यों ही थोड़े ही सिक गई, अग्निका सन्निधान मिलनेसे रोटी सिकी, यों दो द्रव्योंके सम्बंधकी बात आती है। वह व्यवहारनय है। इसी तरह कर्ममें और जीवमें बन्धन है यों दो बातें कही जा रही हैं व्यवहारमें।

इसके अतिरिक्त और भी, जैसे कि जीवमें ज्ञान है, दर्शन हैं, चारित्र हैं, आनन्द है, यह भी व्यवहारनय हो गया, क्योंकि भेदविधिसे कथन है। यह बात जब अभेदविधिसे कही जा रही है तो शुद्धनिश्चयनय, जब भेदविधिसे कहा गया तो बन गया व्यवहार। सब अपने अपने प्रयोजन और अभिप्रायको लेकर नयोंकी बात कही है। अभी कहा जा रहा था कि कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव रागरूप परिणमता है, यह बना व्यवहारनय। इसके मुकाबलेमें जीव रागी है, यह बन गया निश्चयनय। तब एक अन्तर्दृष्टि और जगती है कि जीव चैतन्यस्वभाव मात्र है तो वह हो गया निश्चयनय, तब जीव रागी है यह हो गया व्यवहारनय। मुकाबले दो होते है। उनसे भी परिवर्तन चलता है। उत्तर उत्तर अन्तर्दृष्टि मिले तो पहले पहलेका निश्चय व्यवहार होता है। अब इस अध्यात्मविधिमें आखिर कहाँ तक पहुँचना है? शुद्धनय तक, परमशुद्धनिश्चयनय तक। शुद्धनय व शुद्ध अशुद्धनिश्चयनयमें फर्क क्या है कि शुद्ध अशुद्ध निश्चयनयमें तो एक खण्ड किया गया है अभेद रूपसे और शुद्धनय जिसे कहो भूतार्थ जिसे कहो परमशुद्ध निश्चयनय वहां केवल एक अखण्ड तत्त्व दृष्टिमें है, इसके समक्ष अन्य सब अभूतार्थ हैं। हमारा व्यवहार,हमारा निश्चयनय और इसे भी छोड़कर परमार्थकी स्थिति,बस यह हमारे लिए एक मार्ग है। अन्त में आखिर क्या करना है जिससे जीवन सफल हो? बस आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान, आत्मरमण और उसके लिए तैयारी करनी है? तो सब तरहका परिचय करना है, मानो कोई करणानुयोगकी विधिसे परिचय नहीं करता कि जीवकी क्या क्या मार्गणायें हैं, जीवके क्या क्या गुणस्थान हैं? तो उसके लिए स्पष्ट नहीं हो पाती अन्दरकी भी बात।

१७९—द्रव्य गुण पर्याय आदि विविध परिचयसे प्रायोजनिक उपादेय तत्त्वका दृढ़ अवधारण—

बहुत परिचयके बाद हमको प्रयोजनभूत वस्तुका सही परिचय मिलता है। एक कथानक है कि एक पुरुष जो कल्याणका इच्छुक था वह जंगलमें एक संन्यासीके पास पहुंचा, बोला—महाराज हमे कुछ ब्रह्मज्ञानका उपदेश दीजिए। तो संन्यासीने कहा—अहं ब्रह्मास्मि याने मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ।··· महाराज कुछ और समझाइये। देखो अधिक समझना हो तो पासके इस गांवमें ही एक वृद्ध ब्राह्मण रहते हैं वह तुम्हें समझायेंगे, उनके पास चले जावो। वह गया उस वृद्ध ब्राह्मणके पास। कहा—महाराज हम ब्रह्मज्ञान करना चाहते हैं आप हमें सिखा दो। तो उसने देखा कि घरमें कोई काम हो तो इसे सौंप दें, यह काम कर लिया करेगा और इसे पढ़ा भी देंगे। देखा कि घरमें गोशालाका मल मूत्र साफ करनेका काम रोज रोज रहता है सो यह उस कामको कर दिया करेगा और हम इसे पढ़ा देंगे। तो कहा ब्राह्मणने देखो—हमारे यहाँकी गोशाला रोज साफ करनी होगी और हम तुम्हें पढ़ा देंगे। वह खुश हुआ और पढ़ने लगा। १२ वर्ष तक उसका यही काम चलता रहा। गोशाला साफ करना और पढ़ना। जब पढ़ाई पूरी हुई तो उस शिष्यने कहा—पंडितजी अब आप बिदा होते समय हमें अन्तिम सार रूपमें शिक्षा दीजिए। तो वह ब्राह्मण बोला—अहं ब्रह्मास्मि। तो शिष्य बोला—अरे इतनी बात तो १२ वर्ष पहले संन्यासीने भी मुझे बताया था, क्या १२ वर्ष व्यर्थ ही गोबर उठाया? तो वह वृद्ध पंडित बोला—तुमने १२ वर्ष व्यर्थ गोबर नहीं उठाया। तुम स्वयं ही समझ रहे होगे कि १२ वर्ष पूर्व तुम क्या जानते थे और अब क्या जानते हो। तो इस आत्मतत्त्वके परिचयके लिए हमें किसी आचार्य की कृतिको गुरुजनोंके मुखसे पढ़ना सीखना चाहिए। जब तक गुरुमुखसे विद्याभ्यास नहीं किया जायगा तब तक आत्मज्ञानका वैशद्य नहीं होता। इन सारे ग्रन्थोंमें कोई प्रवेश पाये तो वह समझेगा कि इन ग्रन्थोंमें क्या-क्या रत्न भरे हैं। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, जयसेन, अमृतचन्द्राचार्य आदि बड़े बड़े दिग्गज

विद्वान हुए। षट्खण्डागम, जयधवल महाधवल आदि बड़ी बड़ी आचार्योंकी कृतियाँ है। जब इन्हें श्रद्धाभक्तिसे पढ़ते है तो तत्त्वज्ञान मिलता है, आत्मबोध मिलता है। सर्वज्ञदेवकी सर्वज्ञताकी श्रद्धा होती है और फिर परिचय मिलता है। कितना स्पष्ट बोध होता है। कर्मकी दशा कर्ममें चलती, जीव में नहीं आती। पर यह स्पष्ट होता जा रहा कि ऐसे ऐसे कर्मबन्धन चले, इसका सन्निधान पाकर जीव इस प्रकारसे अपनेमें परिणमन कर रहा। परिणमन इस प्रकारका है। अगर निमित्त नैमित्तिक भाव इस प्रकार न हो तब फिर निमित्तकी चर्चा क्या करना ?

१८१—वस्तु स्वातंत्र्य व निमित्त नैमित्तिकभावके परिचय द्वारा विभावसे हटकर स्वभावमें लगानेका अवसर—

देखो दो बातें–वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक,भाव, अपनेपर दया करके यह बात अपने को समझना है कि हमको चाहिए क्या ? यही तो चाहिये कि हम विभावोंसे हटकर स्वभावमें आयें। इसमें प्रयोजन तो इतना ही है, क्योंकि विभावको लेकर हम अब तक संसारमें चले आ रहे है। पदार्थ में कोई लगा नहीं अब तक। पदार्थोंमें लगनेकी बात तो उपचारसे है। मायने पदार्थमें कोई जीव लग कैसे सकेगा ? सत्ता उसकी न्यारी है, सत्ता इसकी न्यारी है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है। कोई जीव किसी पर पदार्थमें नहीं लगा अब तक, किन्तु पर द्रव्योंका आश्रय करके और कर्मोदय का निमित्त पाकर यह जीव अपने विभावोंमें बसा, विभावोंमें ही लगा। कषायोंको आत्मस्वरूप मानता रहा कि यह मैं हूँ, तब ही तो कभी क्रोध आता है और कभी मान, माया, लोभ होता है। जब इन कषायों रूप यह जीव परिणमता है तो इन रूप अपनेको मान लेता है। तो कर्तव्य यह है कि इन विभावोंसे हटकर स्वभावमें आयें, जिसके लिए आचार्य कुन्दकुन्दाचार्यने दो बातें बतायीं–वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिकभाव। वस्तुस्वातंत्र्य निरखते जावो, प्रत्येक द्रव्य अपने आपसे सत् है। अपने आपमें अपना सर्वस्व लिए है, अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं। जो परिणति होती है वह किसी दूसरेकी परिणति लेकर नहीं हो रही। ऐसा वस्तुका स्वतंत्र्य है। इस दृष्टिसे हमें क्या लाभ है ? जो पर पदार्थके प्रति कर्तृत्वबुद्धि लग रही थी वह अज्ञान नष्ट हो जाता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं होता, यही बात सबमें लगा लो। कर्म भी एक भिन्न द्रव्य है, जीव भी एक भिन्न द्रव्य है, तो कर्म जीवका राग नहीं करता है, यह बात समझमें आये। क्योंकि यदि हम यह बात नहीं समझ पाते और यह ही हमारी दृष्टिमें रहता कि कर्म जीवमें राग कराता है तो अब हम कर ही क्या सकते हैं ? कर्म तो अपना कुल बढ़ायेंगे। वे स्वतंत्र हैं, उनमें ऐश्वर्य है। फिर हम कैसे विभावसे छुटकारा पा सकेंगे। एक ऐसे रास्तेका अनुभव बने, जिसमें हम विभावविविक्त विशुद्ध चित्स्वभावमें मग्न हो। एतदर्थ ऐसा वस्तु-स्वरूपका प्रकाश देकर आचार्य देवने हमको उत्साहित किया और साहस बँधाया और अपने एक द्रव्य के निरखनेमें मदद दी। अच्छा यह बात तो हुई, मगर जब एक यह प्रश्न आता है तो क्या जीवमें स्वरूपके कारण किसी दूसरेकी छाया बिना, उपाधि बिना, सम्बन्ध बिना क्या जीवमें इसी तरह सहज विकार होता है ? अगर होता है तो भी राग नहीं मिट सकता, क्योंकि वह स्वभाव बन जायगा, तो फिर निमित्त भावका अर्थात् उस उस प्रकारका कर्मानुभाग उदयरूप होता है, उसका सन्निधान पाकर यह जीव अपनी परिणतिसे राग परिणति करता है। इसका परिचय विकारसे उपयोग कोहटा देता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने जीवाजीवाधिकारमें बताया ही है कि रागद्वेष ये सब अजीव हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मसे निष्पन्न विकार मेरा स्वभाव नहीं, नैमित्तिक भाव है औपाधिक भाव है। यों वस्तु स्वातंत्र्यव निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयसे हम विभावसे हटकर स्वभावमें लग सकते हैं।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

१८२—आत्मत्वके निर्णयपर ही भविष्यविधिकी निर्भरता—

यह आत्मा, हम आप सब आत्मा किसका ध्यान करें ? किसकी उपासना करें कि कल्याण हो जाय ? पहले तो यह ही बात परखिये कि जिस वृत्तिमें, जिस परिणतिमें तत्काल अशान्ति है, क्षोभ है, आकुलता है वह वृत्ति तो कल्याणका कारण हो ही नहीं सकती। ऐसी वृत्ति होना, पर पदार्थोंकी ओर चित्त लग जाना, रमना, रागद्वेष मोह लगाना, परकी ओर लगाव रखते हुए जो हमारी वासना धारणा वर्तना चलती है वह तो जीवके कल्याणके लिए नहीं है तो इतना तो निश्चित है कि आत्महितके लिये बाह्य पदार्थोंका आश्रय नहीं करना है, करना है अपने आपका आश्रय। तो अपने आपका बोध हो, तब तो आश्रय कर सकेगा यह उपयोग। इसलिए आत्मविषयकतत्त्वका बोध करना आवश्यक है। मैं आत्मा हूँ। हूँ इतना तो सब कहते हैं। जो नहीं बोल सकते वे भी अनुभव करते हैं कि मैं हूँ, मैं क्या हूँ बस इसके निर्णयपर ही सब दारोमदार है। जिस जीवने यह निर्णय किया कि मैं मनुष्य हूँ, व्यापारी हूँ, पंडित हूँ, धनी हूँ, गरीब हूँ, नेता हूँ, ज्ञानी हूँ, किसी भी प्रकार जो वर्तमान परिणतियाँ चल रही हैं उन रूपोंमें अगर निर्णय रखें तो वह निर्णय कल्याणमें सामिल नहीं है और जहाँ यह समझा कि मैं तो वह हूँ जो अपने-आप हूँ, सहज हूँ, पर सम्बंध बिना हूँ, केवल हूँ, मैं तो वह हूँ और होती ही चीज इसी तरह है, जो भी चीज होती है वह केवल होती है, मिली जुली नहीं होती। कोई भी है स्वतँत्र है, अपनेमें है, अपने स्वरूपसे है, परका कछ लिए हुए विना है।

१८३—पदार्थके साधारणगुणोंसे ही प्रथम भेदविज्ञानका प्रकाश—

अच्छा, पहले तो यह ही जानो कि पदार्थ कहते किसे हैं। पदार्थ वह है जिसमें ६ साधारण गुण पाये जायें। यह पदार्थकी एक मूल व्यवस्था है। मायने कोई चीज है तो वह ६ साधारण गुणमय है। साधारण गुण उन्हें कहते है जो सब द्रव्योंमें पाये जावें, जिनके नाम हैं अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, प्रमेयत्व। अगर कुछ है तो वह नियमसे इन ६ गुणों वाला है। किसी की बात स्पष्ट समझमें आये तो, न आये तो, जैसे अब आकाशके परिणमनकी बात कुछ समझमें नहीं आती कि आकाश क्या परिणम रहा है। धर्म अधर्म द्रव्यका परिणमन समझमें नहीं आता। थोड़ा बहुत अंदाज भी मुश्किल है। तो नहीं आया समझमें, न आवो, मगर यह नियम है कि जो है वह नियमसे ६ साधारण गुणवाला है। अब ६ साधारण गुणोंका मतलब समझो, अस्तित्व-जिस गुणके प्रतापसे द्रव्यकी सत्ता रहे। इतना तो जानेंगे कि यह है अणु अणु, आत्मा जीव, सब कुछ जिसपर भी निगाह दौड़ाया, वह है ना ? है तो, पर "है पना" ही कोई गुण हो, मात्र एक सत्त्व ही हो याने अगर "है पना" ही रहे और वस्तुत्व आदिककी जरूरत न मानी जाय तो वह "है" रह नहीं सकता क्योंकि वह कोई सबरूप हो जाएगा। वस्तुत्व यह गुण बताता है कि जो है सो ही है, वह दूसरा नहीं है और तभी उसमें अर्थक्रिया हो सकती है जो है वह अपने स्वरूपसे है, दूसरेके स्वरूपसे नहीं है। अब देखो बहुत दूर आगेकी बात जाने दो पहिले यहीं यही देख लो कि इन साधारण गुणोंने ही यह भेद बता दिया कि एक द्रव्य,दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे है दूसरेके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। स्पष्ट भेद-विज्ञानके लिए यह वस्तुत्व गुणके स्वरूपका परिचय ही समर्थ है, एकका दूसरा कुछ नहीं है।

नाम तो साधारण गुण है जो जो सबमें पाया जाय, पर इसका अर्थ है कि सभी इसी तरहके हैं, प्रत्येक पदार्थ इसी तरहके हैं, सोदेखो अभी ही एकदम वस्तुत्व गुणने पदार्थोंका परस्पर भेद बता दिया । वे अपने आपसे तो है, दूसरेके रूपसे नहीं हैं। और सब जानते हैं। अच्छा यहीं देख लो यह मनुष्य है, यही एक दृष्टान्त लो। यही तो कहेंगे कि यह मनुष्य मनुष्य ही है और कुछ नहीं है। तो अच्छा इसके खिलाफ अगर मानें, वस्तुत्व न मानें तो बताओ यह मनुष्य हैं। और क्या है ? सब कुछ है। क्या है ? सारे विश्वरूप है। क्या है ? सेर वाघ, साँप, चीता आदिक जितने भी बोलते जावो—सब है यह। अगर सब बन जाय यह मनुष्य, तब तो बड़ी खलबली मच जाएगी, सारा जगत शून्य हो जाथगा । अगर वस्तुत्व गुण न हो पदार्थमें तो, किसीकी सत्ता स्वतंत्र नहीं रह सकती । ये सब पदार्थ अब तक हैं, यही इसका प्रमाण है कि ये परस्पर विविक्त हैं, स्वतंत्र हैं, ये अपने आपका अस्तित्व रखते हैं, दूसरेका कुछ ग्रहण नहीं करते। यह वस्तुका एक आन्तरिक नियम है । फिर कोई पूछे कि विभाव कैसे होते, विकार कैसे होते तो जीव पुद्गलमें जो विकार परिणमन होता, सो वह भी उस ही पदार्थकी परिणतिसे होता है मगर उसका ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि अनुकूल बाह्य निमित्तका सन्निधान पाकर हुआ, अन्यथा वह बिकार पदार्थका स्वरूप बन जायगा, स्वभाव बन जायगा । फिर कभी मिट नहीं सकता। सो भले ही निमितनैमित्तिक योग है और इस सम्बंधके बिना विकार बन ही नहीं सकता, तो भी परिणमन तो देखो सब द्रव्य अपने आपके ही स्वरूपसे चल रहे हैं। दूसरेका परिणमन नहीं आया जीवमें, पुद्गलमें। किसीका किसी अन्यमें प्रवेश नहीं, स्वरूपमें प्रवेश नहीं । देखो, इस वस्तुत्व गुणने यह बताया कि जगतके प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे हैं, दूसरेके स्वरूपसे नहीं हैं। देखिये ये सभी बातें, शेष ५ गुण सत्ताकी ही प्रतिष्ठा करते हैं। वह है, बस इसका ही समर्थन करते हैं शेष गुण, उन गुणों विना वस्तुका सत्त्व नहीं रह सकता।

१८४—पदार्थमें द्रव्यत्व गुणका प्रकाश—

अच्छा सब चीजें हैं, हैं और यह मान लो कि सब अपने स्वरूपसे हैं, दूसरेके रूपसे नहीं हैं, बस ठीक है, इतना ही तत्त्व है, इतना ही मानो बस काम हो जायगा क्या ? अरे सत् तब तक कायम नहीं रहता जब तक वस्तुको वह निरन्तर परिणमन करता रहता है ऐसा न माने। परिणमनशीलता ही वस्तुका स्वरूप है। अन्य दार्शनिकोंने "हैं" तो मान लिया, पर परिणमनशीलता नहीं मानी तब फिर उनका "है" एक हौवा सा बनता है, अनुभवमें नहीं आता कि कोई चीज है। केवल एक बातकी बात है, और ऐसा ही हठ हो जाय कभी किसीके किसी समय शानमें कि बस बात ही बात रहती है, चीज कुछ नहीं रहती, तो वह झूठी ही शान है। एक ऐसा ही चुटकला है या घटना है—राजा भोजके समयमें बड़े-बड़े इनाम दिये जाते थे कवियोंको और कवि अपनी नए नए ढंगकी रचनायें लाते थे। तो एक दिन एक कविके मनमें ऐसी बात सूझी, क्या बात सूझी सो बतावेंगे। राजाने कवियोंसे कहा कि आज तो हमें ऐसी रचना बताओ जो बड़ी अनोखी हो, ऊँची हो, अपूर्व हो, कभी सुननेमें न आयी हो। सो एक कविने एक कोरा कागज लिया और यों ही राजाको देकर कहा—लो महाराज हम लायें हैं आज अनोखी रचना, पर एक खासियत है इस रचनामें कि यह रचना उसीको दिखेगी जो असल बापका होगा, दोगला न होगा। राजा बड़ा हैरान हुआ कोरा कागज देखकर, पर वह सोचने लगा कि देखो यहाँ कई हजार व्यक्ति बैठे हैं, सबके बीच यदि मैं कह दूँ कि इसमें कुछ नहीं

लिखा तो सभी लोग कह उठेंगे कि राजा तो असल बापके नहीं हैं, दोगले हैं, इसलिए शानमें आकर बोला—वाह वाह, बड़ी सुन्दर रचना है, साथ ही अनोखी भी है। अगल बगलके सभी पंडित लोगोंको दिखाया तो शानमें आकर सबने वही कहा वाह कितनी सुन्दर और अनोखी रचना है। तो देखो सभी लोग समझ रहे थे, जान रहे थे कि इसमें कुछ नहीं लिखा है, कोरा कागज है, पर सबको अपनी अपनी शान रखनेकी पड़ी थी, इसलिए सबने वही बात कही। तो ऐसे ही जब कोई कह उठता है विरुद्ध बात, तो उस दार्शनिकको पड़ जाती है अपनी शा न रखनेकी। इसलिए वह उन्हीं शब्दोंको रटता है। और खुद अनुभव करता है कि इसमें कुछ जान नहीं है, इसमें कोई तत्त्व नहीं है। इस जीव पर संकट है तो एक पर्यायबुद्धिका है। पर्यायमें मैं हूँ, ऐसा जब एक मनमें पक्ष रहता है तो वह अटपट किसी तरहका ख्याल बनाता और जुदे-जुदे मत होते चले जाते हैं। भला बतलावो मान लो ब्रह्म है, मगर उसका परिणमन वे नहीं मानते, अपरिणामी मानते, उसमें अवस्थायें नहीं होतीं ऐसा मानते हैं। न वह परिणामी, न गुणवान, न उसमें अवस्थायें होतीं। अब इस तरहसे खूब रटा सीखा, दूसरोंको खूब सिखाते जा रहे। शिष्य भी खूब बनते जा रहे, परिपाटी चलती जा रही। सबके सब बोल तो रहे बड़े ऊँचे शब्द, सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन, · · · , पर अनुभवमें कुछ नहीं आ रहा कि हम क्या बोल रहे? तो द्रव्यत्व गुण स्वीकार किए बिना, पदार्थमें परिणमनशीलता स्वीकार किए बिना वहाँ सत्ता भी कायम नहीं हो सकती। तो तीसरा गुण है द्रव्यत्व।

१८५—अगुरुलघुत्व गुणके परिचयसे भेदविज्ञानका प्रकाश और प्रदेशवत्त्व व प्रमेयत्व गुणके परिचयसे सब गुणोंके स्पष्ट बोधका अवसर—

अब चौथा गुण है—अगुरुलघुत्व। 'मायने तीन तक तो मान लिया कि है, वस्तु है, परिणमनशील है, परिणमन चलता रहेगा। अब अगर सब रूप वह परिणम जाय तो सत्ता रह सकेगी क्या? कहीं और रूप परिणम गया, अन्यरूप परिणम गया, तो क्या सत्ता कायम रह सकेगी? न रह सकेगी। तो अगुरुलघुत्व गुण यह कहता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपसे परिणमेगा, दूसरेके स्वरूपसे नहीं। सूर्यका उदय है, प्रकाश है, निमित्तनैमित्तिकभाव तो अवश्य है, सूर्यका सन्निधान पाकर यह पृथ्वी प्रकाशरूप परिणम गई, मगर परिणमन सूर्यका सूर्यमें है, फर्सका फर्समें है। यह बात बतलाता है अगुरुलघुत्व कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे परिणमता, परकेस्वरूपसे नहीं परिणमता। देखो साधारण गुणोंका चमत्कार कि एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ नहीं लगता। अब यहाँ तक बात चली। चली बातसी लगी, पर हम आप सबकी यों समझमें आ रहा है कि ऐसा तो पहलेसे समझे बैठे हैं अथवा किसीको लगता होगा कि कोई नया ही सुना, और इतना ही सुना, और बातें इतनी ही है। तो अभी तो उसकी समझमें कुछ नहीं आया, क्योंकि जब इसके वस्तुकी मुद्रामें मायने रूपक ध्यानमें न हो तो वहाँ यह बात घटायेंगे। यह ही बात बताता है प्रदेशवत्त्व गुण। प्रत्येक द्रव्य प्रदेशवान है, अपना आकार लिए है उसका घेर है, विस्तार है, कुछ है और समझमें आया इस जगह कि शरीरके अन्दर जितना यह ज्ञानप्रकाश है उतना यह जीव है। अब उसमें साधारण असाधारण बातें देखते जावो, इसमें यह गुण है, असाधारण गुण भी ज्ञान दर्शन चारित्र है, प्रदेशवान है पदार्थ। यह बात जहाँ मालूम हो वहाँ ही तो सारी बात घटित की जा सकती। इतनी बातें जहाँ हैं वे सत् हैं और सत् ही प्रमेय होता है। असत् प्रमेय नहीं होता। यों प्रमेयत्व गुण है। ऐसे ये ६ साधारण गुण ये भेदविज्ञानकी दिशा बतलाते हैं कि मैं आत्मा अन्य सबसे निराला हूँ।

१८६—असाधारण गुण द्वारा आत्मपरिचय—

मैं हूँ ऐसा सामान्य अस्तित्व सिद्ध होनेपर मैं स्वयंमें क्या हूँ, अब यह जाननेके लिए असाधारण गुणकी समझ बनती। साधारण गुणोंने कितना निर्णय कर दिया कि मैं हूँ और सबसे निराला हूँ, और हूँ क्या मैं अपने आपमें ? उसका बोध करनेके लिए इसके स्वरूपका दर्शन करें। मैं हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ। चैतन्यस्वरूप, ज्योति, चेतना जहाँ चल रही, वह मैं आत्मतत्त्व हूँ। अभी कुछ नहीं समझे, ऐसी जिसके जिज्ञासा हुई तो उसे विस्तारसे समझानेके लिए गुण बताये जाते हैं। इसमें ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, चारित्रगुण है, आनन्दगुण है। जैसे अग्नि एक स्वरूप, पर अग्निमें यह जब समझा जाता है कि यह जलने वाली है, प्रकाश करनेवाली है, पकाने वाली है, इस तरहसे हम अग्निमें कुछ समझ बनाते हैं तो हमें अग्निका अच्छी तरह ज्ञान बनता ना। इसी तरह निरखिये आत्मा है तो एक स्वतंत्र परमार्थ चिन्मात्र, अखण्ड, मगर समझ बढ़ाने लिए, तीर्थप्रवृत्तिके लिए गुणभेद करके समझाया गया कि जिसमें जाननेकी शक्ति है वह जीव, जिसमें अवलोकनेकी शक्ति है सो जीव, जिसमें रमनेकी आदत है सो जीव, जिसमें आनन्द पानेकी बात है सो जीव, जिसमें कोई न कोई चीजका विश्वास रहे, आधार रहे, आलम्बन ले, श्रद्धान करे सो जीव। सो गुण तो इसमें अनेक आये, मगर उन सब गुणोंमें मोक्ष-मार्गके प्रयोजनभूत जिन गुणोंका हमें ज्ञान करना आवश्यक है वे तीन बताये गए—श्रद्धान ज्ञान चारित्र याने दर्शन, ज्ञान, चारित्र। दर्शन शब्दका दो जगह प्रयोग होता है—एक तो ज्ञान दर्शन वाला दर्शन और एक सम्यक्त्व मार्गणा, जिसकी परिणतिमें बनी, एक यह दर्शन, उसे भी दर्शन कहते हैं। जिसको जल्दी समझनेके लिए और सुगम समझ लें तो श्रद्धा गुण कह लीजिये। श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र ये तीन गुण है, अथवा श्रद्धान की जगह सम्पक्त्व कहो, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, ये तीन गुण हैं। सम्यक्त्व शब्दका भी प्रयोग दो जगह होता है—एक तो सम्यक्त्व गुणके लिए और एक सम्यक्त्व पर्यायके लिए। तो और विशेष सुगमतासे कहना हो तो कहो श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र। तो यह जीव अनन्तगुणात्मक है, एकस्वरूप है, सहज है। अपने आपके सम्बन्धमें यह प्रतीति रहे कि मैं हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ। अन्य कुछ नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति हो, रुचि हो, अनुभूति हो बस वहाँ सम्यग्दर्शन है।

१८७—तत्त्वज्ञ पुरुषके क्षोभके अभावकी संभवता—

मैं निज सहज चैतन्यमात्र हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ। जो ऐसा जान जायगा वह दूसरेकी परिणति को देखकर खेद न मानेगा। अनेक जीव हैं, कोई कुछ ख्याल रखता, कोई उल्टा चलता, कोई सीधा चलता। चलो बाह्य पदार्थ हैं। जिसकी जैसी योग्यता है, जिसकी जैसी बात है उसका वैसा चल रहा। उससे मुझमें क्या आता ? मानो कोई ऐसा समझ रहा कि मैं सबसे अधिक समझदार हूँ, बाकी सब लोग मूर्ख हैं, और इस तरहकी समझको कोई दूसरा जानता है तो वह बुरा मानता अरे बुरा क्या मानता ? उसका परिणमन उसमें है, मेरा परिणमन मुझमें। जिस तरहसे अपने आपमें शान्ति मिले, कल्याण मिले उस मार्गमें चलें। मानो कोई पुरुष अधिक धनी बन गया, बहुत चलावान बन गया तो उसको तुम क्यों बुरा मानते हो ? अरे उसका उदय है उस प्रकारका। उसका इस तरहका प्रसंग बन रहा और फिर वह तो धूल है। अपने आपको अपने आपके स्वरूपका बोध, स्वरूपकी श्रद्धा और स्वरूपमें रमण, इस पद्धतिसे ले चलें तो आत्मप्राप्ति है, अपनेको अपनी उपलब्धि होगी, जन्म मरण मिटेगा। तो अपने आपका निर्णय बनावें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ। एक ज्ञानका स्वरूप विचारें। ज्ञान है ना, जानता है ना, तो जानना किसे कहते हैं ? जाननेकी बात क्या है ? हम शब्दोंमें नहीं

बता सकते मगर हमपर बात गुजर क्या रही, हमारी समझमें सब आ रहा। अनुभवकी बातको शब्दों द्वारा कहना कठिन होता, पर अनुभव समझता है कि जानन इसका नाम है। ज्ञानका स्वरूप क्या है ? जानन, एक प्रकाश, प्रतिभास, बोध, चैतन्यमात्र। भीतर देखो—समझमें क्यों नहीं आ रहा यों नहीं समझमें आ रहा कि संकल्प विकल्प दौड़ रहे, किसीका कल्पित घरमें ध्यान है, किसीका किसीपर ध्यान है, महाराज क्या कहते हैं जरा गल्ती पकड़ें, किसीका इस तरहका ध्यान है, किसीका रोजिगारका ध्यान है, यदि सत्य श्रोता बनकर धर्मका श्रवण किया हो तो वह बात कैसे समझमें नहीं आवेगी। श्रोता कौन है ? जो इस भावसे बैठा हो कि मेरा हित क्या है ? मुझे हित चाहिए, मुझे हितमें उतरना है। यों सारा जीवन गया बचपनसे अब तक क्या क्या नाटक नहीं किया, मगर उससे कोई पार नहीं पड़ा। पार तो जिस विधिसे पड़ता उसीसे पड़ेगा। सो ही हमारे आचार्य संतोंने भली प्रकार समझ समझ कर बताया है, हम लोगोंपर दया की, उनका हम कितना आभार मानें। हित क्या है ? मेरा कल्याण क्या है, यह भावना हो, यह है श्रोताका मूल गुण। और करे क्या ? जो बात सुना उसी बातको अपने आपमें घटानेका परिणाम बने, मैं ज्ञानमात्र हूँ। श्रोताओंको तो वक्ताकी अपेक्षा अधिक सुविधा होती है कि वे अपने आपपर बात घटाते जायें। देखो सुननेकी अपेक्षा बोलनेमें कुछ विकल्प अधिक सम्भव हैं। पर सुनने वालेको विकल्प कम सम्भव हैं। बात सुन रहे और उसे अपने चित्तमें उतारते जा रहे, भीतर चल रहे, मैं ज्ञानमात्र हूँ इसका अधिकाधिक ऐसा अभ्यास बने कि शरीर का भी भान न रहे।

१८८—कषायोंकी बलि देकर सहज परमात्मतत्त्वके प्रसादका लाभ—

देखिये परको कितना छोड़ना है और कितना आत्मतत्त्वकी बात पकड़ना है ? अज्ञान वासना तजें, रागद्वष पक्षकी बातको छोड़ें और यह भी कबूल करें कि मैं तो एक चेतन पदार्थ हूँ मैं अन्य कुछ नहीं हूँ, अन्य सब बन्धनोंको तोड़ दीजिए और उनके तोड़नेके लिए जो प्रयोग करना हो सो प्रयोग भी करें और यह अनुभव करें कि मैं तो मात्र चैतन्य पदार्थ हूँ, जानन मात्र। इन सब विकल्पोंका विध्वंस हो जाना चाहिए कि मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, अमुक हूँ, तमुक हूँ। यह भी ध्यानमें न आना चाहिए कि मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, ये तो देहकी आकृतियाँ है। मैं देह नहीं, देहसे निराला, एक चैतन्य पदार्थ हूँ। इस समय निमित्तनैमित्तिक बंधन तो चल रहा, पर बंधनमें भी प्रत्येक पदार्थ रहता तो अपने अपनेमें है, कि एक पदार्थ किसी दूसरेमें भी प्रवेश करेगा ? देहके स्वरूपमें जीवका प्रवेश नहीं, जीवके स्वरूपमें देहका प्रवेश नहीं। भले ही एक क्षेत्रावगाह हैं, एक जगह हैं, पर यहाँ तो अशुद्ध द्रव्यसे हो रहे हैं, पर्यायकी बात समझी जा रही। स्वरूपमें तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि एकमें दूसरेका प्रवेश नहीं। जरा वहाँ भी तो देखो सिद्ध लोकमें जहाँ एक ही जगह अनन्त सिद्ध बिराजे हैं, अमूर्त हैं, केवल चैतन्य प्रकाशमय, केवल ज्ञानी, एक ही जगहमें अनन्त केवल ज्ञानी सिद्ध महाराज विराजे हैं, फिर भी जितने वे सब एक जगह विराजे हैं, उनमें एकके स्वरूपमें दूसरे भगवानका प्रवेश नहीं है। प्रत्येक पदार्थ वहाँ अपना अपना अस्तित्व रखता है, अपने अपनेमें परिणमन है, यह तो उससे भी और मोटी बात चल रही है कि देहमें जीवका प्रवेश नहीं। देहमें जीवमें अन्तर जान लिया, तो अपने स्वभावकी दृष्टि बनाओ, मैं जीव हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, चैतन्यमात्र हूँ। ऐसा अनुभव बनायें और ऐसा ही उत्तम अभ्यास विधिसे हो कि देहका भी भान नहीं, समयका भी भान नहीं, केवल एक चैतन्य प्रकाश ही इसके ज्ञानमें हो, वहाँ स्पष्ट समझ बनती है कि मैं यह हूँ, मैं यह हूँ।

१८९—अनात्मतत्त्वके व्यामोहमें परेशानीका ही अभ्युदय—

यह सारा संसार परेशान हो रहा है बाह्य बातोंके ध्यानसे। इन बाहरी परिणतियोंको, इन नैमित्तिक पर्यायोंको निरख निरखकर यह माना करता कि यह मैं हूँ, यह मैं हूँ, बस इस बुद्धिसे यह सारा लोक परेशान है, ये जीव परेशान है। आत्मानुभवकी बात चित्तमें ही नहीं आती कि आत्मानुभव करना है, आत्मानुभवके सामने बाकी सब बातें बेकार। जहाँ रागद्वेषकी वासना हो, संस्कार हो, ऐसी कोई विधि बनाई गई हो, वह सब विधि इस जीवके लिए ऐसा बंधन है कि मनुष्य जीवन इसका बेकार रहेगा। वह आत्मानुभव नहीं कर सकता। इसके लिए जो करना पड़े सो करें। इसके लिए करना क्या पड़ेगा? कषायोंका बलिदान कर पड़ेगा और कुछ नहीं। जब सब जीवोंमें एक समभाव जगे, इतनी बात आ सकी तो समझो कि हमने आत्माका ज्ञान किया। और जहाँ यह बुद्धि रहे कि यह मैं हूँ, यह मेरा, यह गैर, तो इस बुद्धिके रहते हुए आत्मानुभव हो ही नहीं सकता। कितनी तैयारी करना है, कितना बलिदान करना है अपनी कषायोंका? एक अपनेसे नाता रखें, समझें ऐसा ही स्वरूप सब जीवोंमें है। किसी जीवसे ग्लानि न करें, घृणा न करें। मुनियोंकी, त्यागियोंकी, साधु संतोंकी बात तो ऊँची है, उनसे घृणाका भाव रखना तो महा पापका कारण है, मगर प्राणिमात्रसे भी घृणा रखना पाप है। द्वेषी आत्मानुभव करनेका पात्र हो नहीं सकता। हाँ व्यवहारमें जो करना है वह किया जा रहा है। बाकी कूड़ेको हटादें, एक तरफ कर दें, मगर यह सुध कभी न भूलें कि इसमें भी सहज परमात्मतत्त्व है। सब जीवोंमें सहज परमात्मतत्त्वको समान भावोंसे निरख सकनेका ढंग रख सकनेका साहस बना सकने वाला ही जीव आत्मानुभवका पात्र बन सकता है। जिसको आत्मानुभव हो जाय उसका बेड़ा पार है।

१९०—व्यवहार, निश्चय व शुद्धनयमें बढ़ बढ़कर आत्मानुभवमें प्रवेश करनेका संदेश—

आत्मानुभवकी सकल क्या है? बस ज्ञानमें यह सहज ज्ञानस्वरूप ऐसा समाया है कि विकल्प न रहे, क्षोभ न रहे, एक अलौकिक आल्हादको उत्पन्न करता हुआ वह प्रकट होता है। तो ऐसी एक समाधिकी निर्विकल्प स्थिति होती है कि उसको पाकर यह जीव समझ लेता है कि तत्त्व तो यह है बाकी सब बेकार है। बाहरमें आश्रय करके हमें कुछ न मिलेगा। हमें अपने आपका सहज स्वरूप निरखना है और वहाँ यह ही सत्याग्रह करके रहना है कि मैं तो यह ही हूँ। मैं और कुछ नहीं हूँ। उसी आत्माकी उपासनाकी बात चल रही है कि उसकी वास्तविक उपासना निश्चयतः है तो बस एक चैतन्यस्वरूप हूँ इस प्रकारकी दृष्टिमें चलना है और व्यवहारमें ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, है। व्यवहार सम्यक्त्वकी बात नहीं कह रहे, व्यवहार सम्यग्ज्ञानकी बात नहीं कह रहे, निश्चय सम्यग्दर्शनकी बात कह रहे, निश्चय सम्यग्ज्ञानकी बात कह रहे निश्चय सम्यक्चारित्रकी बात कह रहे, इन तीन रूपमें भी उपासना करें, क्योंकि भेद किया ना, खण्ड किया ना। तो एक अखण्ड आत्मतत्त्वकी उपासना अखण्डानुभवसे ही परमार्थतः होती, फिर भी व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र आदिक इन सब विधियोंसे परिचय हम करें और अभेदोपासनाके लिये बढ़ें। हम बचपनसे व्यवहारका आश्रय करते आये, उससे हमें कोई दिशा मिली। कुछ बड़े हुए तो धर्मका, व्यवहारका, आश्रय करते आये, हमको एक दिशा मिली, फिर हम और पढ़ने लिखने अध्ययनमें चले तो एक दिशा मिली, फिर हमने नय प्रमाण आदिकका वर्णन सुना तो हमको एक दिशा मिली। और, हमने शुद्धनयकी पहिचान की ना, तो एक दिशा मिली। उस शुद्धनयके बोधमें नय निक्षेप, प्रमाण सबसे अतीत होकर आत्मानुभवमें आये

ना । तो जैसे चलकर खुद आये ऐसे ही बतावो सबको कि ऐसे ऐसे चलें तो, पा लो सब चीजें । तो उसी प्रसंगमें यह व्यवहारसे कहा जा रहा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपसे उपासना करना । इस तरह साधु संतोंको, साधु सन्तों द्वारा उपदेशमें कहा जा रहा कि आत्मामें आत्माकी उपासना करना चाहिए ।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ।।१७।।

१६१—साधारणासाधारणगुणोंमय आत्माकी स्वलक्षणता विलक्षणता—

जीव पदार्थ, आत्मा पदार्थ याने स्वयं सिद्ध अन्तस्तत्त्व, इसकी चर्चा चल रही है । पहले तो यह निर्णय करना कि मैं कौन हूँ जैसे कि सब हैं वैसा ही मैं भी हूँ । जैसे कि सबमें ६ साधारण गुण पाये जा रहे हैं मुझमें भी पाये जा रहे हैं अतएव मैं हूँ । मैं हूँ, यों ६ साधारण गुणोंके नातेसे जाना, पर मैं क्या हूँ, इस प्रश्नके उत्तरमें जाना जायगा जो कि असाधारण हूँ, सबसे निराला हूँ, वह हूँ मैं एक चैतन्य स्वरूप । पदार्थ यह है, और कैसा विलक्षण पदार्थ है यह आत्मा अमूर्त है, इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, शब्द भी नहीं है, मैटर नहीं, पुद्गल नहीं, कोई ऐसा पुद्गल जैसा पिण्ड रूप सो भी नहीं । आकाशकी तरह एक अमूर्त पदार्थ हूँ । आकाश है सर्वव्यापक और यह हूं मैं, असंख्यात प्रदेशी देह प्रमाण । ऐसा अमूर्त होकर भी एक विशेषता है कि चैतन्यस्वरूप हूँ मैं । इसकी प्रकृति स्वभाव चेतनेका समझनेका, जानने देखनेका है, यह स्वभाव किसी दूसरे पदार्थकी दयासे नहीं आया, मेरा स्वभाव मुझमें अपने आपके ही स्वभावसे है । मै जो चेतता रहता हूँ जानता रहता हूं, जो साधारण वृत्ति है, जो सामान्य वृत्ति है वह तो हममें अपने आप चलती है और जब विशेष वृत्ति बनती, रागद्वेष प्रवृत्ति बनती तब भी है तो परिणमन इसका, मगर वह कार्माण पुद्गलकी छायारूप है । जैसे दर्पणमें खुदमें निजका अपने आपसे परिणमन क्या है ? झिलमिल, जगमग, अपने आपमें झिलमिल हो रहा, यह तो दर्पणमें खुदकी बात है और जब सामने मान लो लाल कपड़ेका सान्निध्य हुआ तो दर्पणमें लाल प्रतिविम्ब हुआ, तो है प्रतिविम्ब उस दर्पणकी परिणति, मगर वह एक वस्त्र परिणतिकी छाया है । कपड़ेका सन्निधान पाकर उस दर्पणमें कुछ परिणति बनी । ऐसा उपादान न हो तो वह परिणति नहीं बन पाती । भींटमें स्वच्छता नहीं, सो वहाँ प्रतिविम्बरूप परिणमन नहीं बनता अथवा यह जो फर्स है चिकना उसमें अस्पष्ट पड़ती है छाया, तो यह अपने-अपने उपादानके अनुकूल बात चलती है, मगर विकार जो भी है वह पर सन्निधानका निमित्त पाकर होता है इसलिए उसकी प्रतिष्ठा इस आत्मतत्त्वमें नहीं मानी गई, क्योंकि इसके निजकी ओरसे निजकी चीज हो, परसन्निधान बिना हो, उसकी यहाँ प्रतिष्ठा है, बाकी जो नैमित्तिक भाव है उसकी प्रतिष्ठा नहीं ।

१६२—स्वमें स्वसर्वस्व देखनेका अनुरोध—

अच्छा अब देखो निजमें क्या परिणतियाँ होती है । तो प्रयोजनभूत परिणतियाँ देखें वैसे तो है आनन्दकी परिणति और ज्ञानकी परिणति,पर वह विधि भी आ जाये,इस तरह देखें तो सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान,सम्यक्चारित्रका परिणमन है जो यह खुदकी चीज है । यह किसी दूसरेसे नहीं मिली । जो दूसरेसे हो वह उसी दूसरेकी परिणति है । यद्यपि सम्यक्त्व कर्मके क्षयसे हो, क्षयोपशमसे हो, सम्यक्त्व कहा ही है, तो इसका अर्थ यह है कि इसका आवरण करने वाले इसके घातमें निमित्तभूत पदार्थके हटनेसे हुआ तो निवृत्तिसे हुआ । किसी दूसरेकी वृत्तिरूपसे नहीं हुआ और इसीलिए यह अपने स्वभावकी गाँठकी चीज कहलाती है ।

आत्मतत्त्वको पानेका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। सम्यक्त्वनिज सहज चैतन्य स्वरूपमें यह मैं हूँ इस प्रकारकी प्रतीति होना। मैं अन्य कुछ नहीं हूँ। जैसे—बहुत बहुत चीजोंसे हट हटकर हम अपने आपका निर्णय बनाते हैं, मैं विदेशका नहीं हिन्दुस्तानका हूँ। हिन्दुस्तानमें भी बहुतसे प्रान्त है, मैं इन सब प्रान्तोंका नहीं, मैं तो यू. पी. का हूँ। यू. पी. में भी अमुक जिलेका हूँ, जिलेमें भी अमुक गाँवका हूँ। उस गाँवमें भी अमुक मोहल्लेका हूँ। उस मोहल्लेमें भी अमुक कुटुम्बका हूँ, उस कुटुम्बमें भी अमुक परिवारका हूँ। परिवारमें भी सबका नहीं हूँ जो घरमें स्त्री पुत्रादिक है मैं उनका हूँ। अरे जरा और बढ़िये तो मैं इनका भी नहीं हूँ। मैं तो एक हूँ, दूसरा कुछ मैं नहीं, यह देह भी मैं नहीं। यह देह पौद्गलिक है। मैं चेतन अमूर्त तत्त्व हूँ। अच्छा और इसके अन्दर चलें तो प्रकाश लो—रागद्वेष आदिक रूप भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये मेरे अपने आपके स्वभावसे नहीं उठते, ये पर पदार्थका निमित्त पाकर होते, ठीक इसी तरह जैसे दर्पणमें पर वस्तुका निमित्त पाकर छाया हुई ऐसे ही जीव में उदयापन्न कर्मानुभागका निमित्त पाकर एक छाया बनी, उपयोगमें प्रतिफलन बना, तो वह प्रतिफलन मैं नहीं हूँ क्योंकि मेरे सहज स्वरूपकी चीज नहीं है, इसी तरह आवरणके हट जानेपर जो इसमें विचार ज्ञान छुटपुट बनता है वह भी मैं नहीं हूँ। मैं तो एक पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी हूं। सो जब उपयोगमें ज्ञानानन्द आता है सो वह अब ही तो आया। मैं क्या अबसे हूं। क्या मेरी पहलेसे स्वयं सत्ता न थी ? तो यह भी एक परिणाम है कि अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। जो एक यह जान रहा है उसके लिए सब जीव उसके परिवार बन गए। अब जीवोंमें वह यह भेद न करेगा कि ये तो मेरे पक्षके हैं, ये गैर पक्षके हैं, ये मेरे परिवारके हैं, ये गैर परिवारके हैं, ये मेरे साथी हैं, ये मेरे शत्रु हैं, ये मेरे समर्थक हैं, ये मेरे विरोधी हैं। अरे जीव स्वरूपका परिचय होनेपर भी यदि यह बन्धन रहे तो फिर और उपाय क्या है तिरनेका ? ऐसे ही आत्माका परिचय होनेपर ये कषाय नहीं रहते और वहाँ अंतः ऐसा खिल जाता है कि सब जीवोंमें अपनेको एकरस रूपसे निरखता है, स्वरूपदृष्टि करता है, उसमें मग्न होनेकी बात नहीं कह रहे और फिर मग्न तो प्रत्येक अपनेमें होता है। प्रभुकी भी ऐसी स्थिति है कि सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन, अलौकिक आनन्दमय, जगमग दशा। ज्ञानसे हुए जग, आनन्दसे हुए मग, ऐसा यह आत्मस्वरूप है। उसकी उपासना करें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसी वृत्ति द्वारा। तो यह आत्मा तीनोंमें वर्त रहा—दर्शन ज्ञान और चारित्र। इन तीनोंमें सर्वस्व होनेके कारण आत्मा है तो एक, पर एक होनेपर भी तीन स्वभावात्मक है। दर्शन ज्ञान चारित्र, या श्रद्धान ज्ञान चारित्र।

१९३—प्रत्येक आत्माकी दर्शनज्ञानचारित्रमयता—

प्रत्येक जीवमें ये तीन बातें मिलेंगी। श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र। कोई सा भी जीव ले लो—कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी आदि प्रत्येक जीवमें ये तीन बातें मिलेंगी—श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र। अब वह श्रद्धान ज्ञान चारित्र किसका कैसा है यह अलग बात है। कोई परको आत्मरूपसे श्रद्धान कर रहा, कोई इन वैषयिक सुखमें रम रहा, कोई इन औपाधिक भावोंमें रम रहा, ऐसा जीव तो संसारमें जन्ममरण करने वाला है। कोई सहज चैतन्य स्वरूपमें यह मैं हूँ इस प्रकारकी श्रद्धा रख रहा और उसीमें रम रहा, उसीकी धुन बना रहा ऐसा जीव संसारसे पार होने वाला है। श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र, इनके बिना कोई काम भी नहीं बनता। मानो दूकानका ही काम है, तो उसके प्रति आपको जब विश्वास हो कि उससे आय होती है फिर उसका ज्ञान हो कि किस किस तरहसे दूकान चलाई जाती है फिर

उसको प्रयोगात्मक रूपसे करें तो यही हुआ, श्रद्धान ज्ञान चारित्र । यदि ऐसा त्रितय न हो तो काम न बनेगा । मानो रोटी बनाना है तो इसके प्रति भी पहले विश्वास होता कि आटेसे रोटी बनती, फिर ज्ञान होता कि इस इस तरहसे रोटियाँ बनकर तैयार होतीं, फिर उसको प्रयोगात्मक रूपसे करे, तो रोटियाँ बन जाती है । यही हुआ रोटियोंके बारेमें श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र । यही बात हर काममें लगा लो । इन तीनके बिना कोई काम नहीं किया जाता । ये जो कीड़े मकोड़े हैं तो इनके भी श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र है, पर इनका इनके ढंगका है । इनका श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र इनके ढंगका चल रहा । तो मोक्षका यत्न चाहिए—मोक्ष मायने केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय इसका नाम है मोक्ष । मोक्ष कोई ऐसी चीज नहीं है कि यहाँ जाना, ऐसे बैठना, ऐसा होना, बाहरी बातोंसे मोक्षकी बात न लेना । बाहरी बातें तारीफमें तो बतायी जाती हैं, पर मोक्ष नाम है खालिस आत्मा ही आत्मा रहना, मायने जो जो बंधन थे उन सबसे छुट्टी मिल गई, मोक्ष हो गया, केवल वह आत्मा रह गया । अब केवल आत्मा रह जाय, ऐसी अगर स्थिति पाना है तो यह श्रद्धान तो करना चाहिए कि हाँ ऐसा केवल आत्मा हूँ मूलमें । यह तो बिल्कुल अपने घरकी सुगम गणित जैसी बात है, ठीक ही है, कठिन बात नहीं ।

१९४—सर्वथा कैवल्य पानेके लिये वर्तमानमें अन्तः केवल स्वरूप परखनेकी आवश्यकता—

अगर हमें केवल रहना है, मोक्ष पाना है, अकेले हम ही हम रहें, इसके साथ अन्य चीजों का बन्धन न रहे, केवल एक खालिस यह आत्मा रहे, अगर ऐसा चाहिए तो पहले विश्वास तो करें कि ऐसा है भी कि नहीं ? भले ही बहुत चीजोंसे ढका है, दबा है मगर ऐसा है या नहीं ? अगर नहीं है फिर उसके स्पप्न क्यों देखना कि मैं अकेला रह जाऊँ ? अकेला है यह अपने स्वरूपमें, तब ही तो यह अकेला हो सकता है । देखिये सब जानते—जैसे यह चौकी है, चौकीपर बहुत मैल चढ़ गया, अब उस चौकीको साफ करने वाला यह श्रद्धामें लिए है कि नहीं कि इसको साफ करके जैसी हमें चौकी निकालना है वैसी यह अभीसे इसके अन्दर है ? ऐसा ज्ञान है तब ही तो साफ करता है, मैलको निकालता है । अगर जाने कि इसके अन्दर वह बात नहीं है जैसा कि हम चाहते हैं खालिस तो कभी भी यह केवल न हो सकेगा । चौकी ठीक रह जाय, मैल न रहे तो चौकी ही इस तरहकी है श्रद्ध है ना, तभी निर्मल कर दी जाती है, यदि चौकीके निरपेक्ष स्वरूपका परिचय न हो तो कोई भी चौकी धोनेका काम नहीं कर सकता । जिसे विश्वास है कि चौकीके ऊपर मैलको साफ कर दिया जाय तो खाली चौकी साफ साफ निकल आयगी, और वैसा ही वह प्रयोग करता है तो वह चौकी शुद्ध हो गई, केवल हो गई, ऐसे ही आत्माके बारेमें जिसे यह विश्वास है कि स्वरूपमें आत्मा यह तो केवल वही है, यह दो रूप नहीं है । यह तो अपनेमें अद्वैत है, एक है, वही है, पर वर्तमान स्थिति हो गई ऐसी कि अनादिसे कर्मका बन्धन है । कर्म उदयमें आते हैं, प्रतिफलन होता है । तिरस्कार ज्ञानका हो रहा है । उपयोग बदल रहा है । उपयोगमें व्यग्रता चल रही है । बाहरी पदार्थोंका आश्रय ढूढ़ते हैं, यह सब बात चल रही है पर यह चल रही है निमित्तनैमित्तिकरूपसे । जिसको निमित्तनैमित्तिकका सही बोध नहीं है वह विभावोंसे हट कैसे सकेगा, उपेक्षा कैसे कर सकेगा । तो निमित्तनैमित्तिक भावोंका सही परिचय विभावोंसे उपेक्षा करनेमें बड़ी मदद देता है और एक द्रव्यदृष्टिसे होने वाला परिचय एक स्वभावमें रमनेमें । प्रोग्राम पहले सामने हो, तो श्रद्धान हो ऐसा कि मैं केवल हूँ, मैं केवल चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ । कुछ तो पर द्रव्यके सम्बन्धसे और कुछ पर द्रव्यका निमित्त पाकर विकारका सम्बन्ध हुआ, मगर इन दोनोंसे

मैं परे हूं यह तो परका सम्बन्ध है, और विभाव क्या हैं ? ये तो एक्सीडेंटल भाव हैं, ये मेरे निजके भाव नहीं हैं। भले ही मेरे में हो रहे हैं, पर मैं तो एक परमपावन भावस्वरूप विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ।

१९५—व्यवहारमें सर्वथा अनास्था रखकर मनचला बननेमें सन्मार्गका तिरोभाव—

जो आत्मा अनात्माका भेद जानकर विशुद्ध अन्तस्तत्त्वको जानेगा, उसका आश्रय करेगा वह इस आश्रयके बलसे सब संकटोंसे दूर होकर केवल बन जायगा, मगर ये गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म बीच में क्यों आ गए ? क्यों करने पड़ रहे ? यह एक प्रश्न हो सकता ना ? जब बात सब मेरी मेरे अन्दर है, मैं केवल इस अंतस्तत्त्वको जानूँ, केवल अंतस्बत्त्वका श्रद्धान करूँ, केवल अंतस्तत्त्वमें रमूँ, जब मोक्षका यह ही उपाय है तो फिर गृहस्थधर्म, मुनिधर्म क्यों कहे गए ? उत्तर—ये यों कहे गए कि यह कोई केवल बात ही बातके लड्डू नहीं है। मात्र कह दिया, सुन लिया इतनेसे काम न बनेगा अब यह जान लें कि जो गृहस्थ धर्म पाले, जो मुनिधर्म पाले वे अज्ञानी हैं, ऐसा मनमें भाव न रखना, क्योंकि मार्ग तो निश्चयमें शुद्ध भाव है, पर अनादिकालसे जो अज्ञानवासनाका संस्कार है उसका तिरोभाव करने का प्रयोगात्मक रूप गृहस्थधर्म और मुनिधर्म है। संस्कारवश क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायें जगती हैं, जब ऐसी स्थितिमें फसे हैं तब उनको मेटनेका, उनको दूर करनेका, उनका उपयोग बदलनेका, उपयोग बराबर विषय कषायोंमें लगता है तो उसको झट बदलनेका यदि कोई उपाय है तो वह है श्रावकोंके बारह व्रत और मुनियोंके तेरह प्रकारका चारित्र। बस ये उपयोगको बदल देते हैं और स्वभावदृष्टिके पात्र बनाये रखते हैं। अब जितना बने सो करें। कीजे शक्तिप्रमाण, न बन सके तो श्रद्धा तो रखो। थोड़ा करते बने थोड़ा करो, ज्यादह करते बने ज्यादह करो, पर अपनी श्रद्धा तो सही बनाये रहो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इस पथका विस्तार व्यवहारमें १३ प्रकारका चारित्र, ८ प्रकारकी विधिसे सम्यग्ज्ञान और ८ प्रकारके अंगका सम्यग्दर्शन है। अब हम अपने मनकी स्वच्छंदतामें अपना ऐसा ही दुराग्रह कर लें, कि हमें क्या मतलब व्यवहारके अंगोंसे ? सो भैया प्राक् पदवीमें व्यवहारका आश्रय होना ही होता है। अन्यथा फिर तो सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंसे भी गये ज्ञान व चारित्रके अङ्गोंसे भी गये। सो भैया, व्यवहारकी विधि बताई गई, व्यवहारके चारित्र भी बताये गए। उनकी वृत्ति होते हुंए भी लक्ष्य न भूलो। भले ही आज कलिकालमें मोक्ष नहीं बताया गया, पर जिसे भी आत्मकल्याण करना है उसे इसी ढंगसे चलना होगा।

१९६—प्रयोगात्मकरूपसे धर्मपालन करनेमें हित—

एक सहज अखण्ड चैतन्यस्वरूप मैं हूं ऐसी दृष्टि होनी चाहिए और व्यवहार करनेमें, प्रवृत्ति करनेमें, परिणमन करनेमें कुछ पात्रता बनाये रहने लायक बुद्धि लगाना चाहिए, कुछ चतुराई रखनी होगी और अपना प्रवर्तन सही रखना होगा। आचार विचारसे भी अगर गिर गए तो हम इसके पात्र न रहेंगे। यह तो केवल गाना ही गाना रहेगा। जैसे एक ब्राह्मणके घर तोता पला हुआ था। वह ब्राह्मण तोता पालनेका बड़ा शौकीन था। तोता तो पाठ भी बोलते हैं, एक दिन उसका तोता पिंजड़े से बाहर निकल गया। ब्राह्मणने बहुत खोजा, पर न मिला। दूसरा तोता खरीदने ब्राह्मण निकला। देखा कि एक पंजाबीकी दूकानपर एक तोता था। ब्राह्मणने पूछा—क्या आप अपना तोता बेचेंगे ? ···हाँ हाँ बेचेंगे। कितनेमें दोगे ? एक सौ रू. में (१०० रु. में) ···अजी तोते तो दो दो रूपयेमें मिलते हैं, इसमें क्या खास बात है जो १००) कह रहे ? ···अजी तोतेसे ही पूछ लो कि वास्तवमें तुम्हारी कीमत १००) है या नहीं। ब्राह्मणने कहा—कहो तोते क्या तुम्हारी कीमत १००) है ? तो

तोता बोला—इसमें क्या शक ? (बस इसमें क्या शक, ये ही शब्द उस तोतेको रटा दिये गए थे। हर बातमें वही वही बोलता था) तो तोतेकी बात सुनकर ब्राह्मणने समझा कि तोता तो बुद्धिमान मालूम होता है, आखिर १००) देकर तोता खरीद लिया। जब ब्राह्मण घर ले गया, कुछ रामायणका पाठ सुनाया और बादमें पूछा—कहो तोते यह पाठ ठीक है ना ? तो तोता बोला—इसमें क्या शक ? ब्राह्मणने समझा कि यह तो और विशेष जानता होगा तो बड़ी बड़ी ऊँची ब्रह्मकी बातें सुनाने लगा। यह आत्मा ब्रह्मस्वरूप है सर्व-व्यापक है। फिर ब्राह्मणने पूछा कहो ठीक है ना ? तो तोता बोला—इसमें क्या शक ? अब तो ब्राह्मण को भी शक हो गया कि शायद यह तोता उतना ही शब्द बोलता है, तो पूछा—बताओ तोते मैंने जो १००) का तुम्हें खरीदा तो क्या वे १००) पानीमें चले गए ? तो तोता फिर बोला—इसमें क्या शक ? तो भाई केवल कुछ शब्द रट लेनेसे काम न चलेगा। वह तो एक तोता रटंत जैसी बात हो जायगी। केवल मुखसे बोल भर देनेसे मोह दूर न होगा। इसके लिए बड़ा तत्त्वाभ्यास चाहिए। देखो मेरी परिणति मेरे साथ, सबकी परिणति उन सबके साथ, मैं अपनी कषायके अनुकूल परिणमता, सब अपनी कषायके अनुकूल परिणमते, मैं अपने सुखके लिए सब प्रयत्न करता, वे अपने सुखके लिए सब प्रयत्न करते। इस देहसे भी मैं निराला हूँ। जिस शरीरको देख देखकर हम खुश होते हैं, मोह करते हैं, यह शरीर एक दिन यहीं पड़ा रह जायगा और यह इस तरह जलाया जायगा, जैसे बहुतसे शरीर जलते देखा होगा वैसे ही यह शरीर भी एक दिन जला दिया जायगा। इस शरीरको छूकर जरा चित्रण कर लो। कोई भी तरीकेसे समझो तो सही, मैं इस देहसे भी निराला हूँ, अब कोई उपाय तो बनाये नहीं, प्रयोग तो बनायें नहीं और हठ वही, कषाय वही रखें, बताओ हित कैसे हो।

१९७—सहजस्वरसपूर्ण अन्तस्तत्त्वका दर्शन होनेपर वेशका अप्रभाव—

नाटक खेलने वाले इतने होशियार खिलाड़ी होते हैं कि जिनकी करतूत देखकर दर्शक लोग रोने लगते और वह पार्ट करने वाला वास्तवमें रोता नहीं, क्योंकि वह तो जानता है कि मैं तो अमुक बालक हूँ, यहाँ पार्ट अदा कर रहा हूँ। तो ऐसे ही मैं इस देहसे निराला हूँ। देहसे निराला हूँ, यह एक ढंगसे समझना है। मैं देहसे निराला और कषायोंसे निराला हूँ, क्योंकि यह पुद्गलकी छाया है, पुद्गलका प्रतिफलन है, क्रोध, मान, माया, लोभ, ये सब कर्मानुभाग कहे गए हैं। करणानुयोगको जिसने अच्छी तरहसे नहीं समझा वह विभावोंकी परकीयता, लावारिसपना, भिन्नता भली भाँति नहीं समझ सकता। जो जो अनुभाग चलते वैसा ही प्रतिफलन होता। क्रोध प्रकृति अलग क्यों रखी ? मान प्रकृति अलग क्यों रखी ? उनमें ये प्रकृतियाँ भरी हैं, उन प्रकृतियोंमें, जैसा अनुभाग हुआ सो विपाककाल आनेपर कर्ममें बड़ा क्षोभ हुआ। जैसे पानीमें बड़ी खलबली कर दी जाय तो भले ही पानी अनुभव न करे मगर क्षोभ तो हो गया। तो जैसे ही कर्मका अनुभाग उदित हुआ, उसका प्रतिफलन हुआ जिससे ज्ञानमें क्षोभ होता है उसके आश्रयभूतमें उपयोग जुड़ता है और एक चक्की चलती हैं। ये सब कैसे हटें ? जब हम समझ लें कि ये मैं नहीं हूँ, ये सब पौद्गलिक ठाठ हैं तो इन विकारोंसे उपेक्षा हो जाती है। समयसारमें, जीवाजीवाधिकारमें और बंधाधिकारमें इसका बहुत वर्णन किया। ये पुद्गलकर्मनिष्पन्न हैं तू इनमें मत रम, ये औपाधिक हैं, और यहाँ तक कह दिया कि शुद्धनिश्चयसे ये पौद्गलिक हैं। क्यों कह दिया यों कि ये तो जीवके स्वरूपसे बाह्य हैं, हम विविक्त चैतन्यमात्र तक रहे। ऐसी मुझे सुरक्षा रखना है उस दृष्टिको सुदृढ़ बनाना है। उस दृष्टिको सुदृढ़ बनानेके लिए जब पूछा

गया कि ये कर्म किसके ? तो कहा गया कि ये कर्म पौद्गलिक हैं। नयोंका परिवर्तन भी ज्ञानीका शृङ्गार है जो बात अभी निश्चय है वही उससे और अन्तर्दृष्टि मिलनेपर वही व्यवहार हो जाता है। यह सब नयचक्रका बड़ा गहन वन है। इसमें जो पार उतर गया, जिसने परमार्थ तत्त्वका अनुभव कर लिया वह नियमसे नयचक्रसे उत्तीर्ण हो गया।

१९८—पर व परभावसे विविक्त अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका अनुरोध—

भैया देखना है परसे निराला परभावोंसे निराला केवल आत्मतत्त्व। यह है तो केवल एकरूप चैतन्य प्रतिभास मात्र केवल, फिर भी यह ज्ञेयाकारको कभी नहीं छोड़ता सो यहाँ भी ज्ञान ही है, ज्ञान इसका स्वरूप ही है, ऐसा जो जानता है सो ज्ञानी है। यह आत्मा ज्ञान बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। तो जानना मायने ज्ञेयाकार, जिसप्रकार प्रतिविम्बित हुआ, सब जान गए, अब उसमें श्रद्धा किया और रम गए। देखो श्रद्धान ज्ञान चारित्र बिना कोई काम नहीं होता। यह त्रितय सबके पास है। करते ही हैं सब, बस एक जरा सम्हालना है, सही श्रद्धा, सही ज्ञान, सही आचरण करना है। मैं यह हूँ चेतन। क्या मैं पंडित हूँ ? नहीं, त्यागी हूँ ? नहीं, व्यापारी हूँ ? नहीं। किसीके बहकानेमें ज्ञानी पुरुष न आयगा। अपने आपको विशुद्ध चैतन्यमात्र अनुभव करो। देखो और बन्धनोंकी तो बात क्या, मैं जैन हूँ, धर्मात्मा हूँ इस प्रकारका भी बन्धन नहीं रहता है उनके आशयमें। मैं एक चैतन्य आत्म-तत्त्व हूँ। फिर अगर और और बन्धन मानें कि मैं अमुक हूँ तमुक हूँ, तो उसके ये संस्कार अहर्निश इस भगवान आत्माको मीढ़ते रहते हैं, और उसे आत्मानुभवका कोई क्षण नहीं प्राप्त होता। ये सब बातें अपने चित्तसे निकाल दें। ये देह सम्बन्धी जितनी बातें हैं उन सबको अलग कर दें, केवल मात्र चैतन्यस्वरूप अपनेको देखें, मैं अमुक जातिका हूँ, अमुक कुलका हूँ आदिक कोई बन्धन नहीं, केवल एक चैतन्यस्वरूप। फिर आप कहें कि यह व्यवहार क्यों चला? यह उच्च वर्णका, यह नीच वर्णका। तो यह कोई खाने पीनेकी बात नहीं कह रहे। वह तो आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणकी बात थी। खाना पीना आदिक अगर आत्माके निश्चयकी बात हो तो इसे भी ठीक करें। जब खाने पीनेकी बात व्यवहारकी है तो वह व्यवहार चलायें, यह तो एक ध्यानके प्रकरणकी बात कही गई, आत्मा एक स्वरूप चैतन्यमात्र है, लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रूपसे परिणमता है, तीन स्वभाव हैं, एक होनेपर भी, इसलिए निश्चयसे एक है और व्यवहारसे नानारूप है। दोनों तरफसे इनका ज्ञान करें और लाभ लेवें। अन्तमें लक्ष्य तो यही है कि ऐसा उपाय बने कि केवल रह जाऊँ, मेरे साथ किसी दूसरी चीजका सम्बन्ध न रहे।

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैकक:।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचक: ॥१८॥

१९९—सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र विना शांतिकी संभवताका अभाव—

हम आप सब जीव हैं, आत्मा हैं अथवा ब्रह्म हैं, किन्हीं शब्दोंमें कहो, जानने देखने वाला एक चैतन्य पदार्थ है, तो उस आत्माकी बात चल रही है कि आत्मा वस्तुतः कैसा है और समझते समय हमको उसमें क्या क्या परिचय मिलता है, इस प्रकार व्यवहार और परमार्थ दोनों प्रकारसे परिचयकी बात चल रही है। आत्मपरिचय करना, आत्मज्ञान करना शान्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। शान्तिका उपाय आत्मज्ञान, आत्माश्रय, आत्मरमण विना अन्य नहीं है। कहाँ जाये ? पर पदार्थोंमें चित्त देते-देते तो अनन्तकाल व्यतीत हो गया। इस मनुष्य जीवनके कितने ही वर्ष तो व्यतीत हो गए,

पर अभी तक शान्ति पायी । क्यों शान्त न हुए अब तक ? बहुत-बहुत काम, व्यापार करनेके बाद भी, अनेक सुखके साधन जुटानेके बाद भी आज तक शान्ति प्राप्त न हुई तो इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि जहाँ शान्ति भरी है, जहाँसे शान्ति प्रकट होती है, और जो शान्तिका धाम है उसको नहीं तका, अभी तक नहीं समझा, उसमें रमण नहीं किया, उसका प्रयोग नहीं किया, और शान्ति-धाम निज तत्त्वको छोड़कर बाहरी-बाहरी पदार्थोंका ही हम आश्रय करते रहे, उसका फल यह है कि जैसे हम पहले थे वैसे आज हैं, शान्ति नहीं प्राप्त हुई । तो ऐसे शान्ति पानेके उपायके लिए अपनेको बहुत त्यागकी आवश्यकता है ? कषायोंके त्यागकी आवश्यकता है, मोहके त्यागकी आवश्यकता है । लोकमें मेरे लिए मैं हूँ, मेरा उत्तरदायी मैं हूँ, मैं जैसा भाव करता हूँ वैसी ही बात सामने आती है । बाहरी पदार्थोंके परिणमन किसी भी प्रकार परिणमों, परिणमें, उनसे मेरे को शान्ति अशान्तिकी बात नहीं, पर पदार्थकी ओर उपयोग जानेपर, अज्ञान बढ़नेपर, मोह होनेपर, रागद्वेषकी बुद्धि जगनेपर यहाँ अशान्ति होती है । कभी ऐसा ज्ञान जगे, ऐसी वृत्ति बने कि परका ज्ञाता द्रष्टा रहे, ये हो रहे भाव इसके जानन देखनहार रहे, उनमें रागद्वषकी वृत्ति न लगाये, तो इसको किसी प्रकारका कष्ट नहीं । मात्र जाननहार को कष्ट ही क्या हो सकता है ।

२०० वस्तुस्वरूपकी सही समझ विना विपत्तिके अभावकी असंभवता—

विपत्ति उसपर आती है—जिसपर हमारा अधिकार नहीं उसपर अपना कुछ अधिकार समझे । बच्चा मेरा है, यह मेरी बात नहीं मानता, कैसे नहीं मानता, उसको मानना चाहिए, नहीं मानता तो मोही कहता है गजब हो गया यह उसे अनहोनी मान रहा । अरे अनहोनी कुछ नहीं हो रहा, उसका ज्ञान, उसका ध्यान, उसका परिणाम उसमें ही है । उससे तुम्हारा कोई मतलब नहीं । भले ही वह अपनी सुख शान्तिके लिए आपके अनुकूल चले तो भी वह अपने ही प्रयोजनके अनुकूल चल रहा, कहीं आपके प्रभुत्वके कारण अनुकूल नहीं चल रहा । सब जीव अपनी अपनी शान्तिके अर्थ अपनी अपनी चेष्टा करते है, जब ऐसो बात है तो बस उनके मात्र जाननहार रहें, उनसे बोले तो फसे । एक घटना सुनायी थी गुरुजीने किसान किसाननी की । किसान तो कुछ मूर्ख टाइपका था और किसाननी चतुर थी । तो छोटे लोगोंकी प्रायः कुछ ऐसी ही आदत होती है कि वे कभी कभी अपनी स्त्रीको पीट लें तो उसमें वे अपनी शान समझते हैं तो उस किसानके मनमें कई बार आया कि देखो विवाह हुए १५—२० वर्ष हो गए, पर मैं किसी भी बहानेसे अपने स्त्रीको पीट न सका । अब तो कोई ऐसा बहाना निकालना चाहिए कि पीटनेका मौका मिले । सो एक दिन क्या किया कि जब वह आषाढमें हल जोत रहा था तो हल जोतते हुएमें एक तरफ बैलको औंधा जोता, एक ओर सीधा । यह सोचा कि स्त्री रोजकी भांति खाना लायेगी, बैलोंको ऐसा जोतते देखेगी तो कुछ तो बोलेगी ही—क्या ऐसे ही जोता जाता है ? कैसे कुटुम्बको पालोगे, क्या बैलको मार डालोगे... यों कुछ तो कहेगी ही, बस पीटनेका मौका मिल जाएगा । आखिर हुआ क्या, किसाननी रोजकी भाँति खेतोंमें खाना लायी तो दूरसे ही देखकर सब समझ गई कि उनके मनमें क्या है । सो चुपकेसे पहुंची और खाना रखकर यह कहकर वापिस लौट पड़ी कि चाहे औंधा जोतो चाहे सीधा, इससे हमें कुछ मतलब नहीं, हमारा काम तो खाना पीना पहुँचानेका है सो यह रखा है, जाती हूँ । तो किसानिनी चली गई । किसान दिल मसोस कर रह गया । तो भाई इस घटनासे मतलब क्या निकला कि चाहे कोई उल्टा चले चाहे सीधा, उसमें हम हर्ष विषाद न माने, उसके मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहें । इस प्रकारकी एक दृढ़तम साधना जब

बन जायगी तब अंतस्तत्त्वकी अनुभूतिके पात्र हम बन सकेंगे।

२०१—अपने आपकी सम्हालमें सहज परमात्मतत्त्वके दर्शनकी संभावना—

भैया अपने आपकी सम्हाल करें, अपने आपका परिचय करें, अपने आपका परिचय पहिले करना है भेददृष्टिसे और भेददृष्टिसे परिचय करनेके बाद फिर अभेदका परिचय करना कि मैं क्या हूँ, जिसमें ज्ञान है, जो जानता है सो मैं हूँ। अच्छा इसके आगे और बढें और भेद बनायें, जो विश्वास रखता है, जो जानता है और जो कहीं न कहीं लगता है, रमता है वह आत्मा है। आत्माके प्रयोगात्मक तीन गुण हैं—क्या? सूझ, बूझ और रीझ। ये तीन बातें सबके अन्दर चलती हैं। चाहे कोई किसी पदमें हो, याने श्रद्धान ज्ञान और चारित्र सबको लगते। कोई चीज सुझ गई याने समझमें आ गई, एक मार्ग निकल आया, उसका अनुभव बना, श्रद्धान बना, बूझ मायने ज्ञान बना और रीझ मायने चरित्र अब कोई कषायोंपर रीझा है तो वहाँ भी चारित्र चल रहा, पर वह मिथ्या चारित्र है। कोई अपने आत्माके स्वरूपपर रीझा, अहा कैसा ज्ञानमात्र हूँ, भीतर आत्माके स्वरूपपर दृष्टि दें तो वहाँ एक प्रकाश चैतन्य ज्ञान ही ज्ञान ज्योति दिखी। सभी दर्शनिकोंने प्रयत्न तो किया है इस ही आत्मतत्त्वको समझानेके लिए, मगर थोड़ा स्याद्वादका और सहारा लिया जाय तो वह बात अच्छी तरहसे समझमें आयगी। बताते हैं कुछ दार्शनिक कि चार बातें होती हैं—वे बतलाते हैं जागृति, सुषुप्ति, अंतः प्रज्ञ और तुरीय-पाद। कभी आपने देखा होगा एक जगह लिखा है, तो उसका अर्थ क्या है? तुरीय एक तत्त्व है, वह किस प्रकार? जागृत मायने वहिरात्मा। उनके आत्मामें वह बोल रहा, इच्छा कर रहा, समझ रहा वह जागृति है और सुसुप्तिका अर्थ वहाँ है—जहाँ व्यवहारमें सो गया व्यवहारमे यहाँ वहाँ उपयोग नहीं चल रहा, ब्रह्मस्वरूपमें उपयोग ले गए। इस बातके लिए सुषुप्ति शब्द दिया। उनका अर्थ और तरह रखें तो सुषुप्ति हो गया बहिरात्मा और जागृत हो गया अन्तरात्मा। मगर सबकी अपनी अपनी एक रीति है। अन्तःप्रज्ञ मायने परमात्मा। जो जाननहार है, सबका ज्ञाता द्रष्टा है, और तुरीयपाद क्या, वह जो इन तीनोंमें रहता है। यद्यपि इस तरहसे विश्लेषण वहाँ नहीं होता और वहाँ एक जीव अलग चीज है, प्रकृति अलग चीज है, लेकिन मोक्षकी बात बतायी है कि यह जीव जब ब्रह्ममें समा जाय तो मोक्ष होता है, उसका अर्थ लेना इस अभिप्राय से कि जीव मायने यह उपयोग जो चल रहा यहाँ वहाँ दौड़ रहा और तुरीयवाद मायने ब्रह्मस्वरूप, मायने इस ही जीवके अन्तः बसा हुआ जो एक सहजस्वरूप है, जब कोई चीज होती है तो वह अपने ही स्वरूपसे है, अपनी ही सत्तासे है, किसी दूसरेकी दयासे नहीं है। जो जो भी सत् है वह अपने आप सत् है। जो अपने आप सत् है तो उसका स्वभाव भी अनादि अनन्त है। तो जो सहज स्वभाव है उसपर दृष्टि दिलाई जा रही कि आत्माका जो सहज स्वभाव है चैतन्यमात्र, उस रूपमें अपनेको जो निरखता है वह तो है अन्तरात्मा और जो एकरस बन गया, निर्मल दशा हो गई वह हो गया परमात्मा।

२०२—अपने स्वभावका, वर्तमान परिणामका व कर्तव्यका चिन्तन—

हम कहाँ हैं और क्या मेरा स्वभाव है और क्या मेरी हालत है और क्या होनेमें मेरा भला है, इन तीन बातोंका तो निर्णय करना चाहिए मन इसीलिए है। मनुष्यका मन सबसे ऊँचा बताया गया है क्योंकि इस मनका यह बहुत ऊँचा उपयोग कर सकता है। हित अहितका विवेक कर सकता है। वर्तमानमें मेरी क्या हालत है, वास्तवमें मेरा क्या स्वरूप है और क्या होनेमें मेरा भला है। यहाँ ये तीन बातें ही तो समझनी है और इन तीनों बातोंको अगर छोड़े, बाहर ही बाहर उपयोगको

दौड़ायें तो समझो कि यह मानव जीवन यों ही खो दिया, लाभ कुछ न पाया। अपना व सबका भला करें। सच्चा ज्ञान बनावें मैं केवल एक हूं, कोई दूसरा मेरा साथी नहीं। मैं केवल एक अपना ही जिम्मेदार हूं। मेरा कोई दूसरा जिम्मेदार नही। जब कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं, तो फिर इस वर्तमान में पाये हुए समागमका क्या करें, जो चार दिनकी चाँदनी है। जैसे–समागम भव-भवमें अनेकों बार अनेक तरहके मिले उसी ढंगके समागम आज भी मिले, ये मिले तो इन समागमोंका हम क्या करें? जब मेरा इनसे कुछ काम ही नहीं बनता, इनसे शान्ति, आत्मविकास, आत्मरमण परमतृप्ति जब इस बाहरी संग परिग्रहसे कुछ काम ही नहीं बनता तो क्या करें इनका? कुछ अपनेमें खोजें मेरे स्वभावमें क्या और कैसा हो रहा? और मुझमें क्या होना चाहिए? मेरी वर्तमान स्थिति क्या है? यह तो बहुत जल्दी समझमें आ सकता। कोई मोही है, कोई रागी है, कोई द्वेषी है, किसीके परिग्रहका विकल्प लदा है, कोई कहीं अटका भटका है। किसीका कहीं मोह है, ऐसी परिणति चल रही, कोई क्रोध कर रहा, कोई मान कर रहा, कोई माया कर रहा कोई लोभ कर रहा, इस तरहकी परिणतियाँ चल रहीं, ये सब इस जीवकी दुःखकी ही परिणतियाँ हैं, ये सब आनंदके आवरण है। अरे कहाँ तो मेरा भगवत्-स्वरूप है जो मेरा परम शरण है, और आज इसकी क्या स्थितियाँ बन रहीं।

२०३–अपना इतिहास–

जरा अपना इतिहास तो सुनाओ–हम आप सबकी सबसे पहली दशा निगोदकी थी। यह बात केवल कहने मात्र की नहीं है। जिन वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिसे हम आपके अनुभवमें आ सकने योग्य, तर्कणासे सिद्ध हो सकने योग्य जीवादिक ७ तत्त्वोंका परिचय जब बिल्कुल युक्तिसिद्धसही सही है तो ऐसा मोक्षमार्गका प्रतिपादन करने वाले वीतराग ऋषी, संत, महर्षिजन क्यों असत्य बोलेंगे? दूसरी बात–बड़े बड़े अवधिज्ञानियोंने केवलज्ञानियोंने इस बातको प्रत्यक्ष किया है। निगोद जीव जो ऐसे सूक्ष्म होते हैं, जो किसीके आधारसे भी हैं, अनन्त निराधार भी हैं, अनन्तकाल तो वहाँ गवां दिया। एक श्वांसमें १८ बार वहाँ जन्म मरण किया। वहाँ से निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक एकेन्द्रिय जीव बना। फिर वहाँसे जीवने कुछ अपना विकास किया तो दो इन्द्रिय जीव बना, केंचुआ, जोंक, लट आदिक दोइन्द्रिय जीव हुआ। कुछ और विकास हुआ तो तीन इन्द्रिय जीव हुआ। याने एक ऐसा जीव जो प्रगति करके रसका ज्ञान करने लगा, फिर गंधका ज्ञान करने लगा तीन इन्द्रिय जीव बना। यह भी कोई मामूली विकास जीवका न समझें। फिर उस जीवने कुछ विकास किया तो चार इन्द्रिय जीव बना। नेत्रोंसे देखने भी लगा। फिर पञ्चेन्द्रिय जीव बना कानों से भी सुनने लगा। कुछ और विकास किया जीवने तो उसे मन भी मिल गया। मन उसे कहते हैं जिससे हित-अहितकी शिक्षा ग्रहण कर सके कि यह करने योग्य, यह छोडने योग्य। कोई चाहे न करे, सभी लोग प्रायः मनका ऐसा दुरुपयोग करते हैं कि इन इन्द्रियोंका ही पोषण कर रहे, जैसा रसना चाहती है, मन उसीमें जुट गया। मनने इन इन्द्रियोंका ही नाम बढ़ाया, पर इसने आत्महितके लिए कोई कदम नहीं उठाया। यह है अपना जीवन चरित्र। चतुर्गतियोंमें घूम घूमकर आज मनुष्यभवमें आये हैं तो यहाँ भी वही स्वप्न देखते यह मेरा घर, यह मेरा परिवार, यह मेरा सब कुछ।

२०४–मात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधनामें अध्यात्मसाधना–

देखिये अध्यात्म साधनाके प्रसंगमें सिवाय आत्मस्वरूपके और कुछ ध्यानमें न आना चाहिए। जिसे कहते हैं समाधिभाव, उत्तमध्यान परमतृप्तिकी अवस्था। उसे पानेके लिए अपने ध्यानमें केवल

एक आत्मतत्त्व ही रहे उसे जाने, मेरा यह ज्ञान जाननेका काम करता है। तो जिसमें ज्ञान नहीं, जो बाह्य पदार्थ हैं, जो परवस्तु हैं, उनके जाननेमें तो यह बन रहा शूरबीर। यह आविष्कार किया, वह आविष्कार किया। और यह खुद ज्ञान स्वरूप है, ज्ञानसे ही रचा हुआ है, ज्ञान ही जिसका शरीर है, ज्ञानसे ही भरा है, या ज्ञान ज्ञान ही आत्मा है। जैसे मिश्री क्या है। जिसमें मधुराई है उसका पिण्ड ही तो है यह, इसी तरह ज्ञानपिण्ड ही तो है यह जीव। जो ज्ञायकस्वरूप है उसे यह न जान सके यह एक अंधेरकी बात है। यही तो गजब हो रहा। क्यों हो रहा कि इसने मोह रागद्वेषवश बाह्य पदार्थोंमें उपयोग लगाया। जरा अपनी स्थितिपर विचार करो, क्या हो रहा है। आयु गुजर रही है, मरणके निकट पहुंच रहे हैं, फिर अगले भवमें जाना पड़ेगा। फिर इसका सम्बंध है क्या किसीके साथ ? तो ऐसी अपने आपपर दया करके, पाये हुए परिग्रहमें मोहभावका त्याग करो, यह मोह और क्लेश करनेका बहुत खोटा परिणाम है। ज्ञानी वही है जो पाये हुए वैभवमें मोह नहीं रखता। जान लिया कि है यह भी। मोह न रहे, गृहस्थीमें ऐसा तो हो सकता, पर राग बिना गृहस्थीमें नहीं रह सकते। मोह तो कहते हैं मिथ्यात्वको, अज्ञानको। मोहमें जीव परको स्व मानता है और मोह जहाँ नहीं रहता वहाँ सब समझते हैं—यह मैं हूँ यह पर है, निजको निज परको पर समझते हैं, मगर मुनिव्रत ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है, स्वतंत्र नहीं हो सकते हैं, न एक आत्मध्यानमें रत हो सकते हैं और विषय कषाय सताते हैं, तो गृहस्थी बनानी पड़ी, गृहस्थी बसा रखी तो उस गृहस्थीमें गृहस्थीके योग्य तो काम करने ही पड़ेंगे, कमायी भी करनी पड़ेगी, जिसमें अनेक रागद्वेष भी चलते हैं। तो गृहस्थीमें मोहके बिना तो चल जायगा मगर राग बिना नहीं चलता। मोह और राग ये दोनों अलग चीजें हैं। मोह अलग चीज है राग अलग चीज है। राग भी जब छूटना होगा, छूट जायगा, मगर वास्तविका तथ्य तो जान लें कि ये भी विभाव हैं, परभाव हैं। राग अन्य वस्तु है, विभाव है, क्योंकि कर्म पुद्गल अनुभागकी छाया माया है, उसका प्रतिफलन है, वह मेरा कुछ नहीं, मैं तो चैतन्य स्वरूप हूँ, तो परमार्थसे देखा जाय तो प्रकट ज्ञातृत्व भाव है उस दृष्टिसे यह आत्मा एकस्वरूप है। कहते हैं ना, तमसो मा ज्योतिर्गमय, अर्थ तो इसका यह है कि अंधकारसे हटाकर मुझे ज्योतिमें ले जावो, अज्ञानसे हटाकर मुझे ज्ञानमें ले जावो। अब अन्तर यह रहा कि अपनेसे बाहरमें किसीको देखकर उससे प्रार्थना करे कि मुझे अंधेरेसे हटाकर ज्ञानमें ले जावो, एक तो वह पुरुष और एक वह जो एक अपनेमें इस ज्ञान स्वरूपको निरखकर, इस ज्ञानमय अंतस्तत्त्वको देखकर अपने स्वरूपसे कहे कि मेरे इस उपयोगको मेरे अज्ञान परिणामसे अंधकारसे हटाकर ज्ञानोपयोगमें ले जावो। आप बताओ सम्भव कैसे है कि हम अंधेरेसे हटकर ज्ञानमें आ जायें, बाहरकी दृष्टि गड़ाकर बिनती करनेसे यह बात सम्भव हो सकती है या अपने स्वरूपमें दृष्टि गड़ाकर यह बात सम्भव हो सकती ? तो यह आत्मा व्यक्त ज्ञातृत्व ज्योतिके कारण एकस्वरूप है और कैसा है ? समस्त भावान्तरोंको ध्वंस करनेका इसका स्वभाव है, देखो विभाव लग जाते है यह एक परिस्थिति है, यह एक कर्मानुभागका ऊधम है। कर्मानुभाग लद गया और यह जीवके उपयोगमें आ गया, यह उसमें लग गया, कषायरूप अपने को मानने लगा, ये सब बातें हुईं। मगर ये अपने ही भाव हैं कि भावान्तर ? रागद्वेष कषाय ये भावान्तर हैं, इन समस्त भावान्तरोंको ध्वंस करनेका इनका स्वभाव है।

२०५—स्वभावमें भावान्तरध्वंसशीलता—

देखिये जो स्थिति बंधनकी है। वह सिर्फ जबरदस्तीकी एक बात है, मगर स्वभाव हो

भावान्तरोंका विनाश करता है। जैसे किवाड़पर लगाते ना जाली जैसा कुछ स्प्रिंगदार तो उसमें स्प्रिंगका एक पेंच ऐसा लगा दिया जाता कि जिससे किवाड़ बंद ही रहें, जब उन्हें हाथसे जबरदस्ती खोला तब तो खुल गये, नहीं तो याने हाथ छोड़ा फिर बंद हो गए। यह एक मोटा स्थूल दृष्टाँत दे रहे कि उनका बंद रहनेका स्वभाव सा है। जितनी देरको जबरदस्ती की है हाथसे खीचा है। उतनी देरको खुले हैं, और यह साधन हटा, यह निमित्त हटा, यह प्रयोग हटा तो ये बंद हो जाते हैं। तो इसी प्रकार आत्माका स्वभाव तो समस्त विभावोंको ध्वस्त करनेका है, उससे अलग बने रहनेका है, मगर अपने बाँधे हुए कर्म के उदयकाल की परिस्थिति, निमित्त नैमित्तिक भाव, जहाँ प्रतिफलन हो रहा, उपयोग उस ओर चला गया, आश्रयभूत पदार्थोंमें हम जुट गए, स्थिति यह बन गई, फिर भी इस सहज परमात्म-तत्त्वका आशीर्वाद है कि हम सदा उपयोगके निर्मल करने पर ही तुले है। जैसे कोई कुपूत होता है, दसों अपराध करता है तो कितने ही अपराध करने पर भी माताका हृदय कहता है कि हम तो तुम्हारे हितके लिए ही सदा भाव रखे हैं, तो जैसे पुत्र माताको तकलीफ दे, फिर भी माता उस पुत्रका अहित नहीं सोचती, ऐसे ही यह सहज परमात्मतत्त्व, हम आप आत्माओंका स्वरूप यह तो कल्याणके लिए ही तुला हुआ है, कल्याणमय है। यह कभी विकारी नहीं बनता स्वरूपमें। स्वरूपमें कभी कोई द्विविधा नहीं आई, द्वैतता न आये, यह एक स्वभाव ही बर्तता रहे। जो समस्त भावान्तरोंका भेद न करनेका स्वभाव है ऐसे इस चैतन्यस्वरूपकी ओरसे देखें तो आत्मा एकरूप है, नानारूप नहीं। अब परिचयमें चलते हैं तो आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, ऐसा परिणमन है, ये सब बातें वहाँ परिचयमें मिलती हैं, मगर मूलमें वह अंतस्तत्त्वका क्या है, है और परिणमता है। द्रव्य और पर्याय कभी नहीं छूटते। ये सदा हैं। व्यक्तिगत पर्याय सदा नहीं मगर पर्याय बिना वस्तु नहीं। तो वस्तु द्रव्यपर्या-यात्मक है, इसी आधारपर स्याद्वाद चलता है। इसका आधार इतना पुष्ट है तो स्याद्वाद चलना ही पड़ेगा। जब द्रव्य द्रव्यको जाने पर्यायको न जाने तो पूरा वस्तु नहीं पहिचानमें आया। ऐसे तो बहुतसे लोग कहते हैं, ब्रह्मको कहते हैं कि ब्रह्म है, अपरिणामी है, परन्तु प्रयोगमें क्या आया? यहाँ कोई चीज हासिल नहीं हुई कोई ब्रह्मको पर्यायरहित माने केवल द्रव्य द्रव्यकी बात सोचे, पर्यायकी बात न सोचे तो स्याद्वाद नहीं बनता प्रमाण नहीं बनता और कोई पर्याय पर्यायकी ही बात सोचे, पर्याय ही सब कुछ हैं, द्रव्य कुछ नहीं है, पर्याय स्वतंत्र है, अपने आपमें वह पर्याय ही सब कुछ है, द्रव्यका सम्बंध कुछ न जोड़े तो पर्याय कहाँसे आ गया द्रव्य बिना, उसी अन्वयमें यह व्यतिरेक चलता रहता है। द्रव्यकी बात छोड़ दें, पर्यायको ही स्वतंत्र मान लें तो ऐसा मानने वाले तो बौद्ध भी हैं, वे मानते हैं कि आत्मा क्षण क्षणमें बदलता है, वह एक क्षण ठहरता है, दूसरे क्षण नहीं ठहरता। द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है और फिर उसीके आधारपर स्याद्वाद चलता है। द्रव्यपर्यायात्मकके सम्बंधको तज कर स्या-द्वाद नहीं चलता। तो हम अपनेको विस्तारसे जानें, संक्षेपमें जानें, खूब विकल्पोंको हटाकर जानें और सारे विकल्प तोड़कर गुम्म सुम्म होकर एक प्रयोगात्मक विधिसे जानें, यह सब हमको जानना है अपने स्वरूपकी बात, वहाँ ही तृप्त होना है, वहाँ ही मग्न होना है, यहाँ ही लीन होना है, इसमें ही हमारा कल्याण है, बाहरी बातोंके प्रसंगसे हमको कुछ भी लाभ नहीं है।

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१६॥

२०६—आत्माकी एकरूपता व नानारूपताका दर्शन—

प्रकरण यह चल रहा है कि आत्मा एकस्वरूप है, या नानारूप है, देखिये—समझ दोनों दृष्टियोंसे सकते हैं। नानारूपको न समझ सकें तो हम एकरूपको भी नहीं समझ सकते और एकरूपको नहीं समझ पाते तो हम नानारूपको भी नहीं समझ सकते। जैसे कोई एकरूप समझे नहीं और नाना रूप देखे तो उसकी ऐसी बुद्धि जग जायगी कि फिर तो क्या है, गुण हैं, पर्यायें हैं और गुण अनेक हैं, सब स्वतन्त्र हैं, पर्यायें स्वतन्त्र हैं, गुण सब स्वतन्त्र हैं, सब स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत् मान लिए जायेंगे। जैसा कि नैयायिकोंने, मीमांसकोंने माना है कि गुण अलग पदार्थ है, पर्याय अलग पदार्थ है, सब स्वतंत्र सत् है, मगर जैन दर्शनमें यदि ऐसे शब्द कहे जायें कि गुण स्वतंत्र सत् है, प्रत्येक गुण स्वतंत्र सत् है, प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र सत् हैं तो वह जैन धर्मसे अत्यन्त अनभिज्ञ हैं, क्योंकि सत्का लक्षण क्या है? जो उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हो सो सत्, जिसमें गुण पर्याय पाये जायें सो सत्। अब गुण कितने होते हैं? दो प्रकारके। (१) साधारण और (२) असाधारण। पर्याय कितनी होती हैं दो प्रकारकी (१) द्रव्य पर्याय और (२) गुण पर्याय। तो निष्कर्ष यह निकला कि स्वतंत्र सत् वह कहलाता है जो अन्य सबसे भिन्न प्रदेश रखता हो। जिसे कहते है, प्रविभक्त प्रदेशपना। जो अपने अन्दर जुदे-जुदे प्रदेश रखता हो, जिसमें ६ साधारण गुण पाये जायें वह स्वतंत्र सत्। जिसमें असाधारण गुण पाये जायें वह स्वतंत्र सत्। जिसमें उत्पादव्ययध्रौव्य पाये जायें वह स्वतंत्र सत्। अब वे मीमांसक जो गुणोंको स्वतंत्र पदार्थ कहते हैं वे जरा बतलावें गुणोंमें क्या स्वतंत्र सत्की व्याख्या घटित होती है? गुण क्या उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हैं? गुण शाश्वत हैं, उनका उत्पादव्यय ही नहीं है। गुणमें क्या साधारण गुण पाये जाते हैं, क्या असाधारण गुण पाये जाते हैं? अरे गुण तो "निर्गुणगुणाः" गुणमें गुण नहीं पाये जाते। गुण स्वयं पर्यायरूप नहीं बनते, गुण उत्पाद व्यय रूप नहीं रहे। गुण सब स्वतन्त्र सत् है, जैसे आत्मामें ज्ञान दर्शन चारित्र गुण हैं और ये हो गये स्वतन्त्र सत् तो मानो गुणके प्रदेश, ज्ञानके प्रदेश दर्शन चारित्र आदिकसे भिन्न होने चाहिए क्योंकि जो भिन्नप्रदेशी है सो ही स्वतन्त्र हो सकता है। यह बात न गुणमें घटित है न पर्यायमें, फिर तो यह सब एकान्तवाद बन गया। जैसे मीमांसक नैयायिक आदिक सिद्धान्त ये सब स्याद्वादसे बहिर्भूत हैं। आत्मा एकरूप है, ऐसा समझकर नानारूप बताये कि आत्मा नानारूपमें भी समझमें आ रहा, दर्शनरूपमें चारित्ररूपमें समझमें आ रहा, वह नानारूप में है सो ठीक बात है, तथा वस्तुको नानारूप कोई नहीं समझता है द्रव्यमें यह अपरिणामी ही है ऐसा एकान्त करता है तो वस्तुकी मुद्रा न रहनेपर वस्तुका सत्त्व ही सिद्ध नहीं होगा नानारूप समझ कर कोई एकरूप तक पहुच पाता है। इस दार्शनिकके आत्मामें जाननेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, रमनेकी शक्ति, ये अनेक गुण पाये जाते, पहिचान भी इसी तरह करायी जाती कि जिसमें जानने देखने रमनेकी बात हो सो आत्मा। तो जीव दोनों प्रकारसे समझमें आया। आत्मा नानारूप है, आत्मा एक रूप है।

२०७—विवादसे परे होकर आत्माका श्रद्धान ज्ञान आचरण करके हित करनेका कर्तव्य—

अच्छा इसमें अगर कोई विवाद ही करता रहे–अजी आत्मा एकरूप ही है, नानारूपताकी बात कहना गलत है उनमें नानारूप वाला लड़ने लगे कि आत्मा नानारूप है, केवल एकरूप कहनेकी बात मिथ्या है तो ऐसा विवाद करने वाले जरा सोचें कि विवाद करते रहना ही क्या ध्येय है? आत्मा एकरूप है या नानारूप याने अमेचक या मेचक है, इस प्रकार की चिंता करना व्यर्थ है। आत्मा

में मेचकपना है या अमेचकपना है ? आत्मा एकस्वरूप है या नानारूप है, इसकी चिंता करने या विवाद करनेके वजाय विकल्प तजकर अनुभवका पौरुष करें। श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र बिना सिद्धि असंभव है निर्णयकी बात इसमें एक ही समझे। इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा है कि दर्शन ज्ञान और चारित्र इनके द्वारा साध्यकी सिद्धि होती है, अन्य प्रकार नहीं होती। हम आत्माको जानें एक अखण्ड चैतन्यस्वरूपमय, सहजस्वभावमय, उस आत्माको जानें, उस आत्माकी श्रद्धा करें, उस आत्मामें ही रमण करें, बस यह ही तो साध्यकी सिद्धिका उपाय है, अन्य उपाय नहीं है। आत्माको छोड़कर अनात्मतत्त्वमें श्रद्धा हो, प्रीति हो, रमण हो, बोध हो, वहाँ उपयोग लगे, वहाँ मग्नता करें तो यह साध्य सिद्धिका उपाय नहीं है। एक ही बात है–आत्माको जानें, मानें और आत्मामें रमें। और, सरलतासे समझें तो अपनेको ज्ञानमात्र निरखे, में ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञान ज्ञान पुञ्ज, ज्ञान ज्ञानसे रचा गया जो कुछ यह सत् है। किसने रचा ? अनादिसे है वह। रचनेकी बात, यों कहते कि यह ज्ञानमें आयें कि आखिर यह आत्मा किस तत्त्वमें तन्मय है, ज्ञानसे निर्वृत्त यह आत्मतत्त्व है, उस रूप अपनेको श्रद्धा करें। यहाँसे चिगे, बाहर देखा तो अनेक रंगके चश्मोंमें जैसे अनेक प्रकारकी बात दिखती यहांभी वैसे दिख रही है– यह मेरा है, यह गैर है आदिक प्रकारकी दृष्टियाँ जग जाती हैं और इन दृष्टियोंके होनेपर फिर यह आत्माके लाभसे विमुख हो जाता है।

२०८—स्याद्वादसे निर्णय कर विकल्पातीत अन्तस्तत्त्वके अनुभवका कर्तव्य—

जानो कि आत्मा नानारूप है, ऐसा जाने बिना भी काम न चलेगा। जानो, आत्मा एकस्वरूप है, चीज है, एक है। है और परिणमता है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है और इसी कारण द्रव्य और पर्यायके आधारपर ही स्याद्वाद है। स्याद्वाद कहनेकी जरूरत क्यों पड़ी ? क्या जरूरत हुई ? यों जरूरत हुई कि प्रत्येक पदार्थ है द्रव्यपर्यायात्मक, सो द्रव्यदृष्टिसे भी बताओ बात और पर्यायदृष्टिसे भी बताओ बात। तब तो वस्तुका पूरा परिचय बनेगा, क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है द्रव्य नहीं और पर्याय पर्याय ही माना जाय, तो वह पर्याय निराधार कैसा ? किसकी पर्याय, किसमें परिणमन। द्रव्य ही द्रव्य माना जाय और पर्याय न स्वीकार किया जाय तो उस द्रव्यका रूपक क्या ? अवस्था ही नहीं ? व्यक्तरूप ही नहीं, पहिचानें क्या ? मायने जो पुद्गल है एक पदार्थ तो जैसी बात यहाँ है सो ही समझिये प्रत्येक पदार्थमें। जो पर्याय नहीं मानते वे कहते कि द्रव्य ही द्रव्य है। पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक होता है, इसको कोई मना नहीं कर सकता। भेद कल्पना तो गुणोंके लिए चली। उनमें गुणोंके भेद और किए, उसी प्रकार पर्यायमें भेद बने, कि ज्ञानकी पर्याय, दर्शनकी पर्याय तो ये तो बने भेदकल्पनामें, मगर मूलमें द्रव्य और पर्याय इन दो को मना नहीं किया जा सकता,। प्रतिक्षण पर्याय हैं और वे पर्यायें भी प्रतिक्षण अखण्ड है। जैसे द्रव्य अखण्ड, वह शाश्वत अखण्ड, पर्याय भी अपने कालमें अखण्ड अर्थात् किसी भी पर्यायको हम खण्ड करके समझाते हैं। है ना, जब हम हैं तो हमारी कोई अवस्था है। जब अवस्था है तो जो है सो है। अब इसमें जैसे गुणके भेद बनाये कि इसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, तो उसी आधारपर पर्यायोंके भेद बने कि इसमें ज्ञानकी पर्याय है, दर्शनकी पर्याय है, वहाँ तो बस वह है और परिणम रहा है, द्रव्यकी पर्यायोंको मना नहीं किया जा सकता। जब किसी वस्तुके बारेमें परिचय करना है तो द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, दोनों दृष्टिसे परिचय कराया जाय तो उस वस्तुका पूरा परिचय बनता है कि वह पदार्थ यह है, तब बस द्रव्यदृष्टिसे जो बात कहेंगे, पर्यायदृष्टिसे बात वह उसके विरुद्ध आयेगी। क्योंकि द्रव्य तो है शाश्वत और पर्याय

है क्षणवर्ती, तो जब यहाँ ही दो बात हुई है वैसे तो वस्तु एक है, तो जो दो बात हुई हैं विरुद्ध, मूलमें, द्रव्य शाश्वत, पर्याय क्षणवर्ती, तो इन दो दृष्टियोंसे जो बात कहेंगे वह भी विरुद्ध हो तो जायगी तो उन दो विरुद्ध धर्मोंका एक वस्तुमें अवस्थान बताना इसका नाम है स्याद्वाद। जैसे जीव नित्य है यह बात आयी द्रव्यदृष्टिसे। जीव नित्य नहीं है, यह किस दृष्टिसे बात आयी? पर्यायदृष्टिसे। जब वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है तो द्रव्य दृष्टिसे क्या है? पर्यायदृष्टिसे क्या है? यह बताना, यह ही है एक स्याद्वाद। जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। जो दृष्यिोंको समझ चुके वे कभी दृष्टिकी बात आत्मामें भी न डालें तो वे कह देंगे कि जीव नित्य भी है और अनित्य भी है। यह हुआ एक स्याद्वादका रूप। हरएक जगह घटा लो जीव एक है कि नानारूप? जीव एक है द्रव्यदृष्टिसे जीव नानारूप है पर्यायदृष्टिसे। तो उत्तर हो गया। विरुद्ध धर्मोंका एक वस्तुमें अवस्थान बन गया और इसीको बतानेसे यह स्याद्वाद कहलाता है।

२०९—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें द्रव्य और पर्यायकी दृष्टिसे विरुद्ध दो धर्मोंका अवस्थान—

कोई अगर ऐसा कहे कि जीव नित्य है, अनित्य नहीं है तो क्या वहाँ दो विरुद्ध धर्म आ सके? नित्य है का क्या अर्थ, शाश्वत। अनित्य नहीं है का अर्थ? शाश्वत, एक ही धर्मको रिपीट किया गया है, एक शब्द योजना है। तो सुननेमें लगता है कि एकके साथ "है" कहा गया और एकके साथ "न" कहा गया, ये दो विरुद्ध धर्म हुए। अरे विरुद्ध तब होते जब जिस एकके साथ "है" कहा, उसीके साथ "न" कहा जाय तो विरुद्ध धर्म हैं। अब नित्य है उसका विरुद्ध धर्म अनित्य है या कहो नित्य नहीं है। नित्य है इसका विरुद्धधर्म, यह नहीं हो सकता कि अनित्य नहीं है, उसका विरुद्ध अनित्य है, यह तो दिगम्बर जैन सिद्धान्तको मूलसे मिटानेकी एक अपनी पूर्व निश्चित योजनाकी बतायी गई बात है। इस तरह अगर स्याद्वाद मान लिया जाय—यों कहें कि नित्य है अनित्य नहीं, इसे स्याद्वाद मान लिया जावे तो बताओ कौन ऐसा दार्शनिक है जो इस स्याद्वादको नहीं मानता? सब मानते हैं। सांख्य मानते हैं कि पुरुष नित्य है अनित्य नहीं। बौद्ध मानते हैं कि पदार्थ अनित्य है नित्य नहीं, सत् क्षणिक है, अक्षणिक नहीं है। यह शब्दरचना जाल है। कौनसा दार्शनिक ऐसा है जो मनमाना स्याद्वादको न पसँद करे? करें क्या? हर एक एकान्तवाद इसीपर सांस ले रहे हैं। जो सृष्टिकर्ता मानते हैं वे कहते हैं कि यह जगत बुद्धिमन्निमित्तक है याने सृष्टिकर्ताके द्वारा बनाया गया है, सब ब्रह्मरचित है, अब्रह्मरचित नहीं, मायने ब्रह्म द्वारा रचा नहीं ऐसा नहीं है। लो उसका भी स्याद्वाद बन गया। बोलो बन गया क्या? अरे स्याद्वादका मूल आशय विरुद्ध दो धर्मोंका अवस्थान बताना है, नित्यका विरुद्ध धर्म अनित्य है तो नित्य है, अनित्य है, ये तो विरुद्धधर्म हुए, पर दो निषेधका अर्थ तो विधि ही हुआ। वहाँ दो धर्म नहीं होते। तो अब समझिये तथ्य। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टिसे दो बातें यहाँ चल रही? आत्मा अमेचक है, यह द्रव्यदृष्टिसे व आत्मा मेचक हैयह पर्यायदृष्टिसे। हाँ तो इसमें प्रवेश करें, परिचय करें, ज्ञान बनायें। सब कुछ जाननेके बाद मेचक और अमेचकपनेके बारेमें चिन्तन में अब अधिक समय न गुजारें, अधिक बात न करें, किन्तु एक यह निर्णय रखें कि कुछ भी हो, मेचक भी है, अमेचक भी है, दृष्टियोंसे निरखा जा रहा है, लेकिन यह बात तो निश्चित है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके बिना कैवल्यकी सिद्धि नहीं होती।

२१०—केवल अन्तस्तत्त्वकी रुचि श्रद्धा रतिसे कैवल्य प्राप्तिके मार्गका लाभ—

किसकी सिद्धि करना है? कैवल्यकी, केवलके भावकी याने खाली एक आत्मा रह जाय, बस

इसकी सिद्धि करना है ना। तो पहले यह ही तो विश्वास कर लें कि केवल खालिस यह आत्मा है कि नहीं ? इस अवस्थामें, इस परिस्थितिमें पहले यह ही तो निर्णय कर लें कि आत्मा केवल है या नहीं। क्या अनादिसे दो द्रव्योंका तन्मय रूप कोई सत्त्व है ? नहीं, यह आत्मा अनादिसे कर्मबंधनसे बद्ध हैं, शरीरसे बद्ध चल रहा है, इसका तैजस कार्माण कभी मिटा नहीं। जो व्यक्तिगत तैजस है वह अपनी हद तक रहेगा और जो कार्माण है कर्मरूप वह अपनी स्थिति तक रहेगा। अगर स्थिति पर न जाय तो दुःख भी नहीं हो सकता। सो यद्यपि इनकी परम्परा अब तक बराबर चलती आयी है फिर भी जीव जीव है, कर्म कर्म है। जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जीवमें है, कर्मका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कर्ममें है। निमित्तनैमित्तिक योगसे ऐसा चल तो रहा है कि कर्मका उदय आया तो जीव कलंकित हो गया, मगर जीव जीवमें ही है, कर्म कर्ममें ही है, तो जीवके केवलपनेका विश्वास हो तो उस केवलताकी आराधना कर करके ही तो हम उस परिणमनमें केवलताको प्राप्त कर सकेंगे। यहाँ मानें कि हम व देह मिलकर एक है और उस आधारपर कुछ भी धर्मसाधना करें तो उससे तो केवलताकी स्थिति न बनेगी, जब कैवल्य पाना है तो यहाँ कैवल्यका श्रद्धान, आश्रय करना होगा। मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हूँ, बस उसका श्रद्धान करें, ज्ञान करें और उस ही में रम जावें बस इन उपायोंसे साध्यकी सिद्धि होती है। केवल आत्मतत्त्वकी उपलब्धि शुद्धनयसे ही हो सकती है। शुद्धनयका विषय है अखण्ड एक अंतस्तत्त्व।

२११—पर व परभाव वर्तनेपर पर भी कैवल्यकी अप्रतिषिद्धता—

यद्यपि इस जीवके साथ अन्य पदार्थ लगे हैं, इस समय इसको असत्य नहीं कह सकते, मगर दो द्रव्योंको निरखना यह अशुद्ध द्रव्यका निरूपण है, और अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाला जो व्यवहारनय है वह व्यवहारसे सत्य है। अर्थात् दो पदार्थ लगे हैं, इस दृष्टिसे वह सत्य है, किन्तु जब केवल एक ही द्रव्यको विषय किया जा रहा हो तो वहाँ एक ही स्वरूप तो दृष्टिमें आयगा और उस समय अधिक विशुद्ध दृष्टि बनाना हो तो पर उपाधिके सम्बन्धसे जो आत्मामें प्रभाव आता है उस प्रभावसे भी भिन्न अपने आपको निरखना है और इस प्रकार जो केवल एक अहेतुक अनादि अनन्त चैतन्यस्वभाव अपनेमें दृष्टिगत हो और उस ही की धुन हो ऐसी स्थिति कोई पाये तो वह शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता है, शुद्ध आत्माका अर्थ निर्मल आत्मा यहाँ न लेना किन्तु मिले हुए पदार्थमें भी केवल एक पदार्थको ही निरखने की जो दृष्टि है वह शुद्धनय कहलाता है, और उस दृष्टिमें परद्रव्यकी उपेक्षा कर, परद्रव्यको न निरख कर, होते संते भी उस द्रव्यकी ओर न मुड़ कर केवल एक अपनेमें केवल निजस्वरूपकी ओर दृष्टि करते हैं तो उस कालको कहते हैं शुद्धनय। जो शुद्धनयका प्रयोग करता है वह शुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता है। व्यवहारसे जाना, उसका प्रयोजन यह रखना चाहिए कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा सहज स्वरूप नहीं है, यह तो सम्बन्धकी बात है, पर मेरा स्वरूप मुझमें एकाकी है, केवल मैं ही मेरा स्वरूप हूँ, ऐसे उस शुद्धनयके अवलम्बनसे जो अपने आपमें एक निज आत्माको ही देखा जा रहा हो, केवल एक ही आत्मामें अपने आपको पा रहा हो तो इस प्रकारके एक शुद्ध अंतस्तत्त्वके चिन्तनके समयमें यह चूंकि शुद्ध आत्माका ही उपयोगी बन रहा है इसलिए शुद्ध आत्मा है, शुद्धनयसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है। अगर शुद्धनयकी कोई दृष्टि करता है तो भले ही परिचयमें तो वह साधक है—जैसे आश्रव, बंध, सम्बर निर्जरा मोक्ष ये सब दो की दृष्टि से बने हुए हैं लेकिन उसकी उपेक्षा कर केवल एक द्रव्यको ही देखा जा रहा हो ऐसा भी तो हो सकता

है। तो जब केवल एक द्रव्यको ही निरखा जा रहा हो उस समयमें यह भेदसे परे होकर एक विशुद्ध चैतन्यस्वभावकी प्रतीति तक पहुँच जाता है।

२१२—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें मात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधना—

इस आत्माकी उपासना करें एक आत्मस्वरूपके रूपमें। मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, सहज आनन्दमय अपने आपमें आप ही स्वयंसिद्ध हूं। ऐसे स्वयंसिद्ध अनादिसिद्ध अंतस्तत्त्वकी आराधना ही इस जीवको शरण है। यहाँ बताया जा रहा है कि करना तो उपासना अपने आपकी ही है ना? तो अपने आपकी आराधनामें ये तीन तत्त्व आ ही जाते हैं। अपने आपका श्रद्धान, अपने आपका बोध और अपने आपमें रमण। इस प्रकार साध्यकी सिद्धि इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप वृत्तिसे होती है। उस ही तत्त्वको यहाँ समयसार कलशमें अनुभूतिके योग्य वर्णन द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। जिनको कैवल्यकी प्राप्ति करना है उन्हें अभी ही अपने आपमें केवलके स्वरूपको निरखना होगा। क्या उत्पन्न करना है, क्या साध्य चाहिए, उसकी सिद्धि तो तब ही बन सकेगी, उस सिद्धिकी व्यक्ति तो तब ही हो सकेगी जब स्वरूपमें मूलमें यह इतना ही केवल है, यह अपने आपमें एक अद्वैत है, यह दृष्टि बने तब। और इस श्रद्धाके कारण इसकी अनुभूतिमें जब एक परम आनन्द उत्पन्न होता, उसका अनुभव होता तो उस आनन्दकी स्मृति होनेपर उस आनन्दकी स्थिति होनेपर इस जीव का बाहरमें कहीं कुछ नहीं है, इसको दूसरा कुछ भान नहीं ही हो रहा। ऐसे इस चैतन्यस्वरूपकी उपासना करें। देखिये इस ही शुद्धतत्त्वको एकदम एकान्ततः जब प्रयुक्त किया गया तो वही तो बन गया स्याद्वाद से बाह्य। यह न देखा कि बाहरमें और कुछ तो है सही, इस आत्माकी परिणतियाँ तो है, अन्य तत्त्व तो हैं मगर उनकी दृष्टिमें आत्महित नहीं है। भैया, यह तो ठीक है कि क्यों भेदका आलम्बन लेना, एक निज अंतस्तत्त्वका आलम्बन लेना और उस अंतस्तत्त्वके अनुभवमें द्वैतका भान न हो, ऐसी स्थिति बनाना है मगर एक निर्णय कोई बना दें कि दूसरा मानो है ही नहीं, तो निजकी भी सिद्धि नहीं और अद्वैतकी व द्वैत भी सिद्धि नहीं।

२१३—मात्र अन्तस्तत्त्वके अनुभवका प्रभाव—

भैया! अपने आपमें आपके इस अंतस्तत्त्वको निरखना है। यह श्रद्धान करें कि यह आत्मा उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है। इसमें क्षण-क्षणमें परिणमन होते चलते हैं लेकिन उन परिणमनोंकी ही दृष्टि होनेपर इस शुद्ध आत्माकी उपलब्धि नहीं होती। गुण पर्यायके भेद न कर केवल एक चैतन्य-प्रकाशका ही अनुभव हो, चैतन्यप्रकाशकी ही दृष्टि हो, शुद्ध चिन्मात्र, ऐसे इस अंतस्तत्त्वकी साधनामें हमने क्या पाया? केवल? बस इस केवलके ही आश्रयसे इस केवलकी दृष्टिमें, इस केवलमें ही इस केवलके ही स्वभावसे वह कैवल्य, वह पवित्रता वह सबसे निरालापन और सबसे निरालापन होनेसे अपने आपके स्वभावसे समस्त लोकालोकका ज्ञान करने वाला विकास और परम निजानन्दरस इसके अनन्त प्रकट हो जाता है। तो ये बाहरी चीजें हैं, दो चार दिनके समागममें आयी हैं, उनसे मोहरागद्वेष करके यह जीव अपने आपके क्षणको व्यर्थ खो रहा है। बाह्यमें जैसा जो परिणमता हो परिणमे, अपने आपमें अपने आपके अंतस्तत्त्वको देखें, उसका ही आश्रय करें तो अपना उद्धार है। तो यहाँ बतला रहे हैं कि आत्मा नानारूप है या वह एकरूप है? यह चिन्ता करना व्यर्थ है। मूलमें परमार्थसे समझ लें कि आत्मा एकस्वरूप है, एक चिन्मात्र है, बस उसकी दृष्टि उसका ज्ञान, उसमें रमण, यह बात तो बनेगी ही और ऐसी स्थिति बने बिना शान्तिका लाभ, मुक्तिका लाभ प्राप्त नहीं हो सकता,

इसलिए एक ही निर्णय करें कि इस एक अखण्ड चैतन्य स्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसी तो श्रद्धा होना और इस ही का ज्ञान बनाये रखना इस ही का रमण बनता है तो यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र के द्वारा ही साध्यकी सिद्धि होती है। अन्य प्रकार साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

२१४—शुद्धनयसे सहज स्वभावका निर्णय—

इस आत्माको सभी परिस्थितियोंमें केवल आत्माके प्रदेशोंमें ही इसके परिणमनको निरखा जाय, इसके सर्वस्वको देखा जाय तो यह कहलाता है शुद्ध एक आत्माका अवलोकन चाहे, कैसा ही आत्मा हो, जैसे कि कहा जाता है देखो आत्माने अपनेमें राग परिणाम किया है इस कथनमें एक शुद्ध द्रव्य की ही बात कही गई अर्थात् अकेले आत्माकी ही बात कही गई। शुद्धका अर्थ अध्यात्म प्रसंगमें केवल लिया जाता है। निर्मल पर्यायसे यहाँ मतलब नहीं, आत्माका तो एक आत्मा ही है। और स्वरूप दृष्टि से देखें तो वह अहेतुक है, अनादि अनन्त है, स्वतः सिद्ध है। इसका कारण कुछ नहीं होता। समस्त पर द्रव्योंसे निराला और अपने धर्ममें तन्मय ऐसा इस आत्मामें एकत्व है और जब इस प्रकार ज्ञानके रूपसे ही आत्माको निरखा जा रहा हो उस समयकी जो एक झलक है वहाँ स्वयं अंतस्तत्त्व दर्शनभूत हो जाता है। तो उस समयमें भी समस्त पर द्रव्योंसे निराला अपने धर्ममें ही तन्मय ऐसा एकपना है और जब इसके प्रसंगमें देह है, अथवा इन्द्रिय है, जिसके द्वारा जानन चल रहा है, उनमें तथ्य देखें तो इन्द्रियाँ पर हैं, उनसे निराला केवल एक आत्मतत्त्व ज्ञानानन्दस्वरूप यह अकेला ही विराज रहा है, वह ज्ञान द्वारा जानता है। जाननेमें पर द्रव्य आ रहे हैं, पर यहाँ शुद्धता देखो, केवलपना देखो तो पर द्रव्य से तो निराला है और निजमें जो परद्रव्यका सम्बंधी पाकर भाव बनता है, एक जानन बनता है उस जाननहार आत्मामें उस जानन परिणतिसे जाननरूप से यह उस समय तन्मय है। हर परिस्थितियोंमें एक आत्माको ही निरखो और जब स्वभावदृष्टिसे देखो तो आत्मामें केवल एक चैतन्य सहज भाव ही दृष्टिमें आ रहा है, ऐसे ही शुद्ध आत्मा चिन्मात्र, चिदानन्द, अंतस्तत्त्वका निरूपण करने वाला है, शुद्धनय। इस शुद्धनयके प्रयोगसे इस अंतस्तत्त्व की उपलब्धि होती है और शुद्ध पदार्थको जाना, उस चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वको देखा और देखते रहे एवं उसोमें रत रहे तो यह कहलाया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। अब व्यवहारमें देखो तो जब चारित्रमें कोई बढ़ता है तो चूंकि यह चारित्र एक बड़ा विशुद्ध रूप है और ऐसे होनेमें वासना वाले को बड़ी कठिनाई है। पूर्वकी वासनायें उछल उछल कर इसको ज्ञानदृष्टिसे च्युत करनेमें संलग्न हैं। तो उन सबसे निवृत्त होनेके लिए शुभोपयोग होता है। इस शुभोपयोगकी सामर्थ्यसे अशुभोपयोगका आक्रमण दूर होता है। और ज्ञान ज्योति है ही सो उस शुभोपयोगसे भी दूर होकर एक शुद्ध तत्त्वमें प्रयोग होता है। ऐसे इस शुद्ध आत्माकी उपलब्धि, शुद्ध आत्मामें ज्ञान और शुद्ध आत्मामें रमण, यह ही एक साध्यकी सिद्धिका उपाय है।

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया, अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं, न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

२१५—अनंत चैतन्य चिह्न अन्तस्तत्त्वका अनुभव करनेका संदेश—

यह जीव प्रति समय कुछ न कुछ अनुभव करता ही रहता है। अनुभव बिना इसका कोई क्षण व्यतीत ही नहीं होता, कोई भी जीव हो, अब यह अनुभव की विशेषता है कि कौन जीव किस तरह का अनुभव करे, कौन किस तरहका, पर अनुभव सब कर रहे हैं। परिणमते रहते हैं ना, तो यह ही अनुभवन कहलाता है। अनुभवन बिना दुःख नहीं होता, अनुभवन बिना सुख नहीं होता, अनुभवन बिना

शान्ति नहीं, अनुभवन बिना आनन्द नहीं। यह प्रतिक्षण अनुभवता है। अब यहाँ यह बात ढूँढ़ना है कि हम कैसा अनुभव करें कि शान्ति प्राप्त हो, आनन्द हो, संकटोंसे छूटें, उस अनुभवकी बात चल रही है। हम अनुभव करें इस अंतस्तत्त्वका याने खुद ही स्वतंत्र अपने आप सहज जैसा स्वरूपमें है वैसा अपने आपका अनुभव करें। निरखना है अपनेको अपना स्वरूप। अनन्तज्ञान ही जिसका परिचायक हैं, लक्षण है। यह आत्मा है ज्ञानघन। इस ज्ञानमें इतनी शक्ति है, इस ज्ञानमें इतनी कला है, इसका इतना महान विकास है कि लोकमें अलोकमें याने समस्त विश्व जो कुछ है, जो सत् है, सब कुछ ज्ञानमें आता है। देखिये—ज्ञान कहीं जाकर नहीं जानता। जैसे कुछ दालानकी चीजें जानना है तो यह ज्ञान उस दालानके भीतर जा जाकर चीजोंको नहीं जानता। उपचारसे लोग ऐसा कहते कि यह ज्ञान दालानमें पहुंच गया, पर वस्तुतः यह ज्ञान कहीं बाहर नहीं जाता, यह अपने ही प्रदेशोंमें रहता और अपनी ही जगह रहकर सब कुछ जानता है। यह ज्ञान सामनेके ही पदार्थको जाने सो बात नहीं, सामना होनेके कारण जाने सो बात नहीं है। हम आप पर एक आवरण है, और ऐसी एक कमजोर स्थिति है कि हम इन्द्रिय और मनकी सहायता बिना जान नहीं पाते, और चीज सामने है तो उसे जान पाते, यह एक परिस्थिति है मगर ज्ञानका यह स्वभाव नहीं कि चीज सामने हो तब ही जाने, चीज वर्तमानमें मौजूद हो उसे ही जाने ऐसा भी ज्ञानमें स्वभाव नहीं है। ज्ञानका तो स्वभाव है कि कोई वस्तु अगर है तो वह जाननेमें अवश्य आयगी। कोई वस्तु, वस्तु हो तो जाननेमें आयगा, है सो जाननेमें आयगा, कहीं भी हों, पीठ पीछे हों, किसी भी जगह हों। है अगर वस्तु तो जाननेमें आयगी, क्योंकि ज्ञानको देखा। ज्ञान ज्ञान ही तो है। ज्ञानके पीठ नहीं, पेट नहीं, पैर नहीं, इन्द्रिय नहीं, आकार नहीं, आवरण नहीं। ज्ञान तो ज्ञान है। ज्ञानका भीतरी स्वरूप देखो—एक ज्योति एक प्रकाशमय एक आत्मपदार्थ है। उस ज्ञानको फिर यह बिघ्न कैसे हो, यह नियंत्रण कैसे हो कि चीज सामने हो तब ही जाने। ज्ञानको सामना तो चारों ओर है। देहको भुलाकर, इस बुद्धिमें न सोचकर केवल ज्ञानस्वरूपको देखो तो भीतरमें तो यह ज्ञान ज्योतिस्वरूप आत्मा है, उसका क्या पीठ, क्या पेट, क्या आमना, क्या सामना। देहको देखकर ही तो लोग कहते हैं कि यह चीज पीठ पीछे रखी है, यह चीज मुखके आगे रखी है। देह है तभी तो आगे पीछे वाली बात कही जाती। आत्मामें तो यह बात न लगेगी। आत्मा तो जाज्वल्यमान ज्ञान ज्योति स्वरूप है। उसको तो सब कुछ सामना है। जैसे मिश्रीकी डली उसका क्या आगा, क्या पीछा। जैसे कई चीजें होती हैं ऐसी कि जिनमें या तो आगेके हिस्सेमें, रस नहीं रहता या पीछेके हिस्सेमें, जैसे गन्ना, ककड़ी आदि। तो जैसे इन चीजोंमें आगा पीछा हुआ करता है, देहमें तो आगा पीछा है ही, मगर एक आत्मतत्त्वमें, एक ज्ञान ज्योतिर्मय पदार्थमें कहाँ तो आगा है, कहाँ पीछा है। उसको तो सारा विश्व समक्ष है, सारा काल समक्ष है। ऐसा अनन्त ज्ञान-शक्ति रखने वाला यह आत्मतत्त्व है। उसका हम अनुभव करें।

२१६—आजीवन स्वभावकी आराधना का कर्तव्य—

इस अखण्ड आत्मामें देखो बीत क्या रही है? उम्र देखो दमादम गुजर रही, मरणके निकट पहुँच रहे हैं। अब हमको कौनसा काम करना चाहिए जिससे यह मानव जीवन सफल कहलाये? उस पर विशेष ध्यान दें और क्या करना चाहिए, क्या करते हैं? तो जब जिन्दगी बहुत हो जाती और सारे नटखट देख लिए जाते, हर तरहकी घटनायें सब आँखोंके आगे गुजर गईं तो यह निर्णय हो गया कि बाहरमें मेरे लिए सार कुछ नहीं रखा, कोई गृहस्थ हो तो, व्यापारी हो तो, या कोई किसी

भी लैन का हो, सबको यह अनुभव बनेगा कि बाहरमें कहीं भी मोह करनेसे, चित्त लगानेसे, उपयोग देनेसे इस मेरे आत्माके लिए सारभूत चीज कुछ न मिलेगी। बाहर तो कुछ सार मिलता नहीं। तो जरा एक अपने आपके स्वरूपका ही दर्शन करें, वहाँ सब कुछ मिलेगा। सब कुछ क्या मिलेगा? निराकुलता मिलेगी। निराकुलता हो सब कुछ है और अकुलता ही सारी दरिद्रता है। एक अपना सहज अंतस्तत्त्व जो एक ज्ञान ज्योति पुञ्ज है उसका अनुभव करें तो सब कुछ मिलेगा। मैं ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञानधन हूँ, उस अनन्त चैतन्य चिह्न इस परमार्थ पदार्थका अनुभव करें। यह बात कह रहे हैं, पर प्रारम्भमें हम क्या देखें, क्या समझें, किस तरह इस अखण्ड अंतस्तत्त्व तक आ सकें, उसके लिए व्यवहारनय उपकारी है। व्यवहारनयसे हम समझते हैं कि आत्मामें गुण हैं, पर्याय हैं, शक्तियाँ हैं, अवस्था है, और क्या-क्या गुण हैं, ज्ञान दर्शन, चारित्र, आनन्द। आत्माकी ऐसी खासियत परख करके आत्मा को पहिचाना है। किसे कहते आत्मा? जो जानता हो सो आत्मा। जानना एक ऐसा प्रधान चिह्न हैं कि जो आसानीसे सबकी समझमें आता है और इसीके बारेमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म बात भी योगी जनोंके द्वारा ध्येय होती है। कौन नहीं जानता कि यह जीव है मोटे रूपसे? कोई लड़का अगर भीटको लाठी मारे तो देखने वाला शायद कोई न मना करेगा कि ऐ लड़के तू इस बेचारी भीटको क्यों पीटता, पर यदि वह गधा कुत्ता आदि को लाठीसे मारे तो देखने वाले सभी लोग उसे मना करेंगे, क्योंकि सब लोग सुगमतासे जानते हैं कि यह जीव हैं। अब उस ही जीवके बारेमें हमको एक बहुत सहज निरपेक्ष विधिसे अंतस्तत्त्वमें चलकर अगर हम समझें तो आखिर समझना होगा वीतराग विज्ञानभाव। वीतराग भी न कहो आत्मस्वभावको। वीतराग तो प्रभु हैं, जिनका राग बीत गया। मगर उस ज्ञान स्वभावको देखें तो वीतराग नहीं, किन्तु अराग है। अराग और वीतरागमें फर्क है। स्वभाव है अराग और जब साधना बनती है तो उससे होता है जीव विराग। याने जीवको स्वरूपसे जब देखते हैं तो राग द्वेषादिक हैं ही नहीं। बीतराग का अर्थ है कि राग था अब दूर हो गया। अगर स्वरूपको देखते हैं तो वह अविकारी है। स्वरूपमें विकार नहीं है निर्विकार और विकारमें क्या अन्तर है? प्रभु निर्विकार है, याने किस दृष्टिसे हम देखते हैं? पर्याय दृष्टि से तो उस जीवमें विकार था, अब विकार न रहा, निकल गया और अविकार के मायने विकार नहीं।

२१७—परमात्म स्वरूपकी और आत्मस्वभावकी अविकारता—

परमात्म आरतीमें आप लोग रोज पढ़ते हैं—ॐ जय जय अविकारी, तो उसमें अविकारीकी उपासना है। अविकारी शब्द ऐसा है कि प्रभुमें भी घटा लो, साधु संतोंमें भी घटा लो। कहते ही हैं कि उसमें विकार नहीं रहा, और स्वभावमें घटाना हो तो स्वभाव स्वरूप विकारसे परे है, विकारी नहीं है। स्वरूप निर्विकार नहीं किन्तु अविकार है। स्वरूपको देखकर अगर निर्विकाररूपसे प्रशंसा करें तो वह स्वरूपकी निन्दा हैं। जैसे कोई पुरुष किसी मनुष्यसे कहे कि तुम्हारे पिताजी जेलसे मुक्त हो गए। जेलमें पहुंचे ही न थे मगर ऐसा कोई कह बैठे कि जेल से छूट गए तो वह बुरा मानता कि नहीं, क्योंकि जेलसे छूटनेका अर्थ है कि जेलमें पहले थे अब छूट गए। तो ऐसे ही निर्विकारका अर्थ है कि पहले विकार था अब दूर हो गया। यह पर्यायदृष्टिसे देखा कि यह विकारी है यह निर्विकार, मगर स्वभावदृष्टिसे देखें तो यह अंतस्तत्त्व न विकारी है, न निर्विकार, किन्तु अविकार है, विकारका वहाँ अभाव है, तो ऐसा अविकार यह ज्ञानानन्द अनन्त चैतन्य चिह्न उसका अनुभव करनेके लिए हम प्रारम्भमें कैसे वहां तक पहुँचनेका उपाय बनायें,। उसका इस छंदमें सर्वप्रथम निर्देश किया गया है।

किसी भी प्रकारसे जहाँ तीनपनेका प्रयोग किया है उस ही आत्माकी बात कह रहे हैं। व्यवहारसे हम वहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र निरखते हैं अथवा श्रद्धा ज्ञान चारित्र गुण निरखते हैं, उस श्रद्धान ज्ञान चारित्रसे हम आत्माकी पहिचान करते हैं। प्रत्येक जीवमें विश्वास है, उसका रूप व्यक्त हो या अव्यक्त। इस अन्तस्तत्त्वका सहारा लें, इसकी ओर बने रहें, विश्वास कहलायगा कि नहीं कि मुझको अन्तस्तत्त्वमें विश्वास है, शब्दोंसे न बोलें, उसका व्यक्त रूप न रखें, मगर चैतन्यका आश्रय तो किए हुए है, जो जिसका आलम्बन लेता है, समझना चाहिए कि विश्वास है। विश्वास बिना, श्रद्धा बिना कौन जीव है, और जानना सतत बना रहता है और चारित्र, रमण करना, प्रत्येक जीवकी आदत है कि कहीं न कहीं रमता रहे। भगवान कहाँ रम रहे? स्वरूपमें। अपने अनन्त आनन्दरसमें लीन हैं। अज्ञानी कहाँ रम रहा? विषयोंके साधनोंमें बाह्य पदार्थोंमें व निश्चयतः बाह्य पदार्थोंका ख्याल कर करके जो विकल्प बने उसमें रम रहा। तो सूझ, बूझ, रीझ ये जीवोंमें चल रहे हैं। श्रद्धा हुई, सूझ हुई। समझ गए, यह है तत्त्व, उसका ज्ञान कियाकि यह है बूझ। और रीझ गए, उसीमें लीन हुए। तो किसी भी प्रकार भी इस आत्मतत्त्वमें तीनपना प्राप्त हुआ और उससे समझ बनी, ऐसा है यह जीव, फिर भी अपनेमें एक स्वरूपसे चलित नहीं है।

२१८—एकको ही नानारूपमें देखनेकी कला—

एक होकर भी अनेक रूपमें देखनेको हमारी एक नयकला है। अग्नि किसे कहते? खाली अग्निकी बात कहो। दूसरी चीजका सम्बंध रखकर बात न बोलना, अग्नि नाम किसका? तो आप कहीं जलता हुआ कोयला उठाकर धर दोगे, कहीं जलती हुई लकड़ी उठाकर धर दोगे, कहीं जलता कंडा उठाकर धर दोगे और कहोगे कि अग्नि यह है। तो क्या कहीं गोल, लम्बा, चौड़ा इस तरहका आकार अग्निका होता है? अरे अग्नि इस लम्बा चौड़े गोल आदि आकारोंको नहीं कहते। अग्नि तो केवल एक दहन स्वभावको कहते हैं। जलन, ताप, , संताप। और देखो अग्नि कहीं भी दाह्य आकारके बिना नहीं रहती। अग्नि है, अग्निका स्वरूप है, जलन, ताप, गर्मी, दाहकपना, यह अग्नि का स्वरूप है, मगर दाहकपना किसका? जल रहे कोयले आदिको देखो तो कोयलेके आकार, कंडेके आकार, लकड़ीके आकार, यों नानाकार है। यह अग्नि ईंधनके आकारमें आ गई। वाह्य आकार बिना अग्नि रहती नहीं, मगर यह कोयलेकी अग्नि, यह तृणकी अग्नि, कंडेकी अग्नि ये भिन्न-भिन्न रूप नहीं हैं अग्निके। अग्नि तो एकरूप है, मगर अग्नि दाह किये जाने वाले पदार्थमें निष्ठ रहती है। दाह्यनिष्ठ होनेके कारण जैसे अग्निका परिचय करनेके लिए हम कई बातें कहते हैं और गुणप्रधानता से कहते हैं। जो जलाये सो अग्नि, जो प्रकाश करे सो अग्नि, जो भोजन पकाये सो अग्नि, ऐसा देखकर ऐसा कहते हैं, समझाते हैं। मगर, अग्नि मूलमें एकस्वरूप है। ऐसे ही आत्माके बारेमें परिचय कराते हैं, स्वभाव समझाते हैं, सब तरहकी बातें आती हैं, जो जाने सो आत्मा, जो देखे सो आत्मा, जो आनन्द पाये सो आत्मा, जिसमें विकल्प हो जाते है सो आत्मा। यों आत्माको समझनेकी अनेक बातें हैं, जहाँ जिसे शान्ति मिले सो आत्मा। यह मनुष्य, यह पशु, यह पक्षी यों आकारके रूपमें कहा, गुणके रूपमें कहा, उसके अनेक भेद प्रभेद है, पर आत्मा मूलमें सहज निरपेक्ष एक है, वह है एक ज्ञान ज्योति पुञ्ज। हम उसका निजी आकार क्या कहें? आकार बिना आत्मा रहता नहीं, और निजी आकार उसका कुछ नहीं। जैसे अग्नि आकार बिना नहीं, निजी आकार कुछ नहीं। उसका परिचय करायेंगे तो दहनस्वभावके रूपमें परिचय करायेंगे। आत्माका निजी आकार अपने आपके कारण

आकार क्या है सो बताओ ? रहता आकारमें है मगर उन आकारोंका कोई निमित्त है जिससे यह आकार है, कोई आधार है। स्वयं आत्माने अपना कोई आकार नहीं बनाया, इसीलिए तो कहते हैं निराकार निरञ्जन, अलख निरञ्जन। आप कहेंगे कि आकार तो बहुत है - पशुका आकार, पक्षीका आकार, कीड़ा मकोड़ेका आकार, मनुष्यका आकार आदि। अरे उस प्रकारका कर्मोदय है ऐसा शरीर मिला है। जैसा शरीर प्राप्त है उस आकारमें ये जीव प्रदेश फैल गए। यह ही बात सबकी है पक्षी मनुष्य देव आदि की।

२१९—अविकार निराकार सिद्ध भगवंतों में आकार का तथ्य—

आप कहेंगे कि सिद्ध भगवानके तो देह नहीं है, उनके कर्म नहीं, उनका जो आकार बना है उसे तो कह दो कि आत्माका यह निजी आकार है, अपने स्वरूपकी ओरसे आकार है। वैसे तो कहते हैं कि यद्यपि वह आकार अनन्तकाल तक रहेगा, स्थिर है, योगरहित हैं मगर उस आकारका कोई कारण है, तो भाई बात यह है कि जिस आकारमें यह जीव या मनुष्य था, मनुष्य ही तो मोक्ष गया तो जो अंतिम भव है, मनुष्यमें जिस आकारमें यह मनुष्य रह रहा था वहाँसे निर्वाण हुआ, मनुष्यभव छूटा तो दूसरा आकार बननेमें यह एक कठिनाई आ गई कि उस आकारसे छोटा बने तो कैसे बने, और उस आकारसे बड़ा बनें तो कैसे बनें ? जिस शरीरको तजकर वे निर्वाण प्राप्त करते हैं उस आकारमें ही जीव है जो वहाँसे मुक्त हो रहा, उससे कम हो जाय आकार तो उसका कारण तो कुछ नहीं, कर्म तो दूर हो गए। पहले जो आकार कम बढ़ लम्बे चौड़े आदिक होते थे वह कर्मोदय का निमित्त पाकर शरीरका आश्रय पाकर हुआ करते थे। जब कर्मरहित हुए, शरीर रहित हुए तो उस आकारसे कम होनेका कोई कारण न रहा, उस आकारसे बड़ा होनेका कोई कारण न रहा सो वही आकार रहा, पर जीवने अपनी ओरसे बिना कोई उपाधि निमित्त कोई बातके अपना कोई आकार पाया हो तो बताओ। इसीलिए उसको निराकार कहते हैं।

२२०—नाना रूपोंमें भी एकता—

आत्मा एकस्वरूप है, ज्ञायक स्वभाव है, चैतन्य स्वरूप है, उसको समझानेके लिए व्यवहार नयसे गुण समझते हैं और उसमें तीनपना समझा जाता है। तो किसी भी प्रकार बढ़ बढ़कर तत्त्वाभ्यास करके, समझ कर भेददृष्टिसे व्यवहारनयसे तीन रूपमें उस आत्माको समझा जिसमें विश्वास है वह आत्मा, जिसमें ज्ञान है वह आत्मा, जिसमें आचरण है, रमण है वह आत्मा। है एक ही आत्मा। उस एक ही आत्माकी ये कलायें हैं। जैसे कोई पुरुष संतोष कर रहा, ज्ञान कर रहा, आचरण कर रहा तो क्या वे तीन हो गए ? अरे उसकी त्रिरूपता बनी, ऐसे ही आत्मा एक है, उसकी एक त्रिरूपता बनी। समझा है भेदनयसे, व्यवहारनयसे। तो किसी प्रकार तीनपनेको प्राप्त है यह आत्मतत्त्व, मगर अपनी एकतासे गिरा हुआ नहीं होता है। ऐसी आत्म-ज्योति महती निर्मलतासे उठ रही है, जिसकी किरणें, जानन, जिस ज्ञानकी एक पहिचान उसकी उछाल, जो निरन्तर उछलता हुआ है, ज्ञान है, निरन्तर जाज्वल्यमान जानता हुआ प्रकाशमान रहता है। किसी भी समय उसका काम बंद हुआ क्या ? किसी समय द्रव्यमें परिणति दूर होती क्या ? अनन्त चैतन्य वाला जिसकी निर्मलता, जिसका विकास जिसका उछाल निरन्तर उठता रहता है, ऐसे उस अंतस्तत्त्वका हम अनुभव करें, मायने हम समझ लें कि मैं यह हूँ, मैं यह हूँ अन्दरमें ज्ञानस्वरूपको दृष्टिमें रखते हुए।

२२१—आत्म परिचयकी कृतार्थता—

जो निज को समझ ले कि मैं यह हूँ, वह बड़ा पूज्य पुरुष है, बहुत पवित्र आत्मा है, संसार संकटोंसे छूटने वाला, मोक्ष मार्गमें लगा हुआ है। भव्य जीव जानता कि मैं यह हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ ? तो इसका व्यावहारिक प्रभाव देखो—मैं अन्य कुछ नहीं हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसा अगर निर्णय बसा है तो लोग अगर गाली दें तो उसका उसे बुरा लगेगा क्या ? शरीरको माना कि यह मैं नहीं हूँ और शुद्ध चैतन्यस्वरूपको माना कि यह मैं हूँ, जो अमूर्त है तो उसके ऊपर उस गालीका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह जानता है कि यह तो एक अमूर्त चैतन्य चिह्न अंतस्तत्त्व है, उसे बुरा न लगेगा, यह मैं चैतन्यस्वरूप हूँ अन्य कुछ नहीं, ऐसी जो दृढ़ता है, ऐसा जो निर्णय है, यह निर्णय इस आत्माको पार कर देता है। इसी निर्णयके बलपर इसी ज्ञान और रमणके व्यापारसे जैसे कर्म कटते हैं, दूर होते हैं वैसे ही कर्म कटते हैं, कर्म दूर होते हैं और जो जो कुछ बात चाहिये, वह सब बात इन ही एक चैतन्य प्रभुकी उपासनाके प्रसादसे बन जाती है, तो ऐसा अपने आत्मस्वरूपका ध्यान बनायें और उसमें अनुभव करें कि यह मैं हूँ, देखो प्रयोगका फल है, गप्पका फल नहीं होता। अपने ज्ञानको इस तरह ढालें, ज्ञानमें अपने स्वभावको इस तरह लें और उस ही में यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करें और इससे अन्यथावादमें कभी भी भ्रम न करें, अगर ऐसी दृढ़ता है, भीतरमें ऐसा प्रयोग है तो उसके कर्म अवश्य कटेंगे, वह प्रभु अवश्य होगा, संसारके संकटोंसे सदाको छुटकारा पायगा। प्रयोग करें केवल गप्पसे कोई चीज नहीं मिलती और जो प्रयोग करने चलेगा उसके बाहरी बातोंसे उपेक्षा होगी। इसीको कहते कि उसने अपनेमें नियंत्रण किया। तो आया ना संयम, आया ना चारित्र। आत्मामें मग्न होनेका तरीका ही है संयम।

२२२—आत्मसंयमनके प्रयोगका अनुरोध—

अपनेमें आपका नियंत्रण होनेसे आत्मामें आत्माका अनुभव जगेगा। प्रयोग करें, प्रयोग करने में भी कुछ पराधीनता नहीं हैं जैसे लोग कहने लगते कि मेरे पास धन नहीं तो कैसे धर्म करूँ, ऐसी आधीनता धर्ममें नहीं है, क्योंकि धर्म तो अपने ज्ञानसे अपने आपमें अपने स्वभावका अनुभव करना बस यही प्रयोग है। हम ज्ञानको ऐसा प्रवर्तावें कि हमको यह ज्ञानस्वरूप दृष्टिमें आये और उसी रूप अपना अनुभव बनें। यों समझो जैसे कोई बाबूजी कलकत्ता जा रहे थे तो पासकी सेठानी आयीं। एक सेठानी बोली बाबूजी आप कलकत्तेसे हमारे मुन्नेको खेलनेका हवाई जहाज ले आना, जो बटन दबानेसे चलता। कोई सेठानी बोली कि बाबूजी हमारे मुन्नेको खेलनेका रेलका इंजन ले आना, जिसमें बटन दबा दो तो चलने लगता। यों किसी सेठानीने कुछ कहा किसीने कुछ। अब वहाँ एक गरीब बुढ़िया दो पैसे लेकर आयी और बोली—बाबूजी हमारे ये दो पैसे ले लो, जब आना तो कलकत्तासे हमारे मुन्नेके खेलनेके लिए मिट्टीका खिलौना ले आना। तो बाबूजी बोले—बुढ़िया माँ, मुन्ना तो तेरा ही खिलौना खेलेगा, बाकी सेठानियाँ तो केवल गप्प करके चली गईं। तो इसी तरह आत्मसंतोष होना आत्मतृप्ति होना, कर्म करना, मोक्षमार्गमें लगना ये सब बातें वही पायगा जो प्रयोग करेगा। संयम से रहे, ज्ञानको अपनेमें जोड़े, सब जीवोंको समान मानें, किसीसे घृणा न करें, अपनेमें अहंकार न रखें, मैं तो ज्ञानी हूँ, बाकी तो सब बेवकूफ हैं, यह भाव मिटे इतना प्रयोग करना पड़ेगा अपने आपको अपने अन्दर अपने स्वरूपको निहारनेमे इतना अपनेको विनयवान, होना होगा कि सब जीवोंमें एक रस अपनेको देख लेवे, कहीं किसीसे कोई मोह ममता नहीं हो। एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपको

निरखते हुए, ऐसा ज्ञानका प्रयोग बने, आत्माका अनुभव बने। आत्माका अनुभव केवल गप्पसे नहीं बन सकता। ये तो शब्द हैं, बोलनेमें आते हैं। नाटक खेलने वाले बालक भी तो इस तरहकी कला खेल लेते हैं, वे भी बड़े ऊँचे-ऊँचे कलात्मक ढंगसे शब्द बोल लेते हैं, तो मात्र शब्द बोल लेनेसे काम न चलेगा, बोल लिया कि चिदानन्दका निधान भगवान आत्मा, मगर ऐसा बोलने भरकी आदत बनी रही, केवल ऐसे रटे शब्द भर बोलते रहे तो उससे लाभ क्या। उपयोग करें भीतरमें, उपाय बने भीतरमें, और और जो बातें उपायकी होती हैं वे भगवान सर्वज्ञदेवकी ध्वनि परम्परासे चले आये हुए उपदेशका सब प्रताप है—भाई ऐसे चलो, एसे अष्टमूल गुणोंका पालन करो, पाँच प्रकारके पापोंका त्याग करो, अभक्ष्य न खावो, मिथ्यात्व न सेवो, आत्माको समझो, आत्मामें रमण करो। करना यह ही तो है द्वैतसे हटना और अद्वैतमें आना। अपने आपके स्वरूपमें मग्न होना। प्रयोग करें और प्रयोग करके इस तरह जानें कि यह तीन रूप है—दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप, मगर एकस्वरूपता उसने नहीं छोड़ी, जो स्वरूप एक चैतन्यरूप है उस ही रूप अपनेको अनुभव करो। ऐसा किए बिना साध्यकी सिद्धि कभी हो नहीं सकती।

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

२२२—सर्व उपायोंसे भेदविज्ञानकी लभ्यता—

जो भव्य जीव किस ही प्रकारसे भेदविज्ञानमूलक, अचलित आत्मानुभूतिको प्राप्त करते हैं वे सर्व कुछ जानकर याने अनन्तज्ञानी बनकर वे दर्पणकी तरह स्पष्ट अनन्तकाल तक अविकार रहा करते हैं। यहाँ बताया है कि आत्मानुभव जो होता है वह भेदविज्ञानमूलक होता है, याने प्रथम भेद-विज्ञान प्राप्त करें, प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपसे है अतएव किसीका अन्य किसीमें प्रवेश नहीं है, किसीका किसी अन्यसे सम्बन्ध नहीं। प्रत्येकमें अन्य सबका अत्यन्ताभाव है। प्रत्येक पदार्थका, एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अत्यन्ताभाव है, तभी तो वे आज तक है। अगर कोई पदार्थ किसी पदार्थसे मिल सकता होता तो यह उसमें मिल गया वह इसमें मिल गया फिर यहाँ कुछ न दिखाई देता, सारा जगत शून्य हो जाता। सब पदार्थ अब तक बने हैं तो यह एक प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ अपने रूपसे सत् है, पर रूपसे असत्। बस यही कुञ्जी सब जगह लगाते जावो, भेदविज्ञान बढ़ता जायगा। ये बाहर पड़े हुए पदार्थ क्षेत्रमें भी बाहर और अन्य सबसे भी बाहर और घरमें रहने वाले परिजन या धन वैभव, ये भी बाहरी क्षेत्रसे भी अलग हैं, अन्य हैं और चतुष्टयसे तो अन्य हैं ही और अपने साथ यह हुआ बँधा हुआ शरीर यह भी स्वरूपदृष्टिसे मुझसे अन्य है। मैं जीव हूँ, शरीर अजीव है। मैं अपने स्वरूपसे हूँ, देह अपने पौद्गलिक स्वरूपसे है, यह भेद जाने तब आत्मानुभवका पात्र होता है, और जिनके यह भेदविज्ञान नहीं जगा उनकी क्या स्थिति होती है। वे, अन्यकी बात कहें तो जरा अत्यन्त मूढ़ताकी बात होगी। यों कहना कि देखो ऐसे अज्ञानी पड़े कि जो मकानको अपना मानते कि मैं एकमेक हूँ, इसकी चर्चा ही न करना चाहिए—क्योंकि यह तो इतने अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं, जो आबाल गोपालके समझमें आ रहे, वे तो अत्यन्त भिन्न हैं ही। मगर हम, इस समय यह है क्या ? यह तीन पदार्थोंका समूह है, यह पिण्ड, यह पर्याय। कौनसी वे तीन चीजें हैं ? शरीर, कर्म और जीव। हम आप सबमें ये तीन बातें हैं जो एक क्षेत्रावगाह है, बंधनबद्ध है। हम कहीं जायेंगे तो ये तीनों बैठे हैं तो तीनों बैठे हैं। अभी आपसे कहें कि देखो तुम शरीर तो नहीं हो ना ? सो शरीरको तो वहीं

पड़ा रहने दो, आप यहाँ जरा खिसककर आजाइये। तो आप आ नहीं पाते, ऐसा बन्धन है। फिर भी समझें कि यहाँ तीन जातिके पदार्थ हैं। एकके स्वरूपका दूसरेमें अत्यन्ताभाव है। मैं जीव हूँ, देह पौद्गलिक है, कर्म पौद्गलिक है।

२२४—अज्ञानीकी देहात्मबुद्धि—

अज्ञानी जीव ऐसा भी नहीं मान पाता कि जो यह देह है सो मैं हूँ। वह तो देहात्मबुद्धि करता। वह इतना भी भान नहीं रखता कि यह देह है और यह मैं हूँ। देखो इसमें भी अज्ञानमें कमी हो जाती है। कोई ऐसा कहे कि यह तो देह है और यह मैं हूँ तो उसका पूरा अज्ञान न कहलायगा, क्योंकि उसने कबूल कर लिया कि यह देह है और मैं कुछ हूँ। इसमें पूर्ण अज्ञान नहीं कहलायगा। जो यह देह है सो मैं हूँ, ऐसा न कहकर देहमें ही मैं का अनुभव करे। यहाँ है अज्ञान सारा। जैसे कोई कहता है कि मकान मेरा है तो इसमें कुछ बड़ा अज्ञान नहीं है। क्योंकि उसने समझा कि मकान मकान है और मैं मैं हूँ। मगर कोई मकानमें ही ऐसा अनुभव करे कि मैं मकान हूँ तो यह सबसे बड़ा अज्ञान है। मगर ऐसा तो कोई नहीं करता। सबके प्रकाश चल रहा। मगर यहाँ मूलमें देखो देहमें अज्ञानीकी ऐसी बुद्धि रहती है। यह देह मैं, ऐसा नहीं कहता योंही इससे थोड़ा अज्ञानमें कमी आ जायगी, सो ऐसा नहीं कहता अज्ञानी। किन्तु जो देह है सो ही हूँ ऐसा मानता है। यह तो ज्ञानीकी भाषामें कह रहे है कि अज्ञानी ऐसा मानता है कि जो देह है सो मैं हूँ। यह ज्ञानीकी भाषा है अज्ञानी की नहीं कि जो ऐसा सोचता है अज्ञानी कि जो देह है सो मैं हूँ, वह इस ही का अनुभव करता है देहका अलग भान नहीं। जैसे उदाहरण लो—एक घड़ा बना तो घड़ेका आकार होता है कम्बुग्रीवाकार। याने नीचे कम चौड़ा, बीचमें ज्यादह चौड़ा और ऊपर फिर कम चौड़ा, इस प्रकारका आकार होता है घड़ेका। तो अब जो आकार है, जो रूप है उस ही को निरखकर जैसे हम कहते घड़ा। ऐसा तो नहीं कहते कि घड़ेमें यह आकार आ गया, घड़ेमें यह रूप आ गया? नहीं। जो रूपसमुदाय है जो आकार है उसीको जैसे हम घड़ा बोलते है वैसे ही अज्ञानी जन इस देहको आत्मा बोलते हैं। पर कोई ऐसा समझकर नहीं बोलता कि यह देह है और यह मैं हूँ, इसमें अंधकार पूरा नहीं आया। अंधकार यहाँ बस रहा है कि जैसे ज्ञानी जन ज्ञानमात्र स्वरूपमें मैं हूँ ऐसा अनुभव करते हैं ऐसे ही अज्ञानीजन इस देहमें मैं का अनुभव करते हैं। देहमें और आत्मामें एकत्वकी बुद्धि तन्मयताकी बुद्धि रखते हैं वे जीव आत्माको जानेंगे क्या? आत्माका अनुभव कर सकेंगे क्या?

२२५—भेदविज्ञानमूलक आत्मानुभवका कल्याणार्थीका सर्वप्रथम कर्तव्य—

सर्वप्रथम कर्तव्य यह कह रहे कि किसी भी प्रकार भेदविज्ञान करना चाहिए। तत्त्वाभ्यास करके, पढ़कर, उपदेश सुनकर, मनन करके भेदविज्ञानका काम कर लेना चाहिए। यहाँ भी तो लोग जिस कामको जरूरी समझते हैं उसे पूरे तौरसे पूरा करनेका प्रयास करते हैं। तो एक आत्मतत्त्वको जानने के लिए हमें चारों ओरसे प्रयास करना चाहिये। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश आदिक करके आत्मतत्त्वको जान लें। देखो ज्ञानको संकुचित बनानेका निर्णय अभीसे न रखें कि हमको तो बस आत्माकी बात जानना है, और कुछ नहीं समझना। न कर्मोंका स्वरूप जानना, उसमें न गुणस्थान मार्गणायें समझना। सो प्रमाद न करें इन्हें समझनेसे इस आत्माकी समझ और अधिक बनती है तथा जो इनको भलीभाँति नहीं समझता वह आत्माको नहीं समझता। आपका परिचय बढ़िया कब होता जब, जान जायें कि आपका अमुक नाम है, अमुक जगहके हैं, अमुक परिवारके हैं—जब हम सब ओरसे परिचय करते

तो हम आपका पूरा परिचय पा लेते हैं और भीतरी परिचय भी पा लेते हैं, ऐसे ही आत्माकी जब सब बात समझमें आयगी कि आत्माके साथ इस शरीरका क्या सम्बंध बन रहा, कर्मका कितना बंधत है, एक साधारण तौरसे कह दिया कि आत्मा कर्मसे बँधा है। और विशेष ढंगसे समझना कि जीवमें कार्माण वर्गणायें हैं, शरीर पौद्गलिक चीज है, कर्ममें प्रकृति स्थिति, प्रदेश, अनुभागकी परिणति आ जाना यह उनका एक काम है। और वह कैसा अनुभाग होता है, उसका उदय होता है तो कर्ममें क्या बात होती है, किस तरहकी स्थिति होती है और उसका सन्निधान पाकर जीवमें क्या नैमित्तिक दशा होती है, यह सब परिचय जब होता है तो आत्मा और अनात्माका बहुत विशद परिचय होता है। षन विभावोंसे उपेक्षा होती है। औपाधिकभाव है। सर्व परिचयके कारण अनात्मतत्त्वसे हटकर आत्मतत्त्वमें लगना यह सब शिक्षा मिलती है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सभीका यही उपदेश है कि अनात्मतत्त्वसे हटकर आत्मतत्त्वमें उपयुक्त होना। हटना और लगना ये दो बातें करना है। विभावोंसे हटना और स्वभावमें लगना। तो देखो लगनेकी कुञ्जी है निरखना आश्रय करना। और हटनेकी कुञ्जी है असारता समझना। जो पुरुष विभावोंको अपनी चीज न समझेगा, विभावोंको परभाव समझेगा, आत्मासे पृथक चीज समझेगा लावारिस समझेगा, पौद्गलिक चीज समझेगा, वह इन विभावोंको असार जानकर उनकी अपेक्षा कर देगा, और स्वभावको अपनी चीज समझकर उसमें लगनेका काम करेगा। हटना और लगना ये दो काम पड़े हैं। विभावसे हटना, स्वभाव में लगना। यह बात कब बनेगी जब भेदविज्ञान प्रकट होगा। तो भेदविज्ञानसे क्य, क्या क्या समझना? जितने पर मत् हैं जितने पर पदार्थ हैं उनसे तो निराला हूँ ही मगर परपदार्थका सन्निधान पाकर आत्मामें जो परिणति बनती है उस परिणतिसे भी मैं निराला हूँ। किसका लक्ष्य किया तब समझा कि मैं निराला हूँ? एक निस्पेक्ष सहज चैतन्यस्वरूपका। बस वह मैं हूँ, इसके अतिरिक्त जो हममें अन्य भाव आते है, परभाव आते हैं, परभाव होते हैं वे मैं नहीं हूँ। भेदविज्ञान करें। सार बात आत्मानुभव है।

२२६—कषायोंकी मन्दताका प्रभाव—

आत्मानुभवके लिए कषायोंका बलिदान करना आवश्यक है? देखो भेदकषाय रहेंगे तो उसका प्रताप यह होगा कि अनन्तानुबंधी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, जो सम्यक्त्व घाती कर्म प्रकृतियाँ है उनका उत्पादान, क्षय, क्षयोपशमकी अवस्था होती है। आखिर कर्म और जीव दोनों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। आत्माके के मंदकषाय तत्वाभ्यास आदिकका निमित्त पाकर ऐसे सद्भावोंका निमित्त पाकर कर्मोंमें उपशम आदिक अवस्था बनती है और कर्मोंका उपशम आदिक अवस्थाका निमित्त पाकर जीवमें सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। आखिर कोई एक ओरसे निमित्तनैमित्तिक नहीं है, यह कर्मकी ओरसे ही है इतना ही नहीं और जीवकी ओरसे भी है अन्यथा कर्मक्षय होता है इसका क्या कारण है सो बताओ? इसलिए कोई ऐसा प्रमाद करे कि हमें कषायमंद करनेसे क्या फायदा? त्याग करनेसे क्या फायदा? व्रत उपवास करनेसे क्या फायदा? सम्यक्त्व होगा। तो अपने आप संयम चारित्र आदि हो बैठेगा। इनका नंबर तो बादमें आयगा, ऐसा सोचकर प्रमाद करें तो सम्यत्व होना भी मुश्किल हो जायगा क्योंकि सम्यक्त्वके निमित्त है ७ प्रकृतियोंके उपक्षम, क्षय, क्षयोपशम। उनका निमित्त है तत्वाभ्यास करना, धर्मवात्सल्य करना, विनय करना आंदिक जो सद्भाव है वह कर्मकी शान्तातका कारण होता है, उन कारणोंको तो कर दिया अलग सोच डाला जो होना

होगा सो हो लेगा इससे फायदा क्या है, तो बताओ शुरूआत कहाँसे करे फायदा सबसे है ? हाँ किसी के अज्ञान है, मिथ्यात्व है अव्वल तो कोई जानता नहीं जैसे बड़े बड़े मुनियोंको कभी वे बड़ा तपश्चरण भी करते पर कहो उनके सूक्ष्म मिथ्यात्व रह जाय, वे तक भी नहीं जानते' तो एक तो इसका पता नहीं, लेकिन अज्ञान भी हो, मिथ्यात्व भी हो और कोई मंद कषाय करे, व्रतपालन करे, कुछ त्याग वृत्ति आये, इसके बिना गुजारा किसीका नहीं होता, तो उसमें मंद कषाय होनेसे उसे फल तो कुछ मिलेगा। तत्काल फल तो यह है कि पुण्यबंध होता, उसको अच्छी गति मिलती। हाँ मोक्षमार्ग नहीं मिलता, पर धर्ममार्गमें लगनेका अवसर तो मिलता। तो शुभमें अशुभकी अपेक्षा नुकसानहीं पड़ता।

२२७—व्रत संयमके पालनका प्रभाव—

कोई कहे कि जो व्रत पाले सो अज्ञानी है, ऐसी बात चित्तमें न रखना। जिससे जितना व्रत संयम बने सो करे। हाँ अगर कोई अज्ञान अवस्थामें करता है तो उसके मोक्षमार्गकी बात तो न बनेगी, मगर उसके वे व्रत, तप, संयम काममें न आयें सो बात नहीं। मानो एक अच्छे कुलमें उत्पन्न हुआ पुण्यके प्रतापसे और अच्छे कुलमें धर्मका बातावरण मिला तो आज मोक्ष मार्गका लाभ नहीं है, पर आगे तो हो जायगा, और उसका जो मंद कषाय रूप परिणाम है उससे उसे तत्काल संतोष होता। जो अपनी कुल परम्परा है, समय समयपर व्रत विशेष करना, त्याग करना, अष्ट मूल गुण धारण करना, सप्त व्यसनोंका त्याग करना, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापोंका त्याग करना, इन बातोंमें यह न समझें कि व्यवहारकी बातें हैं इसलिए झूठ है। या जब सम्यक्त्व नहीं है तब व्रत करना पाप है, व्यर्थ है, झूठ है, ऐसी बात चित्तमें न लायें। जितना बने करें, भीतरमें तत्त्वाभ्यास करके आत्मा और अनात्मा के बोधका उद्यम तो करना ही है और बाहरमें, अपने शान्तिपथके पथिक श्रावकजन अष्टमूल गुणमें बढ़ें। सप्तव्यसनका त्याग, रात्रिभोजनका त्याग, गुरुजनोंके प्रति विनयका भाव, उनसे घृणा न करना, उनके प्रति भीतरमें प्रमोद बनाना, जैसे बने उन गुरुजनोंकी सेवा आदिक करना ये सब व्यवहार धर्मके काम हैं। इन व्यवहारधर्मके कामोंमें कोई लगा रहेगा तो वह कभी अपने हितका अवसर तो पा लेगा। जैसे हम आज कुछ जानकार हुए इस निश्चय तत्त्वके समझने वाले हुए हैं, आत्माका निरपेक्ष सहज स्वरूप क्या है, तो यह स्थिति आप बताओ क्या जन्म होते ही पा ली थी ? अरे क्या बचपन में माता पिताके साथ मंदिरमें न आते थे ? क्या माता पिता जैसा विनय न करते थे। प्रभुके समक्ष, क्या हम आप बचपनमें माता पिताकी नकल न करते थे ? धीरे धीरे बड़े हुए, कुछ विशेष ज्ञान बढ़ा, फिर और विशेष ज्ञान बढ़ा। आज कोई पंडित हुआ, त्यागी हुआ, ज्ञानी हुआ, जिसने जितना ज्ञान पाया वह बचपनसे ही सीखते सीखते आज इस स्थितिमें आया ना। तो ऐसे ही सबको रीति बताओ, पाप त्यागो, अपने आत्माका स्वरूप पहिचानो, अन्तस्तत्त्व पहिचानकर फिर आगे मोक्षमार्गका कार्य करो, जिसमें जीवनकी सफलता है।

२३०—आत्मानुभवसे दुर्लभ नरपर्यायके क्षणोंकी सफलता—

यहाँ आचार्यदेव कहते है कि किसी भी प्रकार हो, आत्मानुभूति प्राप्त कर लें। यह आवश्यक है कि यह निर्णय बनावें कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब अत्यन्त अन्य सबसे पृथक् हैं। जीव कितने हैं ? अनन्तानन्त। पुद्गल अणु कितने हैं ? अनन्तानन्त। धर्म द्रव्य कितने हैं ? एक, जिसको अन्य दार्शनिकोंने पहिचान ही नहीं पाया कि धर्म द्रव्य क्या होता। अधर्म द्रव्य एक। काल द्रव्य असंख्यात। आकाशद्रव्य ? एक। इन सबमें एक द्रव्य चाहे सजातीय हो चाहे विजातीय हो, याने एक जीव पुद्गल

आदिक समस्त द्रव्योंसे भिन्न है, प्रत्येक परमाणु अन्य सबसे भिन्न हैं, अस्तित्व उसका सबसे निराला है। प्रत्येक परमाणु जीवादिक समस्त पदार्थोंसे न्यारा है। जो सत् है वह अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नहीं है। जब ऐसी बात है तब यह बुद्धि क्यों लगाते कि हमने किया। एक परमाणुका दूसरा है क्या कुछ ? एक परमाणुका जीवादिक है क्या कुछ ? एक जीवका अन्य कोई है क्या ? एकका दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसी बात दृष्टिमें आये तो वह ज्ञानप्रकाश है और वह सम्यग्ज्ञान प्रकाशका विकास है, मैं जीव हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, इसीको सोचें, तो अन्य सब कुछ भूल जायेंगे। मैं देह नहीं हूँ, मैं ज्ञानमात्र, ज्ञानघन आनन्दस्वरूप हूँ। किसीने क्या उसको पकड़ा ? क्या इसको कोई देख सकता है ? क्या इसका कोई नाम है। देखो दिखनेमें यह आता नहीं, नाम इसका है नहीं, और नाम भी इसका है तो वह नाम है जो सबका नाम है। इसका अलग करके नाम नहीं है। तो भला जिसका कुछ अलगसे नाम नहीं है, जो दिखता नहीं है इस मेरेका कोई दूसरा पदार्थ क्या बिगाड़ करेगा ? दूसरा जीव क्या बिगाड़ करेगा ? बिगाड़ तो हम अपने आप अपना करते हैं, क्योंकि दूसरे लोग मुझे देखते नहीं और मुझे जानते नहीं। तो दूसरेसे मेरेमें क्या बिगाड़ हो सकता ? बिगाड़ होता है खुदकी कल्पनामें। जान लिया, अरे इतने लोगोंके बीच मुझे अमुकने यों कह डाला, देखो उसकी दृष्टि सब ओर भ्रान्त बन गई। इन लोगोंने, इनके बीचमें, मुझको ? न वे लोग इसे पहिचानते, न इन लोगोंके बीचमें उनकी पहिचान न अपनेकी पहिचान, और क्या कह दिया, न उसकी पहिचान। वस्तुकी सही पहिचान कुछ है नहीं और घबराहट सारी बन रही। जब जान लिया जाय कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपसे सत् हैं, किसीका किसीसे सम्बन्ध नहीं, ऐसा जो ईमानदारीसे जाने, अभीसे पक्षको छोड़े, वास्तविक मैं में मैं का ही अनुभव करे और उस अंतस्तत्वके, उस मैं के विकासमें जो लगें उन्हें इस ही आत्मत्वके नातेसे देखना चाहिये और जिसने उस आत्मस्वरूपका विकास किया है वह आत्मत्वके नातेसे उस विकासमें भक्ति करेगा।

२२९—आत्मत्वके नातेसे आत्मज्ञकी देव गुरुमें भक्ति—

आत्मत्वके नातेसे है आत्मविकास करने वालेकी प्रभुमें भक्ति। इस नातेसे पंच परमेष्ठियोंका आदर है न कि हमने जिसे मान लिया, हमारा तो वह है और कोई नहीं। इस नातेसे जो चलता है उसने अपनेको कुछ अनुभवा हीं नहीं और न वह अपने सहज स्वरूपके अनुभवको कर सकता है। आत्मत्वका नाता देखो, व्यक्तित्वका नहीं। णमोकार मन्त्रमें व्यक्तिको नमस्कार नहीं है, णमोकार मन्त्रमें गुणको नमस्कार है, आत्मविकासको नमस्कार है। तो आत्मविकासके नातेसे अपना धर्ममें कदम बढ़ाइये धर्म ध्यान बढ़ावें, व्यक्तित्वके नातेसे नहीं, तब ही हम आत्मानुभवके पात्र बन सकते।

२३०—आत्मज्ञताके अभावमें नरजीवनकी सफलता—

इस दुर्लभ जीवनमें यदि आत्मानुभवकी पात्रता न बन सकी, आत्मानुभव न बन सका तो यहाँ भी कल्पित स्वजनोंके प्रति जो सब भवोंमें करते आ रहे थे उसीअनर्थतामें यह भव भी व्यर्थ गमा दिया जायगा। जैसे एक दृष्टान्तमें कहा है कि कोई एक अंधा सिरका खुजैला चला अपनी आजीविका चलानेके उद्देश्यसे एक नगरकी ओर। वह नगर चारों ओर कोटसे घिरा हुआ था। उसमें कोई दो या चार दरवाजे थे, जिनसे उस नगरके अन्दर प्रवेश हुआ जाता था। तो वह अंधा कोटकी दीवाल पकड़ कर उसके किनारे किनारे चलता जा रहा था। वह जानता था कि जब हमें फाटक मिल जायगा तो इस नगरमें प्रवेश करके अपनी आजीविका चलायेंगे। पर हुआ क्या कि वह पैरोंसे तो बराबर चलता

जाता, चलना बंद नहीं करता, पर ज्योंही दरवाजा आता त्योंही वह सिरकी खाज खुजाने लगता। चलना बराबर जारी रखता। आखिर दरवाजा निकल जाता। वह सिरका खुजैला अंधा नगरके अंदर प्रवेश न कर सका। ठीक ऐसी ही दशा इन मोही अज्ञानी जनोंकी है। इनके विषय और कषायोंकी खाज लगी है। ये खाज खुजाने वाले लोग जब खाज खुजाते हैं तो उन्हें ऐसा लगता कि दुनियाका सारा आनन्द इस खाज खुजानेमें है, वह एकतान होकर कुछ आनन्द विभोरसा होता हुआ खाज खुजाता है और जैसे ही खाज खुजा चुके तो उसके बाद बड़ी वेदना होती है। तो जैसे उस बेदना भरी खाजके खुजानेमें भी लोग बड़ा मौज मानते ऐसे ही इन विषय भोगोंकी खाजको खुजानेमें भी ये बड़ा मौज मानते, पर ये विषय कषाय भोगनेके बाद फिर क्या होती है इस जीवकी दशा सो तो विचारो। बड़ी खराब दशा हो जाती है सो सब जानते हैं। तो यह जीव जैसे विषय कषायोंकी खाज खुजाता आया अनादिकालसे, वही खाज इस भवमें भी खुजाया, निष्पक्ष न हो सका। आत्मत्वका नाता न रख सका अपने चित्तमें और देखिये कुछ धर्मका वेश रखकर भी केवल एक व्यक्तित्वका ही पक्ष रखा तो वह आत्मानुभवका पात्र नहीं है, नहीं है, नहीं है। क्योंकि भीतरमें एक शल्य लगा रखो वह शल्य आत्मानुभव नहीं होने देती। उस शल्यको मिटावें, आत्मस्वरूपको देखें।

२३१—सहज परमात्मतत्त्वके नातेका प्रसार—

भैया ! आत्मत्वके ही नातेसे जगतके जीवोंको देखें। पंच परमेष्ठीके पदोंका आधार क्या है, जिसने आत्मविकास इतना किया कि अरहंत हुए इतना किया कि मुनि, इतना किया कि सिद्धपद को प्राप्त किया। इस तरह आत्मतत्त्वके विकासके नातेसे पंचपरमेष्ठीकी भक्ति जगे और समस्त प्राणियोंमें मैत्रीभाव जगे तो वह प्राणी आत्मानुभव कर सकता है। इसके लिए जरूरी है कि प्रत्येक पदार्थका सही स्वरूप जानें, भेदविज्ञान उत्पन्न करें, उसके आधारपर फिर अभेद आत्माका अनुभव करें, आत्मानुभवकी प्राप्ति होगी। उस आत्मानुभव का क्या स्वरूप है ? अधिक नहीं कहा जा सकता। वह तो एक अनुभवककी चीज है। अगर कुछ शब्दोंमें कहें तो इतना कह सकते कि वह एक निराकुल, निर्विकल्प ज्ञानानुभवकी स्थिति है। उसको जो लोग किसी प्रकार प्राप्त कर लेते हैं वे स्वभावतः ही, ऐसे सदा निर्विकार रहते, और उनका स्वभाव क्या बन जाता है कि परमात्मतत्वकी स्थितिमें समस्त ज्ञेय, तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिफलनमें निमग्न हो गए मानो अनन्त पदार्थ, ऐसा उनका स्वभाव चल रहा। परमात्मा उस स्वभावरूप रहता है फिर भी दर्पणमें जैसे कितने ही प्रतिबिम्ब आयें पर दर्पण गंदा नहीं बनता। दर्पणमें कीचड़, आग, धूल, रंग आदि सबके फोटो आ रहे इतने फोटो आनेपर भी दर्पण अपने स्वच्छ स्वभावको नहीं तजता। वह दर्पण सारे प्रतिविम्ब होनेपर भी निर्विकार है इसी प्रकार जगतमें परमात्मामें सब पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं याने सबको जान रहे हैं, ज्ञेयाकार परिणमन चल रहा है फिर भी वे अविकार हैं, क्योंकि मोहकी वहाँ सम्भावना नहीं है, उससे वे दूर हैं इसलिए वे निर्विकार हैं।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलोढं, रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

२३२—अनादिसे अज्ञानवशीभूत जीवका मोहास्वादमें रमण—

इस जीवने जन्मसे, जन्मसे ही क्या, जबसे जीवका जन्म हुआ, क्या कभी जन्म हुआ ? नहीं। जबसे जीवका सत्त्व है। क्या कभी सत्त्व हुआ ? नहीं। अनादिसे ही सत्त्व है। तो इस जीवने अनादि

से ही मोहका स्वाद लिया। क्या कर रहा यह ? पर्याय पर्यायमें मोहका ही स्वाद लिया। पञ्चेन्द्रियके विषयोंका सेवन, वहाँ भी मोहयुक्त होकर सेवन किया। यह भी न जान पाया कि कोई भी जीव पर पदार्थोंका सेवन कर ही नहीं सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कभी अनुभव करता ही नहीं। हाँ इस समय एक बद्धदशा है और इस समय जो एक परिस्थिति बन गई है कि हम इन्द्रियोंसे इन खिड़कियोंसे ही जान सकते हैं, ऐसी ही हालत है कि इन्द्रिय द्वारा बाह्य पदार्थोंके रसस्वादका ज्ञान किया जा रहा है, बस उस स्वादमें, उस विषयमें इसको मोह है। यह ही मैं हूँ, उससे पृथक् नहीं मानता। ऐसा यह अपना ही विभाव चखता चला आया है। बाह्य पदार्थोंको तो यह परख नहीं सकता किन्तु अपने ही विभावका स्वाद लेता आया है, मौज लेता आया है। ऐसी इस जीवकी दशा आज भी है। थोड़ा बहुत धर्मकी बात भी सोच लिया तो उस धर्मके प्रसंगमें भी मोहका स्वाद लिया जा रहा है। इस विढंगी रीतिसे संसारमें भ्रमण करते चले आये हैं। तो सबसे भिन्न ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व है, यह ही मेरे लिए आराध्य है, यह ध्यानमें रखें और उस अंतस्तत्त्वकी जो जो भावना बनाये, साधना बनाये वह वह मेरे लिए साधने योग्य है ऐसा ही निश्चय करें। कभी इस जीवकी भावना भी हो कि मुझे कल्याण चाहिये तो वहाँ भी समीचीन तरीकेसे नहीं चल रहा जीव। कभी इस मजहबमें गया, कभी इस पार्टीमें गया, बस वही मेरा आराध्य है, वही मेरा धर्म है यह दुराग्रह रहा। अंतस्तत्त्व ही मेरे लिए आराध्य है यह बात खतम हो गई। अंतस्तत्त्वका अर्थ है सहज निरपेक्ष निज स्वभाव। सो अंतस्तत्त्वका विकास करने वाला जो आश्रय है उसकी दृष्टि खतम हो गई, क्योंकि जहाँ पक्ष है, किसी पक्षसे मोह है वहाँ अंतस्तत्त्वकी सुध नहीं होती। फिर वह द्वैत क्यों हुआ ? कोई घृणाके योग्य है, कोई पूजनेके योग्य है, कोई इष्ट हैं, कोई अनिष्ट है। इसे कहते हैं व्यावहारिक औपचारिक। इस मुद्रा में रहने वालेको द्वैत बुद्धि क्यों जगी ? मोहका स्वाद लिया जा रहा है, इसी तरह अन्य जीव जिनको आत्माकी बात ही नहीं मालूम, जिन्होंने धर्मकी बात ही नहीं सुना वे मोह मोहमें ही सने हैं। इस जीवने अब तक किया क्या ? अनादिकालसे एक मोहका ही स्वाद लिया। मोहको ही चाटता रहा। लीढ शब्द लीड् धातुसे बनता है और लीढ शब्दका अर्थ बताया गया चाटना। आज तक इस जीवने ऐसा ही किया। आचार्य देव कहते हैं अरे भाई इस मोहके चाटनेका ही स्वाद अब तक तू लेता रहा, पर बता तुझे अब तक शान्ति मिली कि नहीं। अरे इस मोहके स्वादमें तो कल्पित सुख ही मानता रहा। इसको वास्तविक सुख मिले तो फिर दुःखके उपभोगकी चेष्टा ही न हो। मगर यह तो एक कल्पित सुख जो इस समय की परिणति है उसकी ही बार बार ये वासना बनाते हैं, मोहका स्वाद लेते हैं, बस उसीका स्वाद लेते हैं। इस मोहके स्वादमें कुछ सार नहीं, स्वाद तो उस ज्ञानका लेना चाहिये जो ज्ञानके रसिक पुरुषोंको रुचता है। अन्य जीवोंको जिन्हें आत्माके प्रसंगकी कुछ बात ही नहीं मालूम वे धर्मके नामपर कुछ नहीं बढ़ पा रहे। वे तो महा मोहसे ग्रस्त हैं, इस जीवने अब तक क्या किया ? अनादिकालसे यह जीव मोह मोहका ही स्वाद लेता रहा।

२३३—मोहका स्वाद छोड़कर सहजज्ञानस्वभावके अनुभवका स्वाद लेनेका उपदेश—

भैया यदि हित चाहते हो तो विचार कर इस मोहके चाटनेमें, स्वाद लेनेमें अगर शान्ति मिल पायी हो तो बता। कल्पित सुख भी अगर मिला होता तो अब तक तो बहुत अधिक सुख मिल जाना चाहिए था, क्योंकि अनन्तकाल बीत गया इस मोहका ही स्वाद लेते हुए। सो, यद्यपि यह एक क्षणकी परिणति हैं तो भी बार बार ये मोही उसीकी वासना बनाते हैं, मोहका स्वाद लेते हैं। इस मोहके

स्वादमें सार कुछ नहीं। हे भव्य, उस ज्ञानका स्वाद लिजियेके जो ज्ञानके रसिक पुरुषोंको चता है। परम स्वाद इस ज्ञानवृत्तिमें ही है। ज्ञानका स्वाद लो, आचार्य संतोंने उस ज्ञानका स्वाद लेनेका उपाय बताया है। एक यह श्रद्धान हो कि मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ। न कोई परपदार्थ मैं हूँ, न शरीर मैं हूँ, न कषाय मैं हूँ, न विभाव मैं हूँ न कषाय और विभाव। ये मलीन पर्याय क्यों कहलाते ? यों कि ये सब पौद्गलिक कर्मकी छाया हैं, ये पौद्गलिक हैं, नैमित्तिकभाव हैं, औपाधिक हैं, ये मैं नहीं हूँ, इन परभावोंसे हटनेमें निमित्तनैमित्तिकभावका परिचय बड़ा सहयोगी होता है। ये परभाव हैं, ये स्वभाव कैसे हो सकते ? स्वभावदर्शनके लिए निमित्तनैमित्तक योगका परिचय बहुत आवश्यक है। इस परिचयसे बन जायगा शुद्धनय, क्योंकि परभावसे हटना व एक सहजस्वरूपके अभिमुख होना यह अभिप्राय बनता है निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका, जहाँ गुणभेद नहीं, पर्यायभेद नहीं, अखंड अनन्य ऐसा शुद्धनयका विषय यह ही सहजपरमात्मतत्त्व है। शुद्धनयमें केवल अखण्ड चैतन्यभाव ही आता है, यह ही ज्ञानमात्रका भाव है जो ज्ञानानुभूति है वह शुद्ध आत्मानुभूति है।

२३४—अपने परमशरणकी गवेषणा—

इस जीवका रक्षक कौन है ? शरण कौन है ? सर्वस्व कौन है, इसका परमपिता कौन, परम शरण कौन, जिसकी बाँह पकड़कर, जिसकी छायामें रहकर, जिसका ध्यान रखकर, जिसकी सेवा करके संसारके सारे संकट हमारे कट सकें ? वह परमशरण है अपने आपमें विराजमान अपना सहज चैतन्य-स्वरूप। उस स्वरूपको पानेका उपाय क्या है ? कुछ तो तत्त्वबोध चाहिए और फिर यह परख चाहिए कि संसारके समस्त पदार्थ सभी परभाव ये सब मेरे लिए बेकार हैं, इनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं बनता, इनसे मैं निराला हूँ। तो उन सबको छोड़कर, उन सबके मोहको त्यागकर जो अपने आपमें ज्ञानमात्ररूपसे अनुभव करे वह पायगा अपने अन्दर कुछ। यों तो लोग अपनी सुख शान्तिके लिए ईश्वरकी खोज करते हैं। अरे जिसने जो समझा है वहाँ अपने नेत्र गड़ाकर अपनी बुद्धि माफिक जिस रूपमें समझा है उस रूपमें वह आराधना करता है। मगर भीतर निहारो तो जरा—बाहर चाहे कोई कुछ करे, पर जब तक भीतरमें मोह रागद्वेष न मिटेगा तब तक शान्ति पानेके पात्र नहीं हो सकते। रागद्वेष मोह कब मिटेंगे, जब रागद्वेष मोहरहित स्वरूप चिन्तनमें आयगा तो मिटेगा मोह, अन्यथा जैसे कोई किसी धनी पुरुषका साथ करता है तो उससे वह कुछ धन पा लेता है, वैसे ही कुछ पा लेगा मगर उससे रागद्वेष मोह तो नहीं मिटते। जैसे कोई बड़े धनीसे मिलकर, अधिकारीसे मिलकर, राष्ट्र-पति या प्रधानमंत्रीसे विनय कर लिया इसी तरह एक ईश्वरसे विनय कर लिया इस रूपमें देखा कि वह शस्त्रधारी है, वह स्त्री वाला है, बच्चोंवाला है, वह यहाँ वहाँ की घटनाओंमें दिलचस्पी रखता है, अनेक लोगोंका उद्धार करता है, संहार करता है, इस तरहकी आराधना की तो उससे कहीं रागद्वेष मोह तो न दूर हो जायेंगे। ईश्वर तो वह है जिसके रागद्वेष मोह नहीं, जो केवल जाननहार है, जो अपने अनन्त आनन्दरसमें लीन है, जिसके ध्यानके प्रसादसे ये स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं।

२३५—प्रभुस्वरूपके सम्यक् ध्यानके प्रसादसे स्वयमेव समृद्धिका लाभ—

यह नहीं है कि वह भगवान हमपर प्रसन्न हो तब हमें सुख सुविधा मिलेगी यह भी नहीं है कि वह भगवान मुझसे रूठ जाय तो मुझे दुर्गति मिलेगी। अरे हम ही अगर एक सही स्वरूपकी दृष्टि से इस भगवानको निरखते हैं तो अपने आपको सद्गतिका पात्र बनाते हैं, और हम ही अगर प्रतिकूल चलते हैं, बिगड़ते है तो हम ही स्वयं दुर्गतिके पात्र होते हैं। जो दर्पणके सामने मुख करेगा उसको

अपना चेहरा अपने आप दिख जायगा, जो दर्पणकी ओर पीठ करेगा, दर्पणसे प्रतिकूल चलेगा वह दर्पणमें अनना मुख कैसे देख सकेगा ? तो परमात्मस्वरूपके अनुकूल अपना ध्यान बने, वह ज्ञानानन्दरस लीन है, इस रूपकी आराधना करें तो अपने आपके स्वरूपकी आराधना बनेगी। यदि ऐसा माना जाय कि कोई पुरुष ईश्वर या अन्य कोई या देवी देवता मुझे सुख दुःख देता है, सद्गति दुर्गति करता है तो बतावो यहाँ जो लोग अन्याय, चोरी, हिंसा आदि पाप करते हैं ऐसा अनुचित काम, पापका काम करना क्या ईश्वरका काम है ? अरे वह तो बड़ा पुरुष है। उससे तो आत्मोद्धार मिलना चाहिए। जैसे एक माँ अपने कुपूत बालकके प्रति भी उदारताका भाव रखती है चाहे वह बालक कैसी भी गलती कर दे, मां का हृदय यही चाहता कि उसे तो बालकके प्रति उदार रहना चाहिए। चाहे वह अपनी माँ को कष्ट भी दे। ऐसे ही ईश्वरको भी उदार रहना चाहिये, वह तो दयालु बनकर सबको सुख दे। तो वहाँ कहना पड़ता है कि जो जीव जैसे कर्म करता है उसके अनुसार वह फल देता है। अब इतनी बात सही रही कि जीवको जो कुछ फल मिलता है सुख अथवा दुःख वह अपने अपने कर्मके अनुसार मिलता है। इतना तो सब लोग मान लेंगे चाहे वे ईश्वरको कर्ता मानने वाले ही क्यों न हो। मगर वस्तुमें स्वयं ऐसी योग्यता है, ऐसा निमित्तनैमित्तकभाव है कि उस रूपसे यह व्यवहार चलता है। इसलिए भी इतना तो निश्चित है कि संसारका सुख दुःख अपने कमाये हुए पुण्य पापके अनुसार होता है। बात तो ठीक कही गई। अब विवाद इसमें रहा कि वह फल देने वाला दूसरा है कौन ? तो देखो जब हम यहाँ पदार्थोंमें आसक्त हैं कि ऐसा ऐसा संयोग बन गया तो देखो इन पदार्थोंकी यह हालत बन गई। कागजपर तेजावका संयोग बन गया तो झट कागज जल गया। कपड़ेपर तेजाव लग गया तो वह जल गया। एक बड़ा गजब विषय परिवर्तन निमित्तनैमित्तिक रूपसे आ गया। निमित्त नैमित्तिकभावसे देखो तो संयोग होते ही निमित्तनैमित्तिकभावके अनुकूल वे सब बातें प्रकृत्या चल रही हैं, और—जो स्वभाव परिणमन है, उसमें निमित्तसन्निधानकी बात होती ही नहीं क्योंकि वह अनैमित्तिक परिणाम है। तो संसारके सारे काम—"होता स्वयं जगत परिणाम," इस रूपसे सब पदार्थ अपने आपमें अपनी परिणतिसे परिणमते हैं। अगर कोई उस अयोग्य है पदार्थ तो अनुकूल निमित्तको पाकर विकार रूप परिणम जाता है। इस प्रकार यह जगतकी सब सृष्टि होती है। प्रभुका सम्यक् ध्यान होनेसे निर्मलभाव होते अतः समृद्धि होगी।

२३६—स्वयं में स्वयं के परमपिता व परमशरणका वास—

अपना शरण कौन है ? किसका सहारा लें तो शान्ति मिले ? देखो यह खास समस्या है ? सभी लोग चाहते है कि हमको शान्ति मिले। पर देखो शान्ति परिवारमें मोह रागद्वेष रखनेसे नहीं मिलती। राग परिणाम स्वयं दुःखरूपताको लिए हुए है। कोई चाहे कि राग करके हम आनन्द पायें तो उसका सोचना ऐसा है कि जैसे कोई चाहे कि खूनका दाग खूनसे हो धो लें। तो जैसे खूनका दाग खूनसे धोनेपर मिट नहीं सकता, इसी तरह राग द्वेष मोह करके कोई चाहे कि मैं शान्त हो जाऊँ तो यह बात तीन कालमें नहीं हो सकती। क्यों अपना समय व्यर्थ गमा रहे। रागद्वेष मोहमें बढ़-बढ़कर कभी भी शान्ति नहीं मिलनेकी। शान्ति जिन्हें मिली है उनको अपने आत्मस्वरूपमें उपयोग बसानेसे मिली है। शान्ति पानेका यह ही उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं। तो जो मेरे को आनन्द पैदा करे, मेरे को संकटोंसे बचाकर सद्गति अथवा उत्तम गतिमें पहुँजा दे ऐसा वह परम शरण, परम पिता, रक्षक हमारा कौन है? हमारे निजमें बसने वाला सहज स्वरूप। लोग कहते हैं कि भगवान घट-

घट में बसा है, पर घट-घटमें क्या बसा है, कैसा बसा है ? कौन बसा है ? क्या कोई एक अलग है जो प्रत्येक घट–घटमें बसा हो ? और इसका अर्थ है । घट–घट मायने ञरीर–शरीर । प्रत्येक शरीर में भगवान बसा है । वह एक भगवान नहीं बसा । जितने जीव हैं सब भगवान स्वरूप वाले हैं । सबका भगवत् स्वरूप है, बस उनमें उनका सहज परमात्मा स्वरूप बसा हुआ है । अच्छा बतावो दूधमें घी बसा है कि नहीं ? देखने में तो ऐसा ही लगता है कि दूध दूध ही दूधमें है दूधमें घी का नाम नहीं, पर पारखी लोग तो दूध की चिकनाई देखकर, गाढ़ापन देखकर ही बता देते हैं कि इसमें इतना घी निक–लेगा इसमें इतना । तो ऐसे ही प्रत्येक जीव में परमात्मस्वरूप बसा है । कहाँ यहां वहाँ दौड़ते ? कहाँ अनेक रूपोंमें परमात्मा की कल्पना करते ? अरे परमात्व तत्त्व तो हमारे स्वरूपमें बसा हुआ है, उसकी सुध लें तो वीतराग सर्वज्ञ देव की मुद्रा निरखकर सुध लेते रहें, क्योंकि उनका परमात्मस्वरूप प्रकट हो गया, इसीलिस येवदर्शन है ।

२३७—परमात्मतत्त्वके प्रसादका उपाय—

परमात्मतत्त्व खुदमें खुदके प्रयोगसे प्रकट होगा । उसे कोई दूसरा प्रकट करने न आवेगा । हां तो जैसे दूधमें धो बसा है वैसे ही सब जीवोंमें परयात्मस्वरूप बसा है और परखने वाले परख भी लेते हैं कि इसमें इतना घी निकलेगा । तो जैसे पारखी दूधमें घी की परख कर लेते ऐसे ही पारखी ज्ञानी जीव इन प्राणियों में उस सहज परमात्मस्वरूपकी परख कर लेते हैं । उसकी परख का उपाय क्या है ? जैसे दूधमें घी की परख का उपाय क्या है ? दूध ही तो है ना ? ऐसे ही जीवमें उस परमात्मतत्त्व की परखका उपाय क्या है ? असहयोग और सत्याग्रह । ये दो उपाय बनाने हैं ? असहयोग किससे ? जो अनात्मतत्त्व हैं, जो मेरे स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं, जो मेरे से भिन्न द्रव्य हैं वे सब अनात्मतत्त्व हैं । उन अनात्मतत्त्वोंसे उपेक्षा करें । बाह्य तो बाह्य हैं । कौन किसका क्या ? जैसे बताया था कि पिताने यह भ्रम कर लिया पुत्र पर कि यह पुत्र मेरा कहना मानता है, मेरे कहने के अनुसार चलता है । मेरे कहे बिना एक कदम भी यहाँ–वहाँ नहीं रखता, इतना बड़ा आज्ञाकारी यह हैं, जब यह भ्रम बना तो उसके प्रति आकर्षण बना, ममता बनी, फिर एकरूप मान लिया कि जो यह है सो मैं हूँ । और यह धारणा कर लिया कि यह ही मेरा प्राण है और वास्तविकता क्या है ? पुत्र इसलिए आज्ञा मानता कि वह जानता है कि यदि हम इनकी आज्ञा में रहेंगे, विनयमें रहेंगे तो बड़े आरामें रहेंगे । ये हमको सब प्रकारसे सुखी रखेंगे । उस पुत्रको आज्ञाकारी देखकर पिता कुछ कल्पनायें करके यह सोचता है कि इस बेटेके ही कारण सुखमय हैं । यह रहेगा । तो मुझे बड़ी शान्ति है । इस तरहकी भीतरमें कल्पना कर रखी है, क्योंकि पुत्र को उसने अधिक महत्त्व दिया । पिता अपने पुत्रके प्रति क्यों इतना अधिक काम करता कि उसने यह कल्पनाकर लिया कि इसकी वजहसे ही मेरा ठीक जीवन रहेगा । बस इस भावसे, इस कल्पनासे प्रेरित होकर वह ऐसी चेष्टा करता है । प्रत्येक जीव अपने-अपने भावों से अपनी–अपनी चेष्टा करते हैं । कोई किसी दूसरेके परिणमनमें अपना परिणमन नहीं बनाया करता । जब जगत की यह स्थिति है, होता स्वयं जगत परिणाम वाली बात है तो फिर उसके किस जगह मोह रहना चाहिए ? कौन मैरा है ? जब यह स्वतंत्र सत् अपना विदित होता है तो मोह टुट जाता है । वह मोह टूटना चाहिए, सफाई आनी चाहिए तब परमात्मस्वरूप के दर्शन होंगे । हम परमात्मस्वरूपको अपने हृदय में विराजमान करना चाहें, उस स्वरूपको हम अपने उपयोग में बसाना चाहें तो भला बतलावो यहाँ अगर कोई बड़ा आदमी या कोई बड़ा अफसर घर में आता है तो कितना घरकी सफाई

करते, सजावट करते, तो फिर जहाँ सर्वोच्च प्रभु जिससे बढ़कर कोई नहीं, ऐसे उस परमात्मस्वरूपको बिठाना चाहें तो हमको अपने हृदयकी कितनी सफाई करनी होगी ? अगर किसीके प्रति द्वेषका भाव पड़ा है तो उस आसनपर परमात्मस्वरूप विराजमान न होगा । आप कितना भी बोलें, मगर परमात्म तत्त्व यहाँ न बसेगा । अगर परमाणु मात्रके प्रति भी यह मेरा है ऐसी राग भरी श्रद्धा बनेगी तो वहाँ परमात्मस्वरूप न बसेगा , उसके लिए एक इतना फकीराना आना चाहिए कि बस यह तो मैं केवल ज्ञानमात्र हूं । इस मुझका जगतमें कहीं कुछ है नहीं । एक अगर अमृतका घूंट पीना है, ज्ञानमें ज्ञान स्वरूपको बसाकर एक अद्भुत आनन्द पाना है, कर्मोंकी बेड़ी काटना है, जन्म मरणके दुःख मेटना है, तो क्या करना चाहिए कि जो शान्त स्वरूप है, आनन्दमय है, स्वयं ज्ञान स्वरूप है, ऐसा जो निज परमात्मा है उसकी आराधना करना चाहिए ।

२४०—संसारके संकटोंको मेटनेके लिये धर्ममें प्रीति बढ़ानेका सुझाव—

देखो धर्ममें लगनेमें कुछ कष्ट होता है तो वह बतलावो जरा कि यहाँ जो कीड़ा मकोड़ा, कुत्ता, गधा, सूअर आदिक जो कष्ट उठा रहे हैं उससे भी अधिक कष्ट है क्या धर्ममें लगनेमें ? एक इसी बातका निर्णय करो । जिसको इस ही जीवनमें पर पदार्थोंमें मोह करके जो अनेक विपत्तियाँ आती हैं, कठिनसे कठिन विपत्तियाँ, बड़ेसे बड़े फसाव बताओ उन दुःखोंसे भी अधिक दुःख है क्या प्रभुभक्तिमें, देवदर्शनमें, अभक्ष्यत्यागमें, पूजन भजन करनेमें, जाप देनेमें, क्या उससे भी अधिक कष्ट है जो जन्म मरण पाते रहते हैं अनेक अनेक कुयोनियोंमें । खूब सोच लो । अगर इन सारे संकटोंसे अपने को दूर करना है तो धर्ममें प्रीति रखो । धर्मकी धुन रखो, सत्संगमें स्वाध्यायमें रहो, विनयरूपसे रहो । और इस अभिमानको अगर गलाना है तो छोटोंका विनय करके एक प्रयोग बनाओ, अभिमान गल जायगा । यह अभिमान एक ऐसा आड़े पर्वत आया है कि जिसके भीतर घुसा हो तो सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन न हों । और फिर जो हमारा इतना बड़ा शत्रु है अहंकार, अभिमान, उस शत्रुको किसी भी प्रकार बने, मिटायें । व्यावहारिक सुगम उपाय गर्व मिटानेका देखो—गर्व मिटता है छोटों का विनय करके । जरा अपनी आदत बदलिए । जो एक अभिमान करने कीआदत बनी है उसको बदल दें । सब जीव एक समान हैं । सबमें अपने समान वह आनन्दस्वरूप देखें, सब एकस्वरूप हैं । मैं वह हूँ जो हैं भगवान । ऐसी ही सबकी बात है । सब वह हैं जो हैं भगवान । स्वरूप दृष्टिसे देखे, अवस्था की बात नहीं कह रहे, ऐसा निहारकर उस अहंकारको दूर करें विनय गुणसे । सत्संग करके, स्वाध्याय करके अपने आपमें अपने स्वरूपका अनुभव करके ।

२३९—भ्रम त्यागकर सहजस्वरूपके अनुभवका आनन्द लेनेका अनुरोध—

अगर शाश्वत सहज आनंद चाहते हैं तो अनादिकालसे जो इस मोहका स्वाद लिया जा रहा है उसको छोड़ें और जो ज्ञानियोंका रोजिगार है ऐसा जो एक यह ज्ञानस्वरूप सहजपरमात्मस्वरूप भगवत्स्वरूप, भगवान निज अंतस्तत्त्व है उसका स्वाद लीजिए, ज्ञानका स्वाद लीजिए । ज्ञानका तो स्वाद हम आप सभी जीव प्रति समय लेते हैं पर मान नहीं रहे और मान रहे यह कि ज्ञानमें जो बात आयी है, जो ज्ञेय आया है उसका स्वाद मान रहे । ज्ञेयका स्वाद कोई ले ही नहीं सकता, परपदार्थका स्वाद कोई ले नहीं सकता । परद्रव्य गुणपर्याय मेरेमें एक हो गया ? ले रहे स्वाद ज्ञानका ही । जब आप भोजन करते हैं, तो बताओ वहाँ आप मिठाईका स्वाद ले रहे या ज्ञानका, मिठाईका स्वाद नहीं ले रहे । स्वाद ले रहे ज्ञानका, मगर यह खबर नहीं है, और ज्ञानमें जोज्ञेय पदार्थ आ रहे हैं उस बाह्य

अर्थकी और मार्जारदृष्टि हैं, जो निजमें स्वरूप बसा है उसे छोड़कर, उपयोग द्वारा लाँघकर उस ज्ञेय पर दृष्टि बनी है इसका स्वाद आ रहा ऐसी मान्यता बनी है, बस यह अज्ञान है। मान रहा यह अज्ञानी स्वाद परवस्तुका और स्वाद ले रहा खुदका। जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है तो हड्डी चबानेसे उसके मसूड़े फूटते हैं जिससे खून निकलने लगता है। वह एकतान होकर उस हड्डीको चबाता है, पर स्वाद लेता है अपने ही खूनका। इसका उसे ज्ञान नहीं। वह समझता है कि हमें तो हड्डीका स्वाद आ रहा। मान लो वह हड्डी न चबाकर काठ या पत्थर चबाये तो क्या उसे वैसा स्वाद न आयगा ? अरे स्वाद उसे किसी बाहरी पदार्थका नहीं मिलता क्योंकि स्वाद तो खुदके ही खूनका मिल रहा है। तो उसे जैसे वह कुत्ता खुदके मसूडोंके खूनका ही स्वाद ले रहा, मगर मानता कि हम हड्डीका स्वाद ले रहे, ठीक ऐसी ही स्थिति अज्ञानी जीवोंकी है। वे स्वाद तो ले रहे अपने ज्ञान विकल्पका, पर मानते हैं कि हमें इन पौद्गलिक चीजोंका स्वाद आ रहा, हमें इन पञ्चेन्द्रियके विषयोंका स्वाद आ रहा। इस भ्रमके कारण ये विषयोंकी ओर आकर्षित हैं और अपने आपके ज्ञानको ये भूले हुए हैं। तो करना क्या है आनन्दके लिए ? भीतरमें ज्ञानप्रकाश करके भ्रान्तिको बदलना है। इतना भर काम करना है। कोई बड़ा काम है क्या ? अरे बड़ा काम कुछ नहीं है। तब फिर कैसे बदलें ? समझ लो मैं आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप हूँ। अपनेमें अपना सर्वस्व रखता हूँ, मेरा दूसरे पदार्थसे कोई वास्ता नही है, ऐसा एक अपने आपमें अपना एकत्व विचारें, ध्यानमें लायें। मैं अपने आपके ज्ञानका ही अनुभव करता हूँ। उसमें से वह विपाक वह रागद्वेष यह विकल्प पर पदार्थोंके वे ख्याल उन सबको निकाल दें। चीज तो वही की वही है। ज्ञान तो निरन्तर करता रहता है यह जीव, मगर जो कल्पना जगी, जो बाह्य पदार्थकी ओर अभिमुख हुआ वहाँ भी उसके अनुकूल उस प्रकारके ज्ञान ज्ञानका ही स्वाद तो हो रहा। अब उसमें से विषमता निकाल दें, ज्ञान ज्ञानका ही स्वाद रहे तो उसे परमात्मस्वरूपके दर्शन होंगे। वह एक निराकुल अवस्था प्राप्त होगी। अपने आपमें बसे हुए इस परमात्मतत्त्वको न जाननेके कारण संसारी जीवोंकी यह हालत हो रही है।

२४०—आत्महितके उपायमें चलनेका दृढ़ निश्चय करनेका अनुरोध—

आज दो में से कोई एक निर्णय बना लीजिये। क्या कि संसारकी विविध इन गतियोंमें योनियोंमें, नाना प्रकारके देहोंमें जन्म मरण करते रहना है, या फिर इन सबसे छुटकारा प्राप्त करना है। तो सायद संसारमें नाना योनियोंमें जन्म मरण करना तो कोई स्वीकार न करेगा, मगर यह निर्णय अभी तक इस जीवने नहीं किया। अब तो अपना एक निर्णय बना लो कि मुझे तो किसी भी प्रकार इन बाहरी बेकार असार विकल्पोंसे हटकर इस ज्ञानानन्दस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वमें मग्न होना है, धर्म करना है। धर्म करनेका निर्णय बनाओ या फिर संसारकी इन दुर्गतियोंमें जन्म मरण करते रहनेका निर्णय बनाओ। ये दो ही चीजें हैं। यह सारा संसार दुःखमय है। इससे हटनेमें ही भला है। अपना स्वरूप देखें और अपनेको केवल एक ज्ञानमात्र रूपमें निरखें। ज्ञानमात्रके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं, कोई भुलावे तो, जरा भी न हिलें डुलें कि मेरा यह काम है। मैं तो एक ज्ञानमात्र स्वरूप हूँ। ऐसी दृढ़ता बनावें कि जीव अपने आपमें बिहार करेगा। वह अपने आपमें एक परम ऐश्वर्यके दर्शन करेगा, ईश्वर स्वरूपका दर्शन करेगा, उसे साक्षात् मालूम होगा कि ईश्वरका यह स्वरूप है, स्वाद लें ज्ञान-परिणतिका और निर्णय रखें कि इस ज्ञायक स्वरूप अन्तस्तत्त्वके सिवाय जितना बाह्य सम्बंध है उससे मेरा कोई सम्बंध नहीं, यह देह भी मेरे से अत्यन्त निराला है। मैं तो हूँ एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व।

अयि कथमपि मृत्व तत्त्वकौतूहली सन्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

२४१—निज अन्तस्तत्त्वके अनुभवनेका संदेश—

शाश्वत शान्ति चाहने वाले भव्य जीवोंको सम्बोध कर कह रहे हैं आचार्य संत कि हे भव्य पुरुषो ! किसी भी प्रकार मरकर भी तत्त्वकौतूहली बनकर एक मुहूर्त तो अपना पड़ोसी बनकर निज अंतस्तत्त्वका अनुभव तो कर । "किसी भी प्रकार मरण करके भी इतना बड़ा शब्द देनेका अर्थ यह है कि तन, मन, धन, वचन सब कुछ भी न्योछावर हो जाये और यदि एक आत्मानुभवकी बात प्राप्त होती है तो उससे बढ़कर जगतमें न कुछ मंगल है, न लोकोत्तम है, न शरण हैं । अच्छा, इस अंतस्तत्त्व का तो अनुभव कर । किसका ? जो सबसे पृथक् नित्य अन्तः प्रकाशमान है । ऐसे निज आत्मतत्त्वमें जुड़कर उस निर्विकल्पताका, निराकुलताका अनुभव करे, जिससे कि इस भवमूर्तिके साथ, इस देहके साथ जो एकत्वका व्यामोह है वह जड़से निकल जाय । देखिये—कहने वाले लोग अनेक हैं कि देह भिन्न हैं, जीव भिन्न है । छोटे लोगोंसे पूछो, सब कहेंगे कि देह निराला, जीव निराला । पर ठीक तरहसे पहिचाना किसने कि देह निराला, जीव निराला ।

२४२—देहके मात्र पड़ोसी बनकर अन्तस्तत्त्वके दर्शनकी शक्यता—

देखो जीव न्यारा है, देह न्यारा है, यह बात उसीको तो समझमें आयगी कि जिसको देह भी दिख रहा है और जीव भी दिख रहा है । अब कहने वालोंको देह तो दिख रहा और जीवका कुछ-कुछ अपने-अपने ढंगसे अनुमान किया जा रहा, अंदाज किया जा रहा, समझा जा रहा तो ऐसी स्थिति में देह जुदा, जीव जुदा यह बात भली प्रकार चित्तमें नहीं बैठ पाती । सम्यग्दृष्टि तो वही है जिसे यह मौलिक ज्ञान हो जाय कि देह जुदा, आत्मा जुदा, क्योंकि देहका घनिष्ट सम्बंध चल रहा और वहां भी मौलिक भेद बन जाय, यह मोह गले बिना नहीं होता । ऊपरसे मान लिया देह जुदा तो ऐसा कहने वाले तो बहुत हैं मगर क्या ऐसा कहने वाले सब सम्यग्दृष्टि हो गए ? और जैसे आँखोंसे देह दिख रहा ऐसे ही ज्ञानसे यथार्थ जीव स्वरूप जाननेमें आये ऐसी दो बातें जिसकी समझमें आये उसीको अधिकार है ढंगसे बतानेका कि देह जुदा है, जीव जुदा है, अन्यथा क्या-क्या परिस्थितियाँ हैं, क्या-क्या आशय है, क्या मूड है, क्या ढंग है जिससे कहा जा रहा कि देह जुदा जीव जुदा । हाँ तो यह बात समझमें आयगी तब जब कि इस सहज आत्मस्वरूपमें, इस देहके पड़ोसी बनकर इस अंतस्तत्त्वमें स्वका अनुभव कर सकें व तभी जानेंगे कि देह जुदा, मैं जुदा, और ये पड़ोसी है दोनों । देह भी एक पड़ोसी है और मैं भी पड़ोसी । ये बहुत निकटके मानो एक ही घरमें रहने वाले, एक ही क्षेत्रमें रहने वाले पड़ोसी हैं । मगर जीवके धाममें देहका कब्जा नहीं और देहके धाममें जीवका कब्जा नहीं । स्वरूप न्यारा-न्यारा है, निमित्त नैमित्तिक भाव है और बन्धन है, मगर एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर अधिकार नहीं है सिर्फ, पड़ोसी बने हैं। क्योंजी, एक पड़ोसीको अपने पड़ोसीकी कुछ चिन्ता रहती है कि नहीं ? रहती है । तो कोई अधिक चिंता रहती क्या ? कुछ उसका ख्याल रहता तो है, मगर पूरा ख्याल नहीं । अगर पड़ोसीके घरमें आग लग जाय तो यह ख्याल करेगा कि इस आगको बुझा दें ? क्यों ख्याल करता कि कहीं यह आग बढ़ बढ़कर मेरे घरमें न आ जाय, इस ख्यालसे पड़ोसीका ख्याल करता है । वैसे ख्याल तो औरोंका भी किया जाता मगर ख्याल ख्याल में फर्क है । अच्छा, और पड़ोसीके कुटुम्बमें कोई गुजर गया तो जैसे वे अपने घरवाले हाय हाय करके रोते हैं वैसे क्या वे पड़ोसी भी रोते ? नहीं रोते । इसका ख्याल

नहीं है ? तो कितना ख्याल है ? इतना ही ख्याल है कि जिस गड़बड़ीकी वजहसे इसके घरमें भी गड़बड़ी हो सके, इससे यह है दुःखी। ऐसे ही शरीर और जीवमें इस ज्ञानी जीवको इतना ख्याल है कि इस शरीर पड़ौसीकी ऐसी बरबादी अगर होती हो कि जिससे हमारे इस जीवके संयमपर, व्रतपर, समाधिपर, ध्यानपर कोई दुष्प्रभाव पड़े तो कुछ सम्हाल करना है इस पड़ोसीकी और, जब यह ज्ञानी जीव जान लेता है कि अब यह शरीर नष्ट होने वाला है तो इसकी क्या चिन्ता लावें, अपने आत्माको सम्हाल लें, जैसे घरमें आग लगी तो थोड़ी आग लगी तब तक तो यह प्रयत्न करता है, कि इसे बुझावें, यह करें। और जब देखता है कि अब बश न चलेगा और कोई आग बुझाने वाला बहुत दूर है, यहाँ फोन भी नहीं है तो तुरन्त वह क्या करता है ? जो खास खास चीजें हैं, धन है, उसको उठा उठाकर बाहर यह सुरक्षित स्थानमें रखता है तो ऐसे ही अगर यह शरीर जा रहा है तो संयमी ज्ञानी विवेकीजन क्या करते हैं कि यह शरीर जाता है तो जाने दो, यह तो चलेगा, यह तो जायगा पर अपना संयम, अपना व्रत, अपना ध्यान सब कुछ अपना सही बना लें और इस तरहसे तुम यहांसे जावो। तो ज्ञानी जीव हर स्थितिमें इस देहको पड़ोसी समझ रहा, खुदको देहका कुछ नहीं समझ रहा।

२४३—परभावोंसे निवृत्ति पानेका साधक परिचय—

आत्मन् ! एक बार इस देहके पड़ोसी बनकर अपने आपमें अपना अनुभव तो करें, जो ज्ञान-मात्र अंतस्तत्त्व है, जैसे कि ज्ञानमें केवल ज्ञानस्वरूप आये। कैसे ? जैसे ज्ञानमें यह चीज आ रही है—खम्भा जाना, भींट जाना, अमुक जाना तो ये चीजें न आकर ज्ञानमें ज्ञान ही का स्वरूप आ जाय। ज्ञान किसे कहते हैं ? ज्ञानका स्वरूप क्या है। ज्ञान मायने क्या है ? यह बहुत गम्भीरतासे बहुत अन्तः प्रवेश करते हुए स्थिति बनाकर बाहरका सब कुछ ख्याल छोड़कर कुछ अन्तरमें इस ज्ञानका सहयोग देंगे अपने आपको जाननेमें, तो समझमें आयगा। अच्छा, हो क्या रहा है इस जीवपर ? गुजर क्या रहा है ? जिससे इतनी विवशता आयी कि यह जीव अपने आत्माके अनुभवका पात्र न रहा। देखो केवल यही—यही बात कहना हर जगह कि भाई जीवकी योग्यता है इसलिए जीवने अपनेको नहीं समझ पाया, योग्यताकी बात तो सही है, मगर वह योग्यता जीवकी ऐसी योग्यता क्यों चली, उसका भी तो कारण कहिये। अगर कहेंगे कि जीवकी ऐसी योग्यता है कि ऐसी योग्यता रहे, तो वह योग्यता क्यों बनी ? जीवकी ऐसी योग्यता है जिससे ऐसी योग्यता बनी ? यों योग्यताओंकी अवस्थाके ख्यालमें आत्मानुभव नहीं होता। सो योग्यता योग्यताका जाल बना लिया, समझमें न आयगा कि ये परभाव हैं और क्योंजी ऐसी योग्यता है तो निवृत्तिको उमंग कौन देगा ? देखो द्रव्यका यह स्वरूप अकाट्य है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमता नहीं। इसमें कोई संदेहकी बात नहीं। अगर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमता होता तो आज जगत शून्य हो जाता। वह उस रूप परिणम गया, वह मिट गया, यों अव्यवस्था रहेगी। और, जितने विकार होते हैं वे विकार निमित्तभूत परके सन्निधान बिना नहीं हो सकते। अगर उपाधि-भूत परके सन्निधान बिना विकार बन जायें तो वे स्वभाव बन जायेंगे। हालाँकि दर्पणके सामने एक रंग बिरंगा कपड़ा डाल दिया, तो दर्पणमें रंग बिरंगा प्रतिविम्ब हो गया। निश्चयसे तो यह बोलेंगे कि दर्पणमें जो रंग बिरंगा परिणमन हुआ है वह दर्पणकी योग्यतासे हुआ, उस समयकी दर्पणकी परिस्थिति ऐसी हुई, मगर जो युक्तिसे समझमें आ रहा, और जिस बलपर सारे जगतकी यह व्यवस्था चल रही, क्या इसे मना करदें ? यह कहा जाय तो क्या अनुचित कि पर द्रव्यका, उस रंगबिरंगे कपड़ेका सन्निधान पाकर यह दर्पण अपने आपकी योग्यतासे ऐसा परिणम गया। इसमें स्वतंत्रता भी आ गई।

२४४—निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयका लाभ—

निमित्तनैमित्तिक भाव भी ज्ञात होनेसे, निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयसे हमें यह मदद मिली कि हम यह जान जायें कि यह प्रतिविम्ब दर्पणका स्वभाव नहीं, क्योंकि उस ही प्रकारके रंगका सामना, निमित्त पाकर यह परिणमन हुआ। यह परभाव है, यह दर्पणका स्वभाव नहीं, इस परिचयसे दर्पणमें ही दर्पणकी शुद्ध चीजको निरखने जैसी विधिसे द्रव्यके सहज स्वभावको निरखते है तो हमें द्रव्यके स्वभावको सुगमतया पहिचानकी मदद मिलती है । आचार्य संतोंका कहा हुआ एक भी वचन असत्य नहीं है। परंतु अपने आपके हितके लिए शिक्षा लेनेकी एक विधि चाहिये। हाँ होता क्या है ? देखिये सिद्धान्तकी बात। पहले जो पाप कर्म बांधे थे, कर्म तो हैं ना, कार्माण वर्गणायें हैं ना, एक प्रकार का सूक्ष्म मैटर, कार्माण जातिका पुद्गल। जीव जब कषाय भाव करता है तो वे कार्माण पुद्गल कर्म रूप परिणम जाते हैं याने प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग चार प्रकारके, वहाँ बन्धन बन जाते हैं, कर्म बन जाते हैं। अच्छा बन गये कर्म, सो ज्योंके त्यों सत्तामें रहे। जब तक सत्त्व तब तक उन कर्मोंमें सौम्य काम चल रहा है। अब जिस कालमें, कर्म उदयमें आता है जिसे कहते हैं अनुभागविस्फोट' जब कर्ममें कर्मका अनुभाग खिलता अर्थात् कर्ममें जो चारों अवगुण बँधे थे, उस कर्ममें जो प्रकृतिबंध, प्रदेश बँध, स्थितिबंध और अनुभाग बंध बना था अनुभाग मायने फलदान शक्ति, उसमें उसी प्रकारका विकार है सो जब उदय आया तब कर्ममें कर्मका अनुभाग खिला, स्फुटन हुआ, फूट हुई, क्षोभ हुआ, वहाँ ही सब कुछ हलचल हुई कर्मकी कर्ममें, मगर यह जीव भी इस योग्य है क्योंकि ऐसा बंधनमें है सो उस हलचल का, उस कर्मके उस अनुभागका प्रतिबिम्ब आया जो कि विकारस्वरूप तो है ही । यह अबुद्धिपूर्वक प्रतिफलन है, कर्मविपाक होनेपर प्रतिफलन न हो सके, यह बात कभी न बनेगी।

२४५—निमित्तनैमित्तिक योगकी उपादान और निमित्तमें परस्पर अत्यन्ताभावकी परिचायकता—

निमित्तनैमित्तिक भाव है उससे शिक्षा यह लेना कि विभाव परभाव है, हेय है । अबुद्धिपूर्वक प्रतिफलनमें जुटाव नहीं है। यह तो अजीबकी भाँति, जैसे अजीब अजीबका निमित्तनैमित्तिक संबंध है तो वह चल रहा ईमानदारीसे, ऐसे ही कर्मानुभाग उदयमें आया तो उसका प्रतिफलन हुआ इतनी तो अनिवारित बात है। अब इसके बाद ज्ञानी और अज्ञानीकी प्रक्रियासे बड़ा भेद बन जाता है। अज्ञानी व ज्ञानीकी प्रक्रियामें क्या भेद बन जाता है? अज्ञानी तो उस प्रतिफलनसे दबकर, तिरस्कृत हो जाता। क्यों तिरस्कृत हुआ ? खुदमें अज्ञान है इसलिए वह अधिक दब गया । जैसे कचेहरीमें सभी लोग जाते हैं ना ? अब जिसको कचेहरीकी और बातोंका सब विधि विधान ज्ञात है, सब समझ है, रोजका आना जाना है वह भी कचेहरीमें जाता है मगर उसपर कोई दबाव तो नहीं पड़ता, उसे कोई भय तो नहीं रहता। और एक देहाती पुरुष जो कभी कचेहरीमें गया नहीं, किसी मामलेमें फँस गया, वह कचेहरीमें जाता है तो उसपर सिपाही, जज, वकील आदि हरएकका बड़ा दबाव पड़ता है, प्रभाव पड़ता है। वह डर जाता है, घबड़ाता है। उसके हाथ पैर कापते हैं ? अरे भाई क्या बात हो गई ? आखिर आदमी ही तो है वह, उसमें डरकी क्या बात ? पर वह देहाती पुरुष अज्ञानी है, उसे कुछ सूझ-बूझ नहीं, इससे वह अपनेको दुःखी बना लेता। दुःख तो बनाये जाते हैं अज्ञानतासे। ऐसे ही अज्ञानी पुरुष कर्मविपाक के प्रतिफलनसे आच्छादित हो जाता है तब उसी समय क्षुब्ध हो अज्ञानतासे इन पञ्चेन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंका सहारा लेता है, उनमें अपना उपयोग जुटाता है, तो होता क्या कि उसपर और भी अधिक कठिनाइयां आ जातीं और उस कालमें इसके विशेष पापका बंध होता। कोई ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है तो

वह जानता है, कि कर्मोदय जब होता है तब ऐसा प्रतिफलन, ऐसी छाया छा जाती है, यह होता रहता है, चल रहा है, पर इन आश्रयभूत पदार्थोंमें जुटना नहीं चाहता। वहाँ जुटना पड़ता है तो यह विभावपर खौलता है अन्दरमें? यह कैसी बात है ? जो आश्रयभूत पदार्थ हैं उनमें उपयोगको ऐसा अन्तस्तत्त्वके ज्ञानी नहीं जुटाते और यत्न रखते हैं, क्योंकि ज्ञानबल हो गया। तो अपने आत्मस्वरूपको, आत्मस्वभावको निरखनेका उद्यम करता है तो इसके बंध कम होता है ? यहाँ तो आ जाता है अन्तर, मगर जो बात जिस विधि विधानमें है वह बराबर चल रही।

२४६—नैमित्तिक भावके प्रधावनका अर्थ—

एक साथ नाना प्रकारके बन्धनकी, उपाधियोंका उदय हो तो यह अस्वभाव भाव करके क्रोध, मान, माया, लोभ एकदम दौड़ गए। जैसे कि दर्पण है। दर्पणके आगे कोई सन्निधान आये, रंग बिरंगे कागजका सन्निधान आये तो दर्पणमें मानो एकदम दौड़कर उसी समय उस रूप प्रतिविम्बित हो गया, तभी तो पूज्य अमृतचन्द्र सूरिने कहा कि वह एकदम बहुत प्रकृष्ट भावसे दौड़ा, याने जिस कालमें दर्पणके सामने चीज आयी तत्काल ही उसमें वह प्रतिविम्ब आया। भला कोई वैज्ञानिक किसी यत्र वगैरहसे परखकर खोज तो करें कि दर्पणके सामने मानो ५० हाथ दूरीपर चीज है तो जिस कालमें वह चीज सामने आयी उसी कालमें वह प्रतिविम्ब हुआ या बादमें ? जैसे मानो एक दर्पणके सामने एक हाथ दूर ही कोई चीज है और एक दर्पणके सामने ५० हाथकी दूरीपर वह चीज है तो वे वैज्ञानिक यह बतावें कि दोनोंके प्रतिविम्ब पड़नेमें समय बराबर लगेगा या कम ज्यादह ? अरे वहाँ जब चीज दर्पणके सामने आयी तो कितनी ही दूर हो वह चीज, पर तत्काल ही वह प्रतिविम्ब दर्पणमें आता, कम ज्यादह समय नहीं लगता, ऐसे ही जब कर्मानुभागका उदय हुआ, आत्मामें वैसा ही तुरन्त प्रतिफलन हुआ। तो क्या इस प्रसंगमें समझे कि अस्वभाव भाव क्रोध, मान, माया, लोभ ये मूलमें कर्मके हैं जो अचेतन क्रोध, मान, माया, लोभ हैं, जैसे कि कपड़ेका रंग दर्पणके सामने आया सो दर्पणमें वह रँगे स्वच्छताविकार रूप है। रंग मूलमें उस कपड़ेका है, उसका सन्निधान पाकर दर्पणमें प्रतिविम्ब हुआ है। जैसे जैसे जीवमें कषाय आते, क्रोध, मान, माया, लोभ, विचार, विकल्परंग, ये सबके सब कर्मके हैं। जीवके जीवमें हैं, कर्मके कर्ममें हैं, मगर कर्ममें जो प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध, अनुभागबंध है, वह कर्मकी उनके गाँठकी चीज है, उनमें वह फूटा, इसका प्रतिफल हुआ कि उसके ही अनुरूप यह क्रोध, मान, माया, लोभादिक इस तरहका यह परिणाम हुआ। अब आश्रयभूत पदार्थोंमें हम जुट गए तो वह हो गया बुद्धिपूर्वक परिणमन। आश्रयभूत पदार्थोंमें हम उपयोगको नहीं जुटाते सो वह तो जाता है अबुद्धिपूर्वक परिणमन।

२४७—अबुद्धिपूर्वक व बुद्धिपूर्वक कषायमें अन्तर—

अबुद्धिपूर्वक व बुद्धिपूर्वक विभावकी बात इस तरह भी अंदाज करलो। जैसे कोई ऐसा समझले कि सम्यग्दृष्टिमें कषाय नहीं होते, विकल्प नहीं होते, कोई खराबी नहीं होती, विभाव नहीं होते, तो वह यों समझ लेता कि देखो याद है ना, ९ वें गुणस्थानमें जो एक श्रेणीमें चढ़ा हुआ है मुनि उसके भी ये चारों कषाय बताये गए हैं। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। अच्छा तो ९ वें गुणस्थानमें ही क्या, ८ वें ७ वें गुणस्थानमें भी आश्रयभूत पदार्थके आश्रयवाला जरा भी विकार नहीं। पञ्चेन्द्रिय व मनके विषयोंमें। उसके तो पृथक्त्व वीचार शुक्लध्यान है। उसकी तो एक केवल ज्ञातादृष्टा परिणति चल रही है तो आश्रयभूत पदार्थोंमें उपयोग न जुटनेपर भी अबुद्धिपूर्वक कषाय है ना, ८ वें गुणस्थान

में भी, ७ वें में भी। छठवें में तो संज्वलन कषायका तीव्र उदय होता है। ५ वें में भी प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है। वहाँ तो ऐसा भी नहीं कि जिस कालमें ज्ञानी स्वानुभावमें लीन हैं उतने समयको ये कषायें अपना प्रभाव छोड़ दें। जितनी कषाय है अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, उसका उदय है, सन्निधान है, लेकिन उपयोग चूँकि इस ज्ञानीने इस अंतस्वत्त्वमें लगाया है इस कारण बुद्धिपूर्वक कषाय न रही, अबुद्धिपूर्वक तो ९ वें गुणस्थान तक भी चलती, १० वें गुणस्थानमें भी चलती। यहाँ यह समझना कि जब आश्रयभूत इन साधनोंमें उपयोग जुटाते हैं तो यहाँ बहुत बड़ा दुष्परिणाम होता है और उसका निमित्त पाकर फिर विशेष कर्मबंध होता है।

२४८—उपादान, निमित्त व आश्रयभूत कारणोंके परिचयका लाभ—

यहाँ तीन बातें समझिये-निमित्त, उपादान और आश्रयभूत। उपादान है जीव स्वयं, निमित्त है कर्मोदय और आश्रयभूत हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, इच्छा, प्रतिष्ठा आदि ५ इन्द्रिय और मनके विषय, ये सब है आश्रयभूत कारण। आश्रयभूत कारणका कार्यके साथ, विकारके अन्वय व्यतिरेक सम्बंध नहीं है। आश्रयभूत कारण अगर उपस्थित हो तो जीवमें कषाय जगे, ऐसा कोई सम्बंध नहीं, इसलिए इसको उपचरित कारण कहा जाता है, पर निमित्तभूत कर्मको उपचरित कारण नहीं कहा जाता, क्योंकि इसका विकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध है। तो यह स्थिति हुई विकारकी निष्पत्तिमें ऐसा जब हम जानते है तो कितना उत्साह जगता है कि ये परभाव हैं, इनसे हटें, ये मेरे कुछ नहीं, इनसे हटकर अंतरंगमें निज सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव करें। हाँ तो एक साथ नाना प्रकारके बंधन उपाधिका सन्निधान होनेसे यह तुरन्त हुआ जो अस्वभावभाव है, कुछ संयोग है ना इसलिए उपाश्रयोंमें उपयुक्त हो गया। अब देखो जैसे स्फटिकमें, दर्पणमें सन्निधानकी चीज सामने आने से प्रतिविम्ब हो गया और उसकी स्वच्छता ढक गई, इसी प्रकार आत्माका स्वभाव तो ज्ञायक स्वरूप है, सहज ज्ञायकस्वरूप है, मगर वह प्रतिफलन हुआ, अनुभाग आया, उससे वह स्वच्छभाव तिरोहित हो गया, उससे विवेक ज्योति समाप्त हुई, अज्ञानी जीव अब देहमें जीवमें भेद नहीं कर सकता, कषायमें जीवमें भेद नहीं कर सकता। विकल्पमें और अंतस्तत्त्वमें भेद नहीं बता सकता। जब भेद न रहा तो वह उन्हीं विभावोंको, जो पौद्गलिक कर्मके प्रतिफलनरूप थे उन ही विभावोंको जो कि पौद्गलिक कर्मका प्रतिफलन रूप थे उनको ही यह अपनाने लगा है। ये परभाव हैं, ये अन्य भाव हैं, लेकिन इनको यह अपनाने लगा। ये मेरें हैं, ये मेरे हैं, यह मैं हूँ, इस प्रकारकी इसकी विकल्प वृत्ति चलती है उसको ही तो तोड़ना है।

२४९—पर पदार्थसे आपत्तिका प्रभाव—

भैया आपत्ति यह नहीं कि धन कम हो गया, घर गिर गया या परिवारका कोई गुजर गया, आपत्ति तो यह है कि उन परिस्थितियोंमें यह जीव जो मानता है कि हाय मेरा था, वह मेरेसे निकल गया, उससे मुझे बड़ा आराम था, बड़ा सुख था, ऐसा जो उसके सम्बंधमें मान रखा, एक कल्पना कर रखा बस उससे वह दुःखी है। दुःख होता है तो अज्ञानसे, भ्रमसे, मिथ्या कल्पनाओंसे। धनसे, मकानसे अथवा परिजनोंसे किसीको दुःख नहीं मिलता। तो यहाँ आचार्य संत समझाते हैं कि अरे भाई तुम क्यों अपने आत्मप्रभुका घात कर रहे हो? उन दुःखोंमें, उन आश्रयभूत स्थितियोंमें जुटकर क्यों आत्माका घात करते हो, उनको छोड़ो और इन ज्ञेयोंको ज्ञानमें मिलाकर मिश्रित स्वाद क्यों ले रहे हो? ये तो बाह्य पदार्थ हैं, कोई अज्ञानी हो, मिथ्यादृष्टि हो तो भी स्वाद नहीं ले सकता, परका, क्योंकि एक द्रव्य

दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता। मगर, अज्ञानी क्यों कहलाता कि उस ज्ञेयको, ज्ञानमें बसाकर स्वाद तो ले रहा ज्ञानका और मान रहा ज्ञेयका स्वाद तो ज्ञेय ज्ञानका मिश्रण कर स्वाद ले रहा, इसलिए भाई वह अज्ञानी है सो इस मिश्रणका स्वाद न लें। उसमें ज्ञेयको हटाकर एक ज्ञानमात्रका स्वाद लें। तो बन जावो एक साक्षी इस शरीरके पड़ोसी और अपने आपमें ज्ञानमात्र एक निज अंतस्तत्त्वका अनुभव करो, मिलेगा अनुभव, होगा विशुद्ध आनन्दका अनुभव। बस इसको सिद्धि हो गई तो उस आनन्दके अनुभवसे इसे यह सब विदित हो जायगा कि ये बाहरी पदार्थ बेकार हैं, असार हैं, इनमें क्यों उपयोग फसाना। इनको क्यों अपना मानना ? मैं अब तक भ्रमसे अपना मानता था।

२५०—भ्रम समाप्त होनेपर आपत्तिका हटाव—

सामने पड़ी थी रस्सी और भ्रम यह हो गया कि यह साँप है, तो इस भ्रमके कारण वह बड़ा आकुलित हो रहा, घबड़ा रहा, हाय मेरे कमरेमें साँप है। यह रहेगा तो काट लेगा, यों वह घबड़ाता है, चिल्लाता है। पर कुछ थोड़ी धीरज रखकर सोचता है कि जरा देखें तो सही कि कौन सा साँप है। जब वह कुछ आगे बढ़ा तो समझमें आया कि अरे यह तो कुछ हिलता डुलता भी नहीं, फिर कुछ और आगे बढ़ा तो देखा कि अरे यह तो रस्सी सी मालूम होती। फिर कुछ आगे और बढ़ा, उठाकर देखा तो वह कोरी रस्सी थी। लो उसको सही ज्ञान हो गया कि अरे यह तो रस्सी है मैं व्यर्थ ही इसमें साँपका भ्रम किए था। अब वह पहले जैसा नाटक दिखा तो दे, नहीं दिखा सकता। वैसी घबड़ाहट अब वह नहीं कर सकता। पसीनेका आना, भीतरमें बड़ा क्षुब्ध हो जाना, बड़ी घबड़ाहट हो जाना, ऐसा नाटक अब वह न खेल सकेगा, क्योंकि उसका भ्रम दूर हो गया, सही ज्ञान जग गया। ऐसे ही जब तक बाहरी पदार्थोंमें भ्रम है, यह मेरा है, यह मैं ही तो हूँ, जैसे पुत्रको देखकर ऐसा लगता कि बस तीन लोकमें सार यह ही है। तीन भुवनमें सार वीतराग विज्ञानता न कहकर उसको तो बच्चा, नाती, पोता आदि कह दो। क्योंकि इस मोही जीवके लिए तीन भुवनमें सार चीज वही लड़के नाती पोते बन रहे हैं जहाँ ऐसा अज्ञान छाया है वहाँ क्या शान्ति हो सकती है ? सब केवल गप्प बात है। कोई कहे कि हमें तो आत्माको शुद्ध शुद्ध बताने बतानेकी गप्पमें ही शान्ति हो जायगी, तो शान्ति नहीं हो सकती। भैया यह निर्णयमें आ जाय कि ये सब बाह्य पदार्थ हैं, पर तत्त्व हैं, इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा है, इसके किसी भी परिणमनसे मेरा क्या बनना है ? मेरे किसी परिणमनसे इसका क्या बनता है ? कदाचित् अनुकूल निमित्त मिल जाय तो वह तो एक योग हो गया, मगर पर द्रव्यकी अन्य द्रव्यमें कोई अधिकारपूर्वक बात नहीं हुई। भुझे कौन सुखी करेगा, कौन मेरी रक्षा करेगा ? है क्या जगतमें कोई परमाणु जो मेरे ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी रक्षा कर दे ? क्या है कोई दूसरा जीव जो मेरे आत्माको शान्त परिणमनमें ला दे, कुछ नहीं है। एक भी नहीं है। मेरे आत्मतत्त्वके सिवाय एक भी ऐसा द्रव्य नहीं कि जो मेरेको शान्त करदे। शान्तिकी भिक्षा भी क्यों, शान्त तो यह खुद है। स्वभाव इसका शान्त है। अपने शान्त स्वभावमें, निज धाममें उपयोगको बसायें, ज्ञानको बसायें, ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपको बसावें तो निजमें अनुभव जगेगा जिससे बाहरी पदार्थोंके साथ एक तत्त्वका भाव मूलसे दूर हो जायगा। तो क्या करना ? इसके लिए ? एक तत्त्वाभ्यास द्वारा सब भेद जान करके अभेद अभिन्न एक इस अंतस्तत्त्वमें अपने उपयोगको रमाना।

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये, धामोद्दाम महस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं, वन्द्यास्तेऽष्टसहस्र लक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

२५१—एक स्तवनसे देहमें ही आत्मत्वकी सिद्धिकी एक आरेका—

प्रारम्भसे यह प्रकरण चल रहा है कि देह न्यारा और आत्मा न्यारा, कषाय न्यारा, आत्मतत्त्व न्यारा, इस बातको अनेक ढंगोंसे सिद्ध करते हुए चले आ रहे हैं। ऐसी बात बहुत सुनकर कोई व्यवहारवादी अथवा व्यवहार एकान्तवादी यहाँ एक अपनी जिज्ञासा रख रहा है कि आचार्य महाराज आप यह कहते चले आ रहे हैं कि देह अलग चीज है, जीव अलग चीज है, लेकिन यह बात तो कभी कभी आपके वचनोंके ही विरुद्ध पड़ रही है आप जब स्तवन करते हैं तीर्थंकरका या आचार्य महाराजका, साधु महाराज का, तब देखो किस-किस स्वरूपसे स्तवन करते। तीर्थंकरके स्तवनमें कहा तो यों कहा कि धन्य हैं तीर्थंकर महाराज, आपने अपनी कांतिसे दसों दिशाओंको नहा डाला अर्थात् आपके शरीरकी कांति ऐसी फैली कि दसों दिशाओंमें फैल गई। तो कांति जो फैली है, दसों दिशायें जो उज्ज्वल हुई हैं वह क्या आत्माकी कांति है? वह तो देहकी कांति है। कांति तो पौद्गलिक है, वह दसों दिशाओंमें फैल गई। इससे तो जो देह है सो ही भगवान है, यह ही बात आयी तो देहसे न्यारा है भगवान आत्मा, यह बात तो न रही। देहसे न्यारा नहीं रहा आत्मा, तो अपने आपके बारेमें भी सोचना कि मैं देहसे न्यारा हूँ, यह कहाँ तक ठीक है। तो यह आचार्य महाराजसे कहे जा रहा है शंकालु कि बात तो यहाँ अन्य कुछ नजर आ रही है कि जो देह है सो ही आत्मा है। अगर देह ही आत्मा न हो तो फिर भगवानकी जो ऐसी स्तुति करते हैं कि हे भगवान आपने कांति द्वारा दसों दिशाओंको उज्ज्वल कर दिया, यह कथन कैसे बनेगा। यहाँ शंकाकार कह रहा कि हम तो यह मानते कि जो शरीर है सो आत्मा। और भी जब तीर्थंकरका स्तवन करते तो कहते कि दो तीर्थंकर हरे हैं, दो काले हैं, दो सफेद है, दो नीले हैं और बाकी स्वर्ण रंगके हैं, तो क्या आत्मा काला, हरा आदि हो रहा? कर रहे भगवान की स्तुति – दो हरिया, दो सांवला इत्यादि। तब इससे यह मालूम हुआ कि जो देह है सो ही भगवान है, सो ही आत्मा है। और यहां दिखता भी ऐसा है – पशुको देखते तो कहते कि आ गया पशु जीव, मनुष्यको देखते तो कहते कि आ गया मनुष्य जीव। तो हमारे ख्यालसे जो देह है सो ही आत्मा है, ऐसा एक शंकाकार कह रहा है। इस प्रकरणमें यह बात समझनाकि शंकाकार कह रहा है, उसका उत्तर आगे दिया जायगा कि वास्तविक बात क्या है? तो जब कई दिनोंसे आचार्य महाराज देह न्यारा जीव न्याराकी बात कह रहे तो इस शंकाकारको एक दिन कह तो लेने दो अपने मनकी बात, और देखो यह समझते रहना कि अभी यह ही शंकाकार कह रहा, अच्छा यह बात जरा बडी अच्छी तरह जल्दी भी समझमें आयगी, क्योंकि खुदकी बीती बात है। ऐसा ध्यान करके समझ लेंगे कि बात बिल्कुल ही ठीक कही जा रही, देह है सो आत्मा (हँसी)।

२५२—तेज और ध्वनिके रूपमें तथा देह लक्षणके रूपमें प्रभुस्तवनमें देहके ही आत्मत्वकी सिद्धिकी आरेका—

अच्छा, और भी तीर्थंकरोंकी स्तुति होती है कि हे भगवान आपने अपने देहके द्वारा सबको प्रभावित कर दिया। इतना तेज और किसी का नहीं। बड़े बडे तेज वाले सूर्य आदिक उनके भी तेजको तिरस्कृत कर दिया। समवशरणमें जहां तीर्थंकर विराजे हुए हैं वहाँ स्वयं इतना अद्भुत प्रकाश रहता है कि जहाँ एक कविने कह ही दिया कि हे प्रभो आपके तेजके आगे सूर्य और चन्द्रका तेज भी लज्जित हो गया। तो इस बातमें जाहिर होता है कि जो देह है सो आत्मा। देहसे निराला कोई आत्मा नहीं। यह सब एक शंकाकार कह रहा है। और, भी देखो, हे प्रभो आपका ऐसा सुन्दर रूप है कि लोगोंके

मनको हर लेता है यह । देखनेमें क्या आया ? रूप और उसी रूपको देखकर लोगोंका मन लुभा जाय बड़ा अच्छा लगे, आकर्षण हो तो देखो उस रूपसे आकर्षण हुआ ना तो भगवानको कहते है कि रूप देहमय है और देह है भगवानमय । देखो जब किसी मुनिराजके चार घातिया कर्मोंका विनाश होता तो पहले हो गया नाश मोहनीय कर्मका और १२वें गुणस्थानमें तीन घातिया कर्मका अभाव हो गया, चार घातिया कर्मोंके नष्ट होते ही इतना एक प्रभाव बढ़ता है, केवल ज्ञानी होते ही हैं कि शरीरमें कोई बृद्धपना रहेगा नहीं, शरीरके कोई टेढ़े मेढ़े अंग न रहेंगे । मुनि अवस्थामें भले हो रहा हो टेढ़ा मेढ़ा, आँखें धँस गई हो, आदमी ही तो हैं, मगर केवल ज्ञान होते ही वह शरीर सुगम सुन्दर हो जाता है । तो कितना सुन्दर हो जाता होगा ? जब एक अतिशय है कि खराब शरीर हो, बूढ़ा शरीर हो, टेढ़ा शरीर हो तो केवल ज्ञान होते ही बड़ा सुन्दर शरीर बन जाता है, तो कितना सुन्दर बनेगा कि जिससे और कुछ सुन्दर हो ही न सके । जब अतिशय हो तो वह पूर्ण अतिशय है, उस सुन्दर शरीरको देखकर लोगोंके मन हरे जाते हैं । वो कहते हैं कि हे भगवान आपके रूपने मन हर लिया । तो रूप कहाँ था ? देहमें, और भगवानका स्तवन कर रहे तो बस देह ही तो भगवान हुआ । देहसे अलग भगवान क्या ? ऐसी एक जिज्ञासा चल रही है । और भी वर्णन करते ना कि हे प्रभु आपकी दिव्यध्वनि मानो साक्षात् अमृत बरषाती है । दिव्यध्वनि क्या है ? एक शब्द पर्याय, और आपकी दिव्यध्वनि । ऐसा अभेदसे बोलते हैं तो दिव्य ध्वनि यह कोई देहसे भिन्न चीज तो नहीं है । वह इस देहकी ही तो बात है । तो ऐसे स्तवनसे जाहिर होता है कि जो यह देह है सो ही भगवान है और फिर जब यह बात कहते हैं भगवानके स्तवनमें कि हे प्रभु आपके १००८ लक्षण पाये जाते हैं याने शरीरमें ऐसे चिन्ह, रेखायें, लक्षण, और, और जो कुछ होते हों वे सब १००८ लक्षण हैं, वे सब हैं देहमें और कह रहे आपके १००८ लक्षण हैं और लिखा भी है ग्रन्थोंमें कि १००८ लक्षण हैं भगवान के, तो वे सब लक्षण देहमें है । कुछ तो यहाँ भी चलते हैं और उसी के द्वारा स्तवन किया जा रहा तो हम तो यह ही समझे कि देह है सो आत्मा है । देह है सो भगवान । ऐसा एक व्यवहारैकान्तवादी अपनी एक जिज्ञासा रख रहा है और दलील दे रहा है कि अगर यह देह ही भगवान न हो तो फिर ये जो स्तवन हैं वे सब मिथ्या हो जायेंगे इसलिए इसकी तो एकान्त रूपसे यह ही धारणा है कि जो शरीर है सो ही आत्मा है । एक ऐसा प्रश्न इस प्रसंगमें हो रहा है ।

२५३—निश्चयनय और व्यवहारनयसे प्रभुस्तुतिकी विभिन्नता—

शंकालुने कहा तो है, किन्तु विचार करनेपर समझमें आयगा कि देखो निश्चयनय और व्यवहारनय इन दो बातोंसे स्तुतिकी पद्धतिमें भेद आया है । निश्चयनय बताता है लक्षण कि एक द्रव्य है, उसमें जो गुण हैं, उसमें जो परिणति है, उसको ही निरखना, उसको ही बताना, उसका ही वर्णन करना और व्यवहारनय अथवा उपचारनयमें उस दृष्टिसे देखें तो क्या है ? भिन्न द्रव्यकी बात भिन्न द्रव्यमें लगा कर कहना, मगर कुछ प्रभाव है, उपचार भी एकदम अटपट नहीं किया जाता है । जैसे घीका घड़ा है तो लोग उसे घीका ही घड़ा क्यों कहते ? यों क्यों नहीं कह देते सीधा मिट्टीका घड़ा ? तो कुछ संबंध है, कुछ उसमें तथ्य है । एकान्ततः वहाँ पर भी अप्रयोजकता नहीं है । जिसमें घी रखा हो वह घीका घड़ा कहलाता । अब उसमें कोई निश्चयकी बात जोड़ने लगे तो वह मिथ्या है । जैसे मिट्टीका घड़ा, ताँबेका घड़ा, लोहेका घड़ा, सारी बातोंको कह लो तो मिथ्या है । कैसे है फीका घड़ा ? वह तो मिट्टीका है । ऐसे ही भगवान जिस देहमें अधिष्ठित हैं उस देहकी बात तो है और उसमें तथ्य भी है ।

सम्बंध है। तो जो परख करने वाले लोग होते हैं वे सब ओरसे परख करते हैं। निश्चय दृष्टिसे अलग अलग वस्तुको एक एक देखते हैं। देह देह है, भगवान भगवान हैं। मगर, जिस देहमें भगवान अधिष्ठित हैं उस देहके स्तवनसे भगवानका स्तवन होता है व्यवहारनयसे।

२५४—उपचारसे, व्यवहारसे किये गये स्तवनकी मुद्रायें—

अब देखो व्यवहारसे बढ़कर उपचारमें यह स्तवन कैसा चलता है-द्रोपदिका चीर बढ़ायो, सीतापति कमल रचायो। तो जिन शब्दोंमें स्तुति बोली उन्हीं शब्दोंसे उपादानरूपसे, निमित्त कर्तृत्वरूपसे अनुभवकी बात हो, तो गलत है। भगवानने कहाँ आकर द्रोपदीका चीर बढ़ाया? भगवानने कहाँ आकर सीताके कमल रचा? मगर प्रयोजन सोचो ऐसा स्तवन करना ठीक भी है याने उस द्रोपदीको, उस सीताको प्रभुके चरणकमलकी भक्ति थी वह प्रभुगुणका स्मरण करनेवाली थी, जिसके सम्यक्त्वका भाव था और प्रभुके गुणस्तवनमें प्रीति थी, विशिष्ट पुण्यबंध था, जब उस पुण्यका उदय आया तब यह अतिशय हो गया। सीताके कमलका अतिशय कैसे बना कि दो देव कहीं जा रहे थे, केवलीके दर्शनको, रास्तेमें उन्होंने देखा कि अग्निकुण्ड जल रहा है, फिर देखा कि एक सतीकी इसमें परीक्षा होनी है तो वे धर्मात्मा देव थे सो वहीं रुक गए। और सोचा कि इस जगह तो कोई अतिशय होना चाहिए, नहीं तो दुनियामें अधर्मका प्रचार बढ़ जाएगा और लोगोंमें सतित्वके प्रति अनादर हो जाएगा इसलिए उन देवोंने विक्रियासे वहाँ कमलकी रचना कर दी और जलवृष्टि कर दी। देवोंके तो विक्रिय होती है। वे विक्रियासे जो चाहे सो कर दें। तो जिस समय सीताने णमोकार मंत्रका ध्यानकर अग्निकुण्डमें प्रवेश किया उसी समय तुरन्त वे देव विक्रियासे जलरूप बन गए कमल खिल गया। तो क्या था? सीताने कोई अद्भुत भाव किया था। सो वहाँ एक प्रकारका पुण्योदय आया, उसका कहीं यह अर्थ तो न लगेगा कि जो जो स्त्री अग्निमें प्रवेश करे और न जले, पानी बन जाय सो तो है सती और अग्निपर पैर रखनेसे जल जाय सो सती नहीं, ऐसा नियम तो न बन जाएगा। वह तो उसका एक पुण्योदय था। एक घटना सुनते हैं पंजाबकी कि किसी एक पुरुषको अपनी स्त्रीके चरित्रपर कुछ संदेह हो गया। तो दोनोंमें बड़ा वादविवाद हुआ। पुरुषने यह बात रखी कि यदि तुम खूब तेज खौलते हुए तैलमें अपना हाथ रख दोगी और वह हाथ जलेगा नहीं, तो हम समझेंगे कि तुम ठीक हो, वरना हमको तुम्हारे चरित्रपर संदेह है। तो स्त्रीने खूब तेज खौलते हुए तैलमें हाथ डालना स्वीकार कर लिया। आखिर यह घटना सब जगह फैली कि इस इस तरहसे स्त्रीके चरित्रकी परीक्षा होगी तो उसका हाल देखनेके लिए बहुतसे लोग इकट्ठे हो गए। अब उस स्त्रीने क्या किया कि अपने साथमें कुछ नीमके झोंकें ले आयीं और उन कोपलोंमें वह खूब तेज खौलता हुआ तैल भिगोकर सब तरफ छिड़कना शुरू किया। तभी लोग जले और दूर भगे। सभीने कहा कि ऐसा क्यों किया? तो उसने कहा कि मैं सभीके चरित्रकी परीक्षा कर रही थी कि कौन तो चरित्रवान है और कौन हीन चरित्रका है। तो कहीं कोई आगमें प्रवेश करे और वह न जले, उस जगह कमल रच जाय, अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन जाय ऐसा कहीं सबके लिए नियम तो नहीं है। वह तो वैसा होना था सो हो गया। इस प्रकारका सीताका विशिष्ट पुण्यका उदय था कि उस समय वैसी बात बन गई। तो बात यह कह रहे हैं कि एक तो निश्चयस्तुति और एक व्यवहारस्तुति। ऐसी ही बात उस द्रोपदीकी चीरके सम्बंधकी है। उस समय द्रोपदीके विशिष्ट पुण्यका उदय हुआ कि उसका चीर बढ़ गया, उसकी लाज बच गई। तो द्रोपदी और सीताका धर्मकी आराधनाके प्रसादसे इस प्रकारका विशिष्ट पुण्यका बंध हुआ, तो यह अतिशय हो

गया । णमोकार मंत्रका पाठ किया, भगवानका गुणानुवाद किया, भगवानका ध्यान किया तो उसके प्रतापसे यह अतिशय बना इसलिए आश्रयभूत कारणमें उपचारकी बात कही जाती है कि हे प्रभो ! आपने "द्रोपदिका चीर बढ़ाया, सीता प्रति कमल रचाया ।" इस तरह कोई स्तुति करे तब तो ठीक है, मगर कोई ऐसा जाने कि भगवान आये, उन्होंने द्रोपदीका चीर बढ़ाया, सीताके लिए कमल रचाया तो यह बात मिथ्या है ।

२५५—देहकी स्तुतिसे प्रभुका स्तवन समझनेमें व्यवहारका योग—

प्रभुकी व्यवहार स्तुतिमें कहा जायगा कि भगवानकी कांतिने दसों दिशाओंको नहा दिया आदिक जो भी बात कही जायगी । और निश्चय दृष्टिसे भगवानके जो भी गुण हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द उसका स्तवन करनेसे भगवानकी स्तुति निश्चयसे होगी । और व्यवहारसे देहके स्तवनसे स्तुति होती है । अभी आपके मित्र बैठे बात कर रहे हैं और कदाचित् किसी मित्रकी टोपी या पगड़ी नीचे गिर जाय तो उसे आप कितनी सावधानीसे उठाकर उसे साफ करते और यदि गुरुत्वबुद्धिसे उठा ले तो उसे अपने मस्तकपर भी धर लेते । अब कोई यह कहे कि यह पगड़ी या यह टोपी तो उस दोस्तकी है, आप उस दोस्तकी भक्ति न करके टोपी या पगड़ीकी भक्ति क्यों कर रहे ? तो भाई वह भक्ति, वह आदर, वह महत्त्व उस दोस्तको ही दे रहा, किन्तु उसका सम्बंध उस पगड़ी या टोपीसे है इसलिए उसका भी वह आदर कर रहा । तो कुछ सम्बंध तो है यहाँ, यह व्यवहार की बात है, तो इस प्रकार व्यवहारसे देहका स्तवन करनेसे भगवानकी स्तुति कही जाती है ।

२५६—शरीरके स्तवनसे परमार्थतः प्रभुस्तवनका अभाव—

देखो जिसके अनुराग है, जिसमें भक्ति है, जो सरल हृदयका है, जो मायाचाररहित है उससे अपने आप दोनों किस्मकी भक्तिके शब्द आते हैं और एक यह ही ठान लें कि हम तो देहकी बात ही न करें, देहका स्तवन ही न करें, प्रभुकी इस मुद्राको ही न देखें, हम तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त चैतन्य-शक्तिकी बात करेंगे । यदि कभी हठमें आ जावें तो बनावटी निर्णय करके तो ऐसा कर लेंगे, चलेंगे नहीं, न वैसा भाव करेंगे, मगर सरलतासे, सुगमतासे बड़े-बडे ज्ञानी पुरुष निश्चयस्तुति करते हैं, व्यवहार-स्तुति भी करते हैं, जानते सब हैं—व्यवहारस्तवन करके एक तथ्य जानते हैं और निश्चयस्तवन करनेकी तो एक युक्ति ही बनी हुई है । तो जैसे स्तवनका उदाहरण देकर शंकाकार यह कह रहा था कि शरीर है सो भगवान है, ऐसा कहकर अपने आपके बारेमें यह निर्णय दे रहा था कि मैं आत्मा कोई अलग नहीं, जो यह शरीर है सो ही मैं हूँ, सो ठीक नहीं अब यहीं देख लो शरीरका कोई स्तवन करे—आपका शरीर बड़ा सुन्दर है, और बहुत ही सुगंध करने वाला है, ऐसी बात कोई कहे तो वह भीतर ही भीतर खुश होता कि नही ? वह क्यों खुश होता कि उसका उस शरीरसे सम्बंध है और उसने इतना अज्ञान बनाया है कि जो शरीर है सो मैं हूँ । यह उसकी बात चल रही है । ऐसी बातोंको देखकर शंकाकार कहता है कि शरीर है सो भगवान है, पर उत्तर है कि शरीर निराला है, भगवान निराले है, यह शरीर जुदा है, जीव जुदा है । शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन नहीं होता । आत्माके इस द्रव्य, गुण, पर्याय, पवित्रता आदिक के स्तवनसे आत्माका स्तवन होता है । यों तो लोग मान बैठते है, शरीरकी बात तो दूर है, अभी किसी मकानकी आप स्तुति करें – साहब आप इनको जानते है ? अजी इनका क्या कहना, इनके इतना बड़ा मकान है और मकानका दरवाजा तो ऐसा संगमरमरका, पुराने पत्थरोंका है, कि उस पर ऐसी ऐसी चित्रकारी है कि बस देखते ही बनता है । वैसी चित्रकारी तो कहीं देखनेको मिलेगी नहीं ।

विदेशी कारीगरोंने उस मकानमें सारी चित्रकारी रची है, अद्भुत चित्रकारी बनायी, इन साहबका क्या कहना है, इनके तो बड़ा पुण्यका उदय है। ऐसी बात सुनकर लोग हर्ष मानते हैं। ऐसा हर्ष मानने वालोंकी बात कह रहे हैं कि देखो जिसने मकानकी इतनी बड़ी प्रशंसा की उसके प्रति यह मकान मालिक लट्टू होकर खुश हो रहा। तो उसका अर्थ है कि इस मकानमें तो प्रशंसा लायक बात है मगर मालिकमें खुदमें कोई प्रशंसा लायक बात नहीं है। तो यह तो उसकी निन्दा ही हुई, पर वह खुश होता है कि मेरी प्रशंसा की जा रही। अरे प्रशंसा तो गुणमें है कि ये तो बड़े धर्मात्मा पुरुष है, बड़े उदार है, दीन दुःखियोंकी सेवा करते हैं, इनका हृदय बड़ा पवित्र है, यह तो हुई उसकी प्रशंसा, और मकानकी प्रशंसा कर देनेसे तो इसकी कोई प्रशंसा नहीं हुई। यह तो व्यर्थ ही कल्पनायें करके खुश होता।

२१६—व्यवहारस्तवन व निश्चयस्तवनकी अपनी अपनी उपयोगिता—

यहाँ कोई व्यवहारस्तुतिसे तो हट जाय और निश्चयस्तुतिसे अनभिज्ञ रहे तो बात नहीं बनती। कोई ऐसा करे कि व्यवहारकी बात ही न निकाली जाय और वह निश्चय निश्चयकी स्तुति करता रहे सो अथवा जब हम उसके लायक होंगे तो निश्चय स्तुतिमें प्रवेश हो जायगा आदि स्वच्छन्द वृत्तियाँ हितकर नहीं। जब तक हम मन, वचन, कायकी स्तुति कर रहे तत्त्वलक्ष्यी होकर तब तक निश्चयस्तुति भी चलती है, व व्यवहार स्तुति भी चलती है। स्तुति ग्रन्थोंमें लिखी है कायादि स्तुतिकी बात, मगर वह व्यवहारस्तुतिकी सब बात है। निश्चयनयसे तो भगवानकी पवित्रताका वर्णन करनेसे वर्णन किया गया उनका। अपने आत्माके सही स्वरूपको जानें, उसका ही आग्रह करें तो हम उस ही में रँग सकेंगे। इससे इन्द्रियविजय भी चलेगा, मोह भी नष्ट होगा, कर्म भी नष्ट होंगे मोक्षमार्गकी सब उपयोगी बातें होंगी। इस प्रकारसे ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्वके अनुभवमें यह हूँ यह आस्था बने, ज्ञानमात्र तत्त्वका भान रहे और वहीं रम जाय, जिस जिस उपायसे यह बात बन सके वह उपाय करो। उस उपायका नाम है व्यवहार चारित्र, जिस जिस उपायको करके यह आगम ज्ञान बन सके, जिस उपायको करके रुझान यह ही बने, गुणकी वह पहली पदवी वर्णन करने योग्य है। अभ्यास बढ़ायें। निश्चयनयसे मध्यके विकास का वर्णन करें और परमशुद्धनिश्चयनयसे, शुद्धनयसे शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी अनुरूपताका वर्णन करें। तो वह है निश्चयनयसे स्तुति। और शरीर महिमा बताकर गुणगान करना यह सब है व्यवहारस्तुति। अगर व्यवहारकी बात खतम कर दी जाव तो तीर्थप्रवृत्ति नहीं चल सकती और ऐसा करनेसे तो आगे होने वाली लाखों करोड़ों पीढ़ियोंका अहित किया। अगर तीर्थप्रवृत्तिका भाव न रखा तो उससे तो जनता का बड़ा अहित होगा। काम निकालें जैसे निकलता हो मगर किसी एक परिपाटीको मेटना नहीं, क्योंकि आगे भी वह परिपाटी चलती रहेगी तो लोगोंको सन्मार्ग मिलेगा। देखो शुद्ध व्यवहारसे जानें, निश्चयनयसे जानें और अपना कल्याण करें, तो इस प्रकार इस जिज्ञासुकी शंकाके समाधानमें यह बात आयी कि व्यवहारनयका स्तवन हो तो वहाँ भी वास्तविक परमार्थ बात जानना कि प्रत्येक द्रव्य है तो अपने आप, मगर यह सम्बन्धवश एक स्तवन चल रहा है। तत्त्वकी बात करते करते बहुत गहरी बात ला दें। ऐसा होते होते कुछ थोड़ा आराम भरी चर्चा हो, जहाँ एक आराम भरी चर्चा चले, वहां कोई करे देहादिका वर्णन, तो देहके स्तवनमें भी, व्यवहारस्तुतिमें भी प्रयोजन परमात्म प्रेम है और अन्तमें निर्णय यह दें कि हाँ सम्बन्ध तो है और उस सम्बंधका प्रभाव भी चलता है, मगर प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप न्यारा है। एक द्रव्यके स्तवनसे दूसरे द्रव्यका स्तवन नहीं होता। सम्बंधवश, प्रयोजनवश, अनुरागवश देहका वर्णन किया जा रहा है तो उसमें भी इस आत्माके प्रति भक्ति है। कुछ भक्तिके सम्बंधवश देहका भी

वर्णन होता है, वह व्यवहारनयसे स्तवन है, निश्चयनयसे आत्मस्वरूपका स्तवन आत्म गुण स्तवनसे है ।

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीविनिगीर्णभूमितलम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

२५२—दृष्टान्तपूर्वक व्यवहारस्तवनका वर्णन—

प्रकरण यह चल रहा है कि शरीर जुदा है, आत्मा जुदा है । भगवान जुदे हैं, शरीर जुदा है । भगवानके आत्माके गुणोंका स्तवन करनेसे भगवानकी भक्ति होती है, यह तो सुनिश्चित है ही, पर भगवानके देहके अतिशयोंका वर्णन करके भी स्तुति मानी जाती है । लेकिन यहां यह अन्तर जानना कि देहके स्तवनसे भगवानका स्तवन करना यह व्यवहारसे स्तवन है और भगवानके गुणोंका स्तवन करके भगवानका स्तवन समझना यह निश्चयनयसे स्तवन है । उसकी यहाँ बात बतायी गई, उस ही का और स्पष्टीकरण करनेके लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है, जैसे कोई पुरुष राजाका वर्णन करना चाहता है अथवा मानो राजाकी कोई बात ही वह कहना चाहता है । जैसे एक नगरका वर्णन कर रहे हैं कि यह नगर ऐसा है, क्या वर्णन कर रहे कि इस नगरके चारों तरफ तो कोट है और कोटके आसपास चारों तरफ बड़ी गहरी खाई है और उस नगरमें बहुत बड़े–बड़े मकान हैं, देखिये पहले जमानेमें नगरकी रक्षा के लिए नगरके चारों तरफ कोट बनाया जाता था । जैसे बहुतसे नगरोंमें बने हैं जयपुरमें बना उदयपुर में बना है, दिल्लीमें भी जैसे कोट बना है ना, वह केवल एक बादशाहकी रक्षाके लिए बना है और सारी प्रजाकी रक्षाके लिए कोट बने हैं ऐसे भी बहुतसे शहर हैं । जैसे उदयपुरमें देखो तो सारा नगर कोटसे घिरा हुआ है । दरवाजेसे नगरमें जाना होता है । तो नगरकी रक्षाका वह एक साधन था । अब तो वे कोट बेकारसे हो गए क्योंकि अब तो हवाईजहाज चलने लगे । पहले जमानेमें जब हवाई जहाज न थे तो नगरकी रक्षाके लिए नगरके चारों ओर कोट हुआ करते थे । उससे नगरके राजाकी एक खासियत जानी जाती थी । बड़े नगर हैं, अच्छे लोग हैं, अच्छा राजा है, समझदार है, ये सब बातें समझी जाती थीं और उस कोटके नीचे एक गहरी खाई रहती थी जिसमें पानी भी भरा होता था । कोट तक पहुंचना भी कठिन हो, यह भी एक रक्षाका साधन था । तो इन्हीं बातोंको लेकर कोई नगरका वर्णन करे कि क्या कहना है उस नगरका । वह नगर तो ऐसे बड़े बड़े विशाल महलोंसे सज्जित है कि जिन महलोंने मानों आकाशको खा रखा है । आकाशको खा रखा के मायने वे महल बहुत ही ऊँचे हैं । यह एक कवि-जनोंकी अलंकारमें कहनेकी भाषा है । आकाश होता है बहुत ऊँचा और महल खा रहे हैं आकाशको मायने बड़े ऊँचे ऊँचे महल हैं । एक बार अहमदाबादमें हमसे वहांके लोग कहने लगे–महाराज जी यहाँ तो मकान बनानेके लिए नीचेकी भूमि बहुत मँहगी पड़ती है मगर आकाश बहुत सस्ता पड़ता है ।.... कैसे ! ....यों कि जमीन तो नीचे थोड़ीसी मिल पाती है बड़ी रकम लगाकर कोई एक कमरेकी पा गया कोई दो कमरेकी, पर उसके ऊपर चाहे जितने मंजिल बनाते चले जावो ४–५–६ वहाँ कोई रोकने वाला नहीं । तो आकाश सस्ता है, पर जमीन बढ़ी मंहगी है । तो मकानको ऊँचे उठानेके मायने आकाशसे मिलना । तो नगरका वर्णन किया जा रहा है ।

२५३—दृष्टान्तपूर्वक व्यवहारस्तवनसे निश्चयस्तवनके अभावका कथन—

नगरका कितना ही वर्णन करें कहीं नगरका वर्णन करनेसे राजाका वर्णन बन जायगा क्या ? यह बात बताते है । किस बातके लिए यह उदाहरण है कि इस देहका कोई कितना ही वर्णन करे पर देहका वर्णन करनेसे क्या भगवानका वर्णन हो जायगा ? जैसे कि नगरका वर्णन करनेसे राजाका

वर्णन नहीं होता। मगर कोई राजाके ख्यालसे नगरका वर्णन क्यों कर रहा है तो थोड़ा अधिष्ठाता, अधिष्ठेयका तो सम्बंध है, अब नगरका अधिष्ठाता है राजा लोकव्यवहारसे, इसलिए लोग नगरका वर्णन करने लगे एक राजाका वर्णन हो जाय इस ख्यालमें, मगर वस्तुतः नगरका वर्णन करनेसे राजाका वर्णन नहीं होता। कितना ही वर्णन हो, अथवा इतना बड़ा कोट है, इस कोटने भी आकाशको खा डाला और नगरके बगीचोंकी भी कुछ बात कहना चाहे कि इन बगीचोंने तो सारी भूमिको खा डाला। याने ये तीन ही बातें हैं ऊपर नीचे और समतल। तो ऊपर सारा आकाश खा डाला कोटने और मकानोंने। खा सकता है क्या ? नहीं, पर एक कविकी अलंकारकी भाषा है, उसमें यह बताया है कि इतने ऊँचे मकान हैं, और समतल भूमिको इन बगीचोंने खा डाला है, मायने बहुत बड़े आकारमें बगीचोंने इस भूमिको घेर लिया है, और चारों तरफकी खाईको पातालने खा डाला है मायने बड़ी गहरी खाई हैं ऐसा नगरका वर्णण करते हैं। यद्यपि नगरका अधिष्ठाता है वह राजा, लेकिन मकानका वर्णन करनेसे उन बगीचोंका वर्णन करनेसे, किलेका वर्णन करनेसे कहीं राजाका वर्णन नहीं हो जाता। राजाका वर्णन तो तब होता है जब यह कहा जाता कि यह राजा उदार है, गरीबोंका रक्षक है, जो प्रजासे टैक्स लेता है उस टैक्समें से अपने लिए कुछ खर्च नहीं करता। जैसे और नगरके लोग हैं वैसे ही राजा भी अपनी कुछ भूमि वगैरह जायदादसे अपना गुजारा करता है, इतना निष्पक्ष निर्लोभ है, प्रजासे वसूल किए हुए धनको प्रजाके काममें खर्च करता है, बड़ा न्यायप्रिय है,तो इस तरहसे राजाका वर्णन होता है। सो जैसे नगरका वर्णन करनेसे कहीं राजाका वर्णन नहीं होता इसी प्रकार तीर्थंकरके देहका वर्णन करनेसे तीर्थंकर भगवानके आत्माका वर्णन नहीं होता। और की ती बात क्या ? यहाँ तक सोच सकते हैं आप कि हुए तो हैं ऋषभदेव तीर्थंकर भगवान् मगर जो ऋषभदेव है,वह भगवान नहीं, जो भगवान है वह ऋषभदेव नहीं, देखिये यह बात सच कह रहे हैं क्योंकि जो ऋषभदेव हैं वे भगवान क्यों नहीं ? सब तो कहते हैं कि ऋषभदेव भगवान हुए, चौबीसों तीर्थंकर भगवान हुए, यहाँ कह रहे कि ऋषभदेव भगवान नहीं तो एक निश्चय दृष्टिसे सोचो। प्रशंसामें तो ऐसा भी अलंकार बना कि है तो ऋषभदेव नाभिके पुत्र, पर नाभिसे उत्पन्न हुए, इसका अलंकार क्या बना कि विष्णुकी नाभिसे हुए और लोग भी तो कहते है कि ब्रह्मा विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न हुए, और चित्र भी रखते है कि विष्णु विराजे हैं, उनकी नाभिसे कमल निकला और उस कमलके ऊपर ब्रह्मा विराजे हैं। अरे वह इसीकी फोटो है, एक अलंकारसे वर्णन बन गया। नाभि राजा थे। उस नाभि राजासे ऋषभदेव उत्पन्न हुए और वे ऋषभदेव भगवान बनकर समवशरणमें चतुर्मुख थे और वहाँ जो कमल रचा उसके ऊपर चारों ओर अंतरिक्ष बिराजमान थे। यह बात स्तुतिमें कही थी, पर धीरे-धीरे जैसे जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे उसका रूपक बिगड़ता गया। कोई लोग कहते कि भगवान विष्णु हैं, वहाँ नाभिकमल बना और उससे ब्रह्मा हुए। पर असलियत यह थी कि नाभिराजा थे और उससे उत्पन्न हुए ऋषभदेव, और वे भगवान बने फिर कमलके ऊपर चार ओरों अंतरिक्ष विराजमान हुंए। तो देहादिकी स्तुतिसे प्रभुकी स्तुति निश्चयतः नहीं होती।

२६०—अलंकारमें वर्णित देवी देवताओंके कथनकी रिसर्चकी आवश्यकता—

इस विषयमें कोई पी. एच. डी. नहीं करता कि जो देवीदेवताओंकी बात मानी जाती है आखिर मौलिक बात क्या है। दुर्गा, सरस्वती, चंडी, शीतला, काली, भैरव क्षेत्रपाल, चन्द्रघंटा आदि आदि देवी देवताओंकीजो सकल मानी जाती है आखिर उसका असली रूप क्या है? देवियोंमें दुर्गादेवीका नाम बहुत लिया

जाता है। वह दुर्गा देवी क्या है। मानलो चार प्रकारके देवोंमें भवनवासी, व्यंतर, वैमानिक और ज्योतिषीमें मानो कोई दुर्गादेवी है, सो तो ठीक, पर धर्मसे उसका जुटाव क्या, और धर्मसे जुटाव बने तो उसका अर्थ क्या ? देखो दुर्गाकी आराधना किए बिना मोक्ष न मिलेगा, यह बात हम (प्रवक्ता) ठीक कह रहें है, यह कोई मजाककी बात नहीं मगर वह दुर्गा क्या–दुःखेन गम्यते, प्राप्यते या सा दुर्गा–जो बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हो सके उसका नाम है दुर्गा। तो ऐसी कौनसी चीज है जो बड़ी कठिनाईसे प्राप्त की जाती है ? यह जीव क्या पाता है अपनेमें ? अपने भावोंको पाता है, इसके सिवाय और कुछ तो नहीं पाता। बाहरी पदार्थ हैं, उनसे हम क्या पायेंगे, क्या छोडेंगे ? पाना तो अपने आपमें है। जो अपनी परिणतियाँ हैं उनको ही पाता है यह जीव। तो उन परिणतियोंमें कौनसी ऐसी परिणति है जो बड़ी कठिनाईसे पायी जाय। विचार करो, वह परिणति है विशुद्ध चैतन्यस्वरूपके अनुभवकी, सो आत्मानुभव कहो, आत्मानुभूति कहो, उस स्वानुभूतिका नाम है दुर्गा। अब बतलाओ स्वानुभूतिके पाये विना कोई मोक्ष जा सकता है क्या ? तो इसका यही निष्कर्ष है कि दुर्गाकी आराधना विना मुक्ति नहीं। अच्छा यह तो हुआ शब्दकी ओरसे अर्थ, अब जरा उसका रूपक देखो, तो लोगोंने चूँकि उसका मौलिक रूप, असलियत नहीं पाया, इसलिए उसके मानने वालोंमें कुछ गड़बड़ी हुई, और जो असली बात है उसको भूल गए। इस दुर्गाके दो रूप बदले–एक तो कालीका रूप और एक सरस्वतीका रूप अच्छा तो देखो वह भी बिल्कुल सही है, कैसे सही है बतलाओ। देखो यह जो दुर्गा है अपने अन्दर विराजमान, प्राप्त की हुई। स्वानुभव, आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति, इसके दो रूप बनते हैं-आत्मानुभूतिका एक रूप है ज्ञानानुभूति और एक रूप है–सर्वभावान्तरध्वंसी। दोनों रूप आप अध्यात्मशास्त्रमें पायेंगे। ज्ञानानुभूतिके दो रूप धर्म हैं। ज्ञानानुभूति वह तो हुई सरस्वती और सर्वभावान्तरध्वंसी वह हुई काली। काली कौन ? कलयति भक्षयति रागादिशत्रून् इति काली, अर्थात् जो इन रागादि शत्रुओंका भक्षण कर डाले उसे कहते हैं काली। वह काली किसका रूप है ? आत्मानुभूतिका रूप है। यह तो हुआ एक उसका तेजस्वीरूप, मगर उसकी सौम्य मुद्रा क्या है ? एक तो तेजकी मुद्रा और एक है सौम्य मुद्रा। आत्मानुभूतिकी दो मुद्रा हैं, एक तो तेज मुद्रा है—सर्वभावान्तरध्वंसी, जितने भी विभाव हैं, जितने अनात्मतत्त्व हैं उन सबको ध्वंस करनेकी मुद्रा स्वानुभूतिमें है और आत्मानुभवकी सौम्य मुद्रा क्या है ? ज्ञानानुभूति। जहाँ समता है वहीं सरस्वतीका रूप है।

२६०—देहके स्तवनसे प्रभुका स्तवन मान लेनेमें व्यवहार अथवा उपचारका सहयोग—

बात यह कह रहे थे कि तीर्थंकर महाराजके नाम या देहके वर्णनसे भगवानके आत्माका, केवलीका वर्णन नहीं होता, तब नाम अलग चीज है, परमात्मतत्त्व अलग चीज है। परमात्माका वास्तवमें कोई नाम ही नहीं। एक अविकार सहज मुद्रा है, प्रचण्डज्योतिस्वरूप, एक ऐसी ज्ञान ज्योति है उसका नाम भगवान है। अच्छा और प्रभाव भी देखो जब आप ऋषभदेव इस तरहका ध्यान कर रहे हों तो वहाँ प्रमुखता किसकी होती है ? एक मुद्राकी। आकारकी, विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जो सर्व परभावोंसे रहित है, जो एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप कारण समयसारका प्रगट रूप है उस रूपकी मुख्यता नहीं आयी अभी। स्तवनमें अवश्य है, क्योंकि जिन्होंने मुक्ति पायी है उन भगवानके नामका जाप जपना शृङ्गार स्तवनकी लाइनमें है मगर जो अंतस्तत्त्व है, उसकी ओरसे देखो, वह विलक्षण है, उसका स्तवन करनेसे प्रभुका स्तवन होगा। देहका स्तवन करनेसे प्रभुका स्तवन न होगा। जैन शासनकी निष्पक्षताका क्या वर्णन करें, पूर्ण निष्पक्ष है। इसका व्यक्तिमें पक्ष नहीं, इसका जातिमें पक्ष नहीं, इसका कथनीमें पक्ष नहीं, यह तो सही

वस्तुस्वरूपका वर्णन करता। जो भगवान है वह वस्तुस्वरूपका, आत्मस्वरूपका पूर्ण विकास है। उसका नाम भगवान है। ऐसा ही चित्त बने, ऐसी ही दृष्टि बने, ऐसा ही मूड बने वहाँ धर्मका प्रादुर्भाव होता है। तो यों समझिये कि जैसे नगरका वर्णन कर देनेसे कहीं राजाका वर्णन नहीं हुआ करता, ऐसे ही तीर्थंकरके देहोंका वर्णन करनेसे वस्तुतः परमार्थतः निश्चयसे भगवान आत्माका वर्णन नहीं होता, मगर लौकिकजन करते हैं नगरका ही वर्णन। फलाने राजाका क्या कहना ? ऐसा सुन्दर नगर है कि जिसमें बड़े ऊँचे ऊँचे मकान है, ऐसा कोट हैं, और वहाँ के लोग बड़े आरामसे रहते हैं, सब लोग खूब आरामसे धर्म साधना करते हैं, यों खूब वर्णन कर रहे, लोगोंका वर्णन कर रहे, मकानोंका वर्णन कर रहे और समझ रहे कि हम राजाका वर्णन कर रहे तो जैसे नगरका वर्णन करनेसे राजाका वर्णन होना वह एक-मात्र व्यवहार और उपचार है, ऐसे ही देहका वर्णन करनेसे प्रभुका वर्णन हो जाता, यह बात व्यवहारसे है।

नित्यभविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ।। २६ ।।

२६१—जिनेन्द्ररूपकी सुन्दरता—

जिनेन्द्र भगवानका उत्कृष्ट रूप क्षोभरहित समुद्रकी तरह गम्भीर है। देखो जहां क्रोध नहीं, रहा, मान नहीं रहा, माया नही है, लोभ नहीं है उसका चेहरा, उसकी मुद्रा क्षोभरहित गम्भीर होती है। जहाँ कि हवा नहीं चल रही, तरंग नहीं उठ रही, वहाँ एक समुद्र अपने आप गहरा गम्भीर है इस तरह की मुद्रा जिनेन्द्र भगवानके रूपमें झलक रही है। बतलावो सुन्दर कौन ? पुरुष हो, स्त्री हो, सुन्दर किसे कहेंगे ? लोकमें तो उसे ही सुन्दर कहते ना जिसका रूप गौर हो ! या जैसा कुछ माना हो, वह सुन्दर है। तो जो गौर वर्णवाला यदि क्रोधी है, गाली बकने वाला है और जिस चाहेको दुःख उत्पन्न करने वाला है, दगा देने वाला है उसकी सकल सुन्दर लगेगी क्या ? खूब व्यवहारसे देख लो, और जिस समय कोई क्रोध कर रहा हो उस समय कोई कैमरेसे उसकी फोटो ले ले तो फिर देख लो उसकी कितनी भद्दी फोटो आती है पर अक्सर करके होता ऐसा है कि जब कोई कैमरा लेकर क्रोधीका फोटो उतारने आता तो वह अपने क्रोधको शान्त कर लेता है, क्योंकि ज्ञान साथ चल रहा है, वह इतना तो जानता है कि अगर ऐसे क्रोधकी मुद्रामें फोटो उतर जायगी तो हमारा बड़ा अपमान होगा, गंदी सकल रहेगी। तो चलो यह भी अच्छा है कि कैमरेसे फोटो लेते समय उस क्रोधी पर कुछ असर तो पड़ता। तो जब कोई क्रोध कर रहा हो तो वहाँ सुन्दरता रहती क्या ? नहीं रहती। ऐसे ही जब कोई मान कर रहा हो तो उसके भी नाक भौंह ऊपर चढ़े हुए होते हैं, वह दूसरोंको तुच्छ देखता है तो वहाँ भी कुछ सुन्दरता रहती है क्या ? नहीं रहती। मायाचार करनेवालेकी मुद्रा तो बहुत ही बिगड़ जाती है, उसको अन्दरसे बड़ा भय और कड़ा शल्य बन जाता है। लोभ कषाय वालेको देख लो वहाँ भी सुन्दरता नहीं रहती। और कोई स्त्री हो या पुरुष, श्याम वर्णका है, किंतु मंदकषाय है, परोपकारी है तो वह मनोज्ञलगता। काला वर्ण तो भगवानके भी बताया गया, नेमिनाथ भगवान और पार्श्वनाथ भगवानको श्यामवर्ण कहा गया उनके स्तवनमें उन्हें साँवरिया कहते हैं। और पार्श्वनाथको तो लोग राधेश्याम कह सकते हैं। तो राधेश्याम का अर्थ क्या ? राधा मायने सिद्धि, सिद्धि अर्थमें राधा कहा है। समयसारमें जहाँ अपराध शब्दकी व्याख्या किया है वहाँ बताया है कि जिस भावमें राधा न रहे वह भाव अपराध है। जब तक राधा रहे तब तक जीव अपराधी नहीं। राधा मायने स्वानुभूति, राधा मायने आत्मसिद्धि। ऐसी जो राधाकी

सिद्धि है ऐसे श्याम। यों अनेक तरहसे उसका वर्णन किया तो सुन्दरता वहाँ जची कि नहीं ? लोग कहते है छवि बड़ी ठीक है रूप जरूर काला है मगर छवि बहुत अच्छी है, उस छविका अर्थ क्या है ? शान्त है, क्रोध नहीं आता, घमंड न हो, लोभ न हो, ऐसा मुख बड़ा अच्छा लगता, तो सुन्दरता किसमें, हुई ? कषाय न करनेमें सुन्दरता आयी। चमड़ीसे सन्दरता नहीं आती। देहमें सुन्दरताकी जो झलक है वह कषाय न होनेसे झलक है, तो भगवान तो वीतराग हैं, अकषाय हैं। जहाँ कोई कषाय नहीं तो उनका रूप इतना परम गम्भीर है कि क्षोभरहित समुद्रकी तरह गम्भीर है।

२६३—जिनेन्द्ररूपकी अविकारसुस्थितता—

भगवानका शरीर और कैसा है ? अविकार होनेकी वजहसे सारे अंग सुस्थित है। अभी जिसके अन्दर क्रोध हो उसके हाथ मुख ये भी चलते हैं, हिलते हैं, कभी कभी तो इतना क्रोध आ जाता कि बोला भी नहीं जाता और क्रोधमें कोई बोले तो उसका बोल साफ न निकलनेसे समझमें भी नहीं आता। जैसे घरका कोई बड़ा व्यक्ति बच्चोंको देखकर जोरसे नाराज होकर चिल्लाता है तो उसके मुखसे साफ साफ शब्द निकलते तो नहीं, और वे छोटे छोटे बच्चे भी उसका कुछ अर्थ समझ पाते नहीं। चलो यह भी अच्छा है जो समझते नहीं, किन्तु वे यह तो समझ लेते कि वास्तवमें पापाजीने अपने नामको सार्थक किया है। क्योंकि एक तो पाप और एक पापा। पापसे पापा बड़ा है, जैसे कलसियासे कलसा बड़ा हुआ। यदि वे बच्चे उस अस्पष्ट बोलीको समझते होते तो वे भी जान जाते कि पापाजीने वास्तवमें अपने नामको सार्थक किया। देखो तेज गुस्सा आनेपर बोल साफ नहीं निकलता। तो जहाँ कषाय है वहाँ सुन्दरता नहीं। उसके अंगमें सुस्थितता नहीं। तो भगवान अविकार है, राग द्वेष रहित है, अतएव उनके सर्वांगोंमें सुस्थितता है, और उनकी मुद्रा देखो, उनकी प्रतिमा ही तो बनाते हैं, पैर स्वस्थ, शरीर सही, आँख, नाक, कान आदि सर्वांगोंमें सुस्थितता आयी है, वह किसका प्रभाव है ? वह प्रभाव है निर्विकारताका। एक बार हम गुरुजीसे बात कर रहे थे, बात चली ब्रह्मचर्यके विषयमें, तो तो वहाँ गुरुजीने कहा कि यह ब्रह्मचर्यव्रत बहुत ऊँचा है और बड़ा कठिन है। फिर गुरुजो बोले कि भाई यह ब्रह्मचर्य व्रत तो हमसे भी ठीक ठीक नहीं चल रहा। हमने कहा कैसे ठीक–ठीक नहीं चल रहा ? तो उन्होंने कहा कि देखो कोई स्त्री दर्शन करने आयी तो उस समय हमारे नेत्र नीचे होने लगते है, भगवानके नेत्र तो नहीं किसीको देखकर लज्जासे नीचे होते। तो किसी स्त्रीको देखकर आँख उसकी ओरसे हटाकर नीचे कर लेना यह भी तो कुछ दोषकी बात है। आँखें सीधी जैसी थी वैसी क्यों न रही, ये नेत्र उस स्त्रीकी ओरसे हटकर पृथ्वीकी ओर क्यों गए ? देखिये १८ हजार दोषोंमें इसे भी एक दोष बताया है, तो उनका कहना है कि इस प्रवृत्तिमें भी ब्रह्मचर्यकी कमी सिद्ध होती है याने निवृत्तिका तो कोई रूप रख रहा हो और उसकी ऐसी प्रवृत्ति बने तो वह भी एक ब्रह्मचर्यमें कमी है। देखिये– गुरुजीका यह एक कितना गम्भीर उत्तर था। तो जब किसी भी प्रकारकी कषाय नहीं रहती, अविकार हो गए, निर्विकार हो गए तो सर्वांग उनके सुस्थित हैं। यह प्रभुके शरीरका स्तवन चल रहा है।

२६४—जिनेन्द्ररूपका सहज लावण्य—

और कैसे है वे प्रभु। अपूर्व सहज सुन्दरता जहाँ प्रकट है। अच्छा एक बात और परख लो, जरा खुद भी जान जाँय, स्वानुभवके समय जब आत्मदृष्टि हो रही, स्वानुभूति हो रही, आत्माकी ओर ध्यान जग रहा उस समय मुखके ऊपर आई मन्द स्मित मुद्रा विलक्षण प्रकारके आनन्दको दर्शाती है, एक अत्यन्त मंद अपूर्व मुस्कान होती, आत्मीय आनन्दका एकरूप प्रकट मुखपर आ जाता है स्वानुभूतिके समय

आत्मध्यानके समय उस प्रकारके आनन्दकी मुद्रा अन्य किसी बातमें तो हो नहीं सकती । यह तो पुद्गल की ही बात हम कह रहे । जो मुद्रा इस मुझमें, इस स्वस्थितिमें है, आत्मानुभवके समय जो बात बनती है वह मुद्रा आपके किसी भी वैषयिक सुखमें नहीं बनती, उसकी मुद्रा ही अलग है । तो भला जो कषाय रहित पुरुष हैं उनके तो निरन्तर आत्मानुभव है । हम लोग तो कभी कभी कर पाते, पर भगवान तो अनन्तकालके लिए अनन्त आनन्दरसमें लीन है । तो वहाँ अपूर्व सहज सुन्दरता है ऐसे जिनेन्द्र देव जो उत्कृष्ट रूपवान, क्षोभरहित समुद्रकी तरह हैं वे जयवंत हैं । प्रभु मनको हरने वाले हैं, ऐसी भगवानकी स्तुति की ।

२६५—शरीरस्तवनसे प्रभुस्तवन न होनेका कारण—

देखो शरीरकी स्तुति करनेसे, प्रभुस्तुति नहीं होती यद्यपि उस शरीरके अधिष्ठाता तीर्थंकर देव हैं, एक क्षेत्रावगाह हैं, कुछ सम्बंध भी है, नहीं तो केवलज्ञान हो जानेपर शरीरमें अतिशय क्यों हो जाता केवलज्ञानसे पहले ही १२वें गुण स्थानमें निगोद जीवोंका नष्ट होना शुरू हो जाता है । १२वें से १३वें में आ गए, अरहंत बन गए तो वे १२वें में निगोद हैं अभी । वहाँ निगोद कैसे समाप्त होता? तो उसका सब करणानुयोगमें वर्णन किया गया । जैसे कषायोंके नाश करनेके लिए स्पर्धक बताये गए, कब कैसा होता है । यहाँ पर भी कोई जीव मरा तो अपनी आयुसे मरता है, वहाँ तो एक श्वाँसमें आठ दस बार मरण होता है । नया निगोद जन्मता नहीं, पुराने मर जाते, सो इस तरहसे १२वें गुणस्थानके अन्तमें उनका देह निगोदरहित हुआ कि केवलज्ञान हुआ । आत्मध्यानमें अतिशय तो है कि शरीर भी प्रभावित हो गया, भगवान बन गए । कोई शरीर भी भगवान बननेसे पहले वृद्ध था, पर भगवान होनेपर जवान शरीर रहता है । वह बालक तीर्थंकर है तो क्या, वहाँ एक समान शरीर मिलता है । तो शरीर का अधिष्ठाता यद्यपि जीव है तो भी शरीरके वर्णन करनेपर भगवानका वर्णन क्यों नहीं होता कि जो बात कह रहे हो कि सारे अंग सुस्थित है पूर्ण सुन्दरता आ गई तो यह देह ही तो है, आत्मा तो नहीं है इसलिए यह भगवानका वर्णन नहीं हुआ । भगवानका वर्णन तो भगवानके गुणोंका वर्णन करनेसे ही होगा ।

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया–न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः, स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे–न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरवलादेकत्वमात्माङ्गयोः ।।२७।।

२६६—शरीर और आत्माका वास्तवमें एकत्व न होनेसे देहस्तवनसे प्रभुस्तवनकी असंभवता—

इस प्रकरणमें यह समझाया जा रहा था कि देह निराला है, जीव निराला है, और इससे भी और गहरी बात कही जा रही थी कि जीवमें जो विकार जगते हैं उपाधिसान्निध्य पाकर, उनसे आत्मतत्त्व न्यारा है, और इससे भी गहरी बात चल रही थी कि विचार तरंग ये न्यारे हैं, आत्मस्वरूप न्यारा है । चला खूब प्रकरण, लेकिन बीचमें एक जिज्ञासुने टोक भी दिया महाराज अभी कुछ ठीक–ठीक समझ में नहीं आया । हमको तो यह दिख रहा है कि शरीर है सो ही भगवान है ! शरीर है सो ही आत्मा है । यदि ऐसा न हो तो फिर ये स्तुतियाँ कैसे ठीक रहतीं ? फिर तो मिथ्या हो जातीं । यों कहना कि दो भगवान हरे रंग के हैं, दो तीर्थंकर नील वर्ण के हैं, अमुक ऐसे हैं, शरीरकी बड़ी काँति है, दिव्यध्वनि बड़ी अमृतमयी है, इस तरहकी जो स्तुतियाँ हैं वे यह सिद्ध करती हैं कि देह है सो ही भगवान है ।

इसका उत्तर दिया गया है संक्षेपमें कि यह जानें कि देह स्तुतिसे तो व्यवहारनयसे स्तवन होता है। देह की स्तुति करनेसे भगवानका निश्चयसे स्तबन नहीं होता। आत्माके गुणोंका स्तवन किया जाय तब ही केवली भगवानकी स्तुति कहलाती है। इसी बातको एक निष्कर्ष और उपसंहार रूपसे कहते हैं कि शरीर और आत्माका व्यवहारसे तो एकत्व है, किन्तु निश्चयसे नहीं, यह अखण्ड पदार्थ है आत्मा अपनेमें परिपूर्ण। अब देखो—तब ही तो इस प्रकरणमें उपाय सोचा है तो क्या यह बंधन जो वर्तमानमें है यह क्या झूठा है ? झूठ तो नहीं, आज हो तो रहा सब, हाँ स्वरूप जरूर दोनोंका अलग अलग है। जैसे एक हाथने दूसरे हाथको जकड़ लिया, मरोड़ दिया, पकड़ लिया तो यह परतंत्रता और यह बंधन क्या झूठा है ? झूठा तो नहीं है, लेकिन स्वरूप देखो—इस हाथका इसी हाथमें स्वरूप है, दूसरे हाथका उसी हाथमें स्वरूप है तो स्वरूपदृष्टिसे तो यह न्यारा है, पर वर्तमान परिस्थिति संयोगरूप चल रही है, वह तो है। बस दो द्रव्योंको देखकर उनकी बात बताना सो तो व्यवहार कथन है और, एक द्रव्यको ही देखकर एक ही द्रव्य में जो एककी बात है सो कहना निश्चय कथन है। तो इसी प्रकार व्यवहार दृष्टिसे तो यह स्तवन बन गया। वहाँ शरीर और आत्मा एक दिखते हैं यह बात व्यवहार दृष्टिसे तो हुई और इसी कारण व्यवहारदृष्टिसे, देहके स्तवनसे आत्माका स्तवन बन गया, लेकिन निश्चयदृष्टिसे आत्माकी स्तुतिसे ही आत्माका स्तवन कहलायगा। चैतन्यस्वरूपके स्तवनसे ही चित्स्वरूप आत्माकी स्तुति कहलायगी।

२६७—प्रभुके निश्चय स्तवनमें इन्द्रिय विजयकी स्तुतिके प्रसंगमें स्पर्शत रसना घ्राण इन्द्रियके विषयकी समालोचना—

निश्चय स्तुति कैसे करना चाहिए ? तो प्रभुकी कुछ पहलेकी साधना बोलकर फिर आत्माकी बात कहकर पहलेकी साधना कुछ बीचमें भी बोलें, कुछ अन्तमें भी बोलें—पर एक आत्माकी ही बात कहे तो वह निश्चयसे स्तुति कहलाती है। हे प्रभो आपने इन्द्रियोंको जीता। जब मोक्षमार्गमें बढ़े प्रभु तो उनका पहला कदम था इन्द्रियोंको जीतना। यह इन्द्रियोंका प्रेम, इन इन्द्रियोंका मोह संसारमें भगवान आत्माको बरबाद कर रहा है और मिलना कुछ नहीं है। मानलो आज इन्द्रियप्रेम किया, उनके मोहमें आकर विषय साधनोंमें खूब रम गए, समय तो गुजर जायगा, मरण अवश्य होगा। आखिर अंत में मिलेगी उससे खराबी ही, लाभ कुछ न मिलेगा। हाँ इन्द्रियोंके प्रत्येक विषयकी यह ही बात है—स्पर्शन इन्द्रियके विषयभोग सम्भोगसे इस मनुष्यको लाभ क्या मिलेगा ? सब जानते हैं कि पछतावा ही मिलता है अंतमें। समय बीत गया, जवानी बीत गई, बुढ़ापा आ गया, विषयोंका संस्कार लगा है तो दिल तो उस संस्कारमें बस गया और बुढ़ापा आनेपर बड़े कमजोर हो गए हैं, चलते नही बनता है। कोई ढंग बनता नहीं है, लो यह आपत्ति आ गई। एक भोगकी बात या खाने पीनेकी बात ले लो। जब चाहे जो चाहे बहुत-बहुत बार खाने पीनेसे कहीं स्वास्थ्य नहीं बनता, बल्कि उससे अनेक प्रकारकी बीमारियाँ बन जाती हैं। खानेमें अधिक आसक्ति होनेसे बीमारी मिट नहीं सकती। मान लो यहाँ खाने खानेमें ही खूब आसक्त रहे और यहाँसे मरकर हो गए हाथी, झोंटा वगैरह तो बस खा लो वहाँ खूब, कर्म वहाँ खूब खाने पीनेकी सुविधा दे देंगे। मानो कर्म कहते हैं कि ऐ बचू तुम खाने पीनेमें खूब आसक्ति रखते थे ना तो लो तुम्हें खाने पीनेको खूब सुविधा दी जाती है, खा लो दो एक क्विन्टल। अरे यहाँ खाने पीनेमें जो अधिक आसक्ति रखे उसको ये कर्म भव-भवमें खाने-पीनेकी बाधा बढ़ा करके बड़ी बुरी तरहसे तड़फायेंगे। मानों यहाँसे मरकर पेड़ बन गए तो अब जड़ोंसे मिट्टी खा रहे, कैसे कैसे औंधे होकर उल्टेसे खा रहे, किस तरहकी उनकी दशा बन जाती है, यहाँ जो खाने खानेमें अधिक

आसक्त है आखिर उनको अन्तमें पछतावा ही हाथ आयगा। अब गंधकी बात देखिये इस गंध गंधमें ही खुश रहना बहुत बेकार बात है। इससे कहीं स्वास्थ्य कुछ बनता नहीं, वल्कि बिगड़ता है। जो लोग नाकमें, कानमें, कपड़ोंमें जगह जगह सुगंधित इत्र फुलेल लगाकर सुगंध ही सुगंधमें बस रहे हैं उनको आप स्वस्थ न पायेंगे, क्योंकि उसमें भी स्वास्थ्यमें बाधा देने वाले अनेक तरहके कीटाणु होते हैं। जो बड़ी सुगंधमें रहते हैं उनके देखा होगा कहीं खाना नहीं पचता, कहीं कोई रोग बना रहता, तो सुगंधि के प्रति आसक्ति होना, यह कोई भली बात नहीं, और फिर जिन्हें ज्ञानसे रुचि है उनको सुगंध दुर्गंध क्या ? इस दुर्गन्धकी बात अधिक प्रकरणमें न लें मगर इतना तो जानलें कि बहुत-बहुत थूका थूकी करना, ग्लानि करना अच्छी बात नहीं। हां जान लिया, ऐसा पदार्थ है, ठीक है ! अच्छा जो गंधमें यहां अधिक आसक्त है उसको कहो ऐसे पापका बंध हो जाय कि अगले भवमें नाक ही न मिले। फिर वहाँ कैसे गंध ले लेंगे।

२६२—शेष इन्द्रियोंके विषयकी समालोचनापूर्वक प्रभुके इन्द्रियविजयकी स्तुति करते हुए प्रभुके निश्चय स्तवनका एक वर्णन—

अब चक्षुरिन्द्रियकी बात देखो वर्तमानमें लोग खूब सनीमा देख रहे, बडे सलोने रूप देख देख-कर उनमें दिवाने बन रहे, पर उससे फायदा क्या ? सनीमा देखने गये तो वहाँ दो तीन घंटे आँखें फ़ैला फैला कर देखा, आँखोंको भी कष्ट दिया, पैसा बिगड़ा, समय बरबाद किया, दिनमें सोये तो वह दिन भी खराब किया, अपना मन भी खराब किया, फायदा क्या मिला ? और आजकल तो जो नई उम्रके लोग हैं उनका मन अधिकतर इस सिनेमासे बिगड़ा है। आज जो चाकू चलते, छुरे चलते, चोरी बदमासी करते, दूसरोंको धोका देते, ये सब आदतें कहाँसे आ गईं ? इन सनीमाओंके कारण। यद्यपि सनीमामें कुछ थोड़ीसी शिक्षाकी बात भी मिल जाती, कुछ ज्ञान और वैराग्य भी जगता, मगर जैसे किसी विषके घड़ेमें अमृतकी एक दो बूंद मिली हों तो उससे क्या लाभ ? उसके पीनेसे तो मरण ही होता है, ऐसे ही उन सारी गंदी गंदी बातोंके बीच थोड़ी भली बात भी आ गई तो उसका कोई भला असर नहीं पड़ता। इस जीवमें लगे हैं विषयोंके संस्कार, सो उनकी प्रवृत्ति विषयोंकी ओर ही लग जाती है। अब कर्णेन्द्रिय की बात देखो—लोग बड़े राग रागिनीके शब्द सुनकर अपने चितको प्रसन्न करना चाहते। बड़े बड़े राग रागिनीके शब्द बोलने वाले जो अभिनेता होते हैं वैसा खुद बननेके लिए मन ही मन शेख चिल्लीकी भांति बड़े पोलावा बनाया करते हैं हमको भी ऐसा बनना है ऐसी बात चित्तमें बसाये रहते है। अरे ये राग रागिनीके शब्द कुछ लाभ न देंगे, इनसे इस जीवका अहित ही होगा। अरे इन राग रागिनीके शब्द सुनकर अपनेमें प्रसन्नता तो जाहिर न करो। अपनेमें प्रसन्नता लावो प्रभुका गुणगान सुनकर, प्रभुके प्रति भक्तिभाव प्रकट कर। देखो प्रभुका सेवक कौन ? प्रभु जिस मार्गसे चले उस मार्गमें चलनेके लिए जो उमंग रखे वह है प्रभुका सच्चा सेवक। प्रभुका स्तवन यह है कि हे प्रभु जैसे आपने इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया, भगवत्ता प्राप्त की वैसा ही हमें करना चाहिए।

२६९—इन्द्रियविजयके लिये द्रव्येन्द्रियोंके व्यामोहके परिहारकी आवश्यकता—

इन्द्रियविजयके उद्यमकी बात सभीके लिए लाभदायक है। चाहे कोई ज्ञानी हो तो, अज्ञानी हो तो। जो जिस योग्य है उसको वैसा लाभ मिलेगा। ज्ञानीको तो सारा ही लाभ है मोक्षमार्गका। मगर कोई इस तरहकी शिक्षा न ले कि अरे क्या फायदा खाने पीनेकी छोड़ छाड़ करनेसे, क्या फायदा व्रत उपवास तप त्याग आदिसे, ये तो सब शारीरिक क्रियायें हैं, आत्माकी नहीं। अरे इस तरहकी

शिक्षा ले लेनेसे तो स्वच्छन्दता आ जायगी, लाभकी चीज न मिल पायेगी। अपना उत्साह जगे तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए। इन विषय कषायोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए और इन पञ्चेन्द्रियोंको जीतनेके लिए बस ये तीन काम करने हैं—एक तो द्रव्येन्द्रियविजय, दूसरी, भावेन्द्रिविजय, तीसरा प्रसंगविजय। देखो विषयसेवनकी विधि शरीरमें रहनेवाली। जो इन्द्रियाँ है कान, आँख वगैरह एक तो इनका उपयोग होता है, इनका काम होता है, ये काममें आ रहे ना ? ये व्यापार कर रहे ना, और दूसरी बात विषय कषायके साधनोंका प्रसंग। जिस वस्तुको भोगते हैं उस वस्तुका भी सम्बंध है भोग कार्यमें और तीसरी बात-भीतरमें जो भी ज्ञान चल रहा उस भोगनेका, उस इन्द्रियका तो वह भी एक काम है। ये तीन बातें हैं बाधक जो इन तीनोंको हम मिटा सके, इनको हम निर्बल कर सके, इन तीनोंकी उपेक्षा कर सके, इन तीनोंको महत्त्व न दे सके, इन तीनोंसे निराला जो ज्ञानस्वरूप है उसका महत्त्व जाना तो हम इन्द्रियका विजय असली मायनेमें कर सकते हैं। यों तो कोई बच्चा दस लक्षणमें मानो चौदसका उपवास ठान ले दूसरोंकी देखादेखी। अब जब दो बज गए, तीन बज गए, खैर किसी तरहसे दिन काट लिया। रातको जब भूख लगी तो वह रोने लगा और फिर जो मनमें आया सो खाया पिया। सो इस तरह जबरदस्तीका व्यवहार तो ठीक नहीं। ज्ञानपूर्वक जो बात चलती है उसका महत्त्व है। यह जानें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ये इन्द्रियाँ क्या ? ये तो पौद्गलिक हैं। इन योग प्रसंगोंमें ये जो तीन काम बन रहे हैं, सो इन्द्रियाँ ये जड़ हैं, अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं, इनमें मैं मोह करू तो इससे तो मेरी बरबादी है। जब जीवका एक भव छूटता है तो अलंकारमें एक कविका सम्वाद है कि यह जीव कहता है शरीरसे कि मेरे प्यारे मित्र, मैं अब यहाँसे जा रहा हूँ, तू भी मेरे साथ चल। तू तो मेरा बड़ा मित्र है, तो वह देह मानो कुछ आनाकानी करता हुआ जवाब देता है कि अरे मैं तेरे साथ कहाँ जाऊँगा ? तो फिर जीव कहता है-देख मैंने तेरे लिए रात दिन कितना कितना श्रम किया, तुझे खूब तेल साबुनसे नहलाया धुलाया, तौलियासे पोंछा, खूब मन चाहा खिलाया, पिलाया, अच्छे अच्छे साज श्रंगार कराये, रात दिन तुझपर ही मैं आसक्त रहा, तुझे खूब सनीमा दिखाया, सुन्दर सुन्दर रूप दिखाया, तू जब कभी बीमार हुआ तो मैं तेरे पीछे बड़ा दुःखी हूआ, मैंने तेरी उस समय बड़ी सेवा की, जिन्दगी भर मेने तेरी चाकरीकी, तुझ बड़े आरामसे रखा, फिर भी कहता है कि मैं तेरे साथ नहीं जाऊँगा। यह जीव बड़ी हट करने लगा तो शरीरनें फिर एक ही बातमें दो टूक जवाब दिया कि अरे बावले, तू शानवाला होकर भी पागल बन रहा है। तुझे कुछ पता भी है ? मेरी तो यह रीति है सबके साथ कि मैं किसीके भी साथ न जाऊँ ? तू अपना धर्म छोड़ता है तो छोड़, पर मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता। शरीरका धर्म यही है कि मरण होने पर किसीके साथ न जाना। फिर शरीर मानो बोला—अरे मैं तो बड़े बड़े तीर्थ कर जैसे महापुरुषोंके साथ भी नहीं गया, मोक्ष जाने वालोंके साथ भी नहीं गया, मोक्ष जाने वालोंके साथ भी नहीं गया, भले ही कपूरकी तरह अलग अलग मैं बन गया पर मैने यह जिद्द कभी नही छोड़ी। हमेशा मेरी यह जिद्द रही, फिर मैं तुझ जैसे मूर्खके साथ कहाँ जा सकता। तू हट जा मेरे पाससे। तो ये इन्द्रियां पौद्गलिक हैं, अचेतन हैं, इनका व्यामोह तू छोड़ दे ये दूसरी चीज हैं तू दूसरी चीज है। तो जीव बोला—कैसे छोड़ें इनका व्यामोह ? ··· अरे तू यह जान कि मैं चेतन हूँ, ये अचेतन हैं। जहाँ विरुद्ध बात समझमें आयी वहाँ फिर मित्रता नहीं रहती। दोस्ती खतम कर दी इस ज्ञानने यह निर्णय करके कि मैं चेतन हूँ ये अचेतन, इनसे भिड़कर मैं क्या लूगाँ ? विरुद्धके व्यमोहमें बरबादी ही बरबादी ।

२७०—इन्द्रिय विजयके अर्थ प्रसंगव्यामोह व भावेन्द्रियव्यामोहके परिहारकी आवश्यकता व मोहक्षय का कथन करते हुए प्रभुके निश्चयस्तयनका उपसंहार—

अब दूसरा बाधक प्रसंग देखिये—ये बाहरी पदार्थ हैं, इनको देखकर प्रीति होती है, आसक्ति होती है, मोह होता है। ये तो बाहरी पदार्थ हैं, सत्तामें पड़े हैं। देखो ये पदार्थ हैं, इनका नाम क्या क्या है? संग, परिग्रह। तू अपनेको विचार कि मैं असँग हूँ, मैं तो इनसे बहुत दूर हूँ, इनका तो अत्यन्त अभाव है मेरेमें। मेरा क्या है? इन बाह्य पदार्थोंमें असँग अपने आत्मतत्त्वको विचारें। और भीतरमें जो ज्ञान चलता रहता, अच्छा है, बुरा है इत्यादि ज्ञानका विकल्प है, इसको कैसे निरखें? ये तो बड़े प्राण खा रहे भीतर में, और देखो - अपनी बात सम्हालो। तुम ज्ञानस्वरूप हो, मगर ऐसे जो टुकड़े-टुकड़े ज्ञान चल रहा, खण्ड खण्ड ज्ञानका चक्र चल रहा, कभी रूप जाना, कभी रस जाना. . . .ऐसा तो जीवका खण्ड स्वभाव नहीं है। तू तो अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, अलौकिक लोक प्रतिविम्ब है। भीतरमें देख तो एक जगमग स्वरूप, वह है तेरा स्वरूप। तू खण्ड-खण्ड क्यों हो रहा? प्रभुने ऐसी ही भावनासे, ऐसीही उपासनासे इन्द्रियोंको जीता, यह कौनसी हुई स्तुति? यह निश्चयसे स्तुति हुई। इन्द्रियोंको जीता और जीतकर फिर इस मोहको जीत डाला, इन्द्रियपर विजय प्राप्त हुई, तो मोहको जीता, मोह पर विजय प्राप्त हुई तो वह बिल्कुल खतम हो गया। हे प्रभु यह उपाय किया है आपने जिससे कि आप इतने महान हो गए। वही उपाय मेरा भी बने, ऐसी जो भक्ति करे वह भगवानका सच्चा भक्त है। बात यथार्थ यह ही है चाहे जब हो सके कर लो।

२७१—मोहकी वेदनामें मोहियोंके मोह करनेके इलाजकी सूझ—

अहो प्राणियोंमें कैसा मोह छाया है? मोहसे दुखी होते और मोहको ही पसंद किये जाते। कभी किसीका किसीसे मनमोटाव हो गया फिर भी वहीं चिपट रहेगी, घिसस पिसल भी चलती रहेगी, ऐसा कोई नहीं सोचता कि जब मन नहीं मिलता तो मैं मोहको बिलकुल मिटा दूँ। मगर कैसे सुमति जगे यह ज्ञानकी लड़ाई थोड़े ही चल रही है, वह तो अज्ञानकी लड़ाई है, और गुजारा भी कैसे हो रहा, लड़ रहे फिर उनमें रह रहे, अनेको बातें होती फिर भी वहीं रह रहे। तो मोह-मोहसे ही जब दुःख हो रहा फिर भी मोह करते जाते। सारे क्लेश, सारी आपत्तियां इस मोहसे ही हो रहीं, लेकिन उस विपत्तिको दूर करनेका उपाय है मोहको मिटाना। जिस मोहसे दुःख होता उसी मोहको करके ही दुःख मिटाना चाहते तो बताओ इस मोहजन्य दुःखको मिटानेका कोई तरीका बन सकेगा क्या? नहीं बन सकता। जैसे कोई वेश्यागामी हो, परस्त्रीगामी हो और आसक्त हो गया, व्यसनी हो गया तो भले ही उसे वेश्या बार-बार ठुकराये फिर भी वह उसी वेश्याके द्वारपर ही जाकर, द्वार खटखटाता है—खोलो खोलो। ''कौन? मैं. . . .नहीं खुलता। परस्त्रीगामीके लिए भी नाना विपत्तियाँ खड़ी रहती हैं, उसका दिल चलता है, अमुक चीज लाये, यह लाये, वह लाये, सब सेवा करे, फिर भी वह परस्त्री रूठ जावे तो उसे मनावें। जिसको परस्त्रीका व्यसन लग गया, उसकी धुन उसी ओर लगी रहती। उसको अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ भी आती रहती हैं फिर भी वह उसीमें लगा रहता अपने दिलको शान्ति देनेके लिए उसीको भोग रहा। जुवा खेलनेमें क्या है? उससे तो बड़ी आपत्तियाँ हैं, निर्धन भी हो गए, गिरफ्तार भी हो गए, पीटा मारी भी किसीने की, चोरी भी करने लगे, मांस भक्षण भी करने लगे, मदिरापान भी करने लगे, शरीर खराब हो गया, मगर दिलको चैन कब मिलती? जब जुवा खेल लें। झूठा मौज, जिस जुवेसे आपत्ति आयी, विडम्बना आयी उसको यह ही उपाय सूझता है। हर एक व्यसनमें यही बात है। लोग

बिड़ी सिगरेट पीते हैं तो उसीसे यद्यपि पेट दर्द करता है क्योंकि कुछ न कुछ धुवाँ तो पेटके अन्दर पहुंच ही जाता है मगर उस पेट दर्दको ठीक करनेके लिए बिड़ी सिगरेट पीना ही उसकी दवा समझते है। भला बतावो जिस चीजसे पेट दर्द होता उसी चीजसे उसे ठीक करना चाहते तो यह बात कैसे हो सकती है ? हर एक व्यसनकी यही बात है। मदिरापान करने वालोंकी बात देखो जो लोग मदिरापान करते हैं उनकी क्या दशा हो जाती है ! कहीं बेहोश होकर नालीमें गिर जाते, कुत्ते उनके मुखपर मूतते या दसों लोग उनपर जूते बरषाते, यों हैरान भी होते रहते, फिर भी कहते कि और लावो शराब। जिस शराबके कारण पिट रहे दुःखी हो रहे उसीमें चैन मान रहे। इस मदिराकी तरह ही तो यह मोह है। कहा भी तो है मोह मदा मद पियो अनादि, याने इस जीवने मोहरूपी मदिराका पान अनादि-कालसे कर रखा है। उसी मोहके कारण यह सदा दुःखी रहा और उसी मोहको करके समझ रहा कि इससे हमें शान्ति मिलेगी।

२७२—मोहविजय, मोहक्षय करके अनंत ज्ञानानन्द प्राप्त करनेका सुझाव—

यह मोह ही इस जीवका प्रधान दुश्मन है तभी तो कहते हैं—अरि रजरहस विहीन····, अरि मायने मोहनीय कर्म, रज मायने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और रहस माने अंतराय इन चारों प्रकारके कर्मोंसे रहित हैं प्रभु। मोहको हे प्रभु आपने जीता और जैसे ही मोहपर विजय प्राप्त हुआ, मोह नष्ट हुआ वैसे ही आपके ज्ञानका इतना विकास हुआ कि तीनों लोकालोक सब आपके ज्ञानमें आ गए। भैया, यह ही चाहते हो ना, कि हम खूब महान बनें, अच्छे बनें, आनन्दमग्न बनें, शान्त बनें। तो उसीका ही उपाय कह रहे, जो तुम चाहते उसीका उपाय कह रहे उसके सुननेमें तुमको ऊब न आनी चाहिए। आत्मा है ज्ञानानन्दका पुञ्ज, इसमें उपयोग दो, अपनेको ऐसा अनुभव करो कि मेरा कहीं कुछ नहीं, मैं अकिञ्चन हूँ। अगर मानोगे कि मेरा कुछ है तो अज्ञान बनेगा, अज्ञानमें उसका फल बड़ा भयंकर है। भीतरमें ज्ञानज्योति जगाओ। ज्ञानप्रकाश बना रहे, ज्ञानी विवेकी श्रावक बनो, सद्गृहस्थ बनो, भीतरमें यही दृष्टि रखो कि मेरा कहीं कुछ नहीं। भले ही वह मुनिधर्म नहीं पाल रहा, गृहस्थीके वातावरणमें है इसलिए वह अधिक पालन नहीं कर पाता, शुभोपयोग ही उसके लिए प्रधान है, जो ज्ञान पाया, जो सम्यक श्रद्धा पायी अभी उसकी पूरकता तो धर्मिवात्सल्यसे है। वात्सल्य जो मुनिमें है वही श्रावकमें होना चाहिए। जैसे प्रतिदिन गाँवोंमें गायें चरानेके लिए ग्वाले लोग करीब ८-९ बजे जंगल में ले जाते हैं, दिन भर चराते हैं और जहाँ साम हुई, सूर्यास्त होनेको हुआ कि सभी गायोंको वे घरकी ओर खेद देते हैं। तो होता क्या है कि जिन गायोंके बछड़े (बच्चे) घरमें हैं वे बड़ी तेजीसे उछलती फाँदती घरकी ओर दौड़ती हुई आती हैं अपने बच्चोंके प्यारके कारण तो उन गायोंमें कोई तो पूरी लम्बी पूछवाली होती हैं कोई गाय कटी पूछकी याने जिसकी बहुत छोटी पूछ रह गई ऐसी भी होती हैं। तो जिस गायकी जैसी पूछ है वह उसीको डुलाती हुई भागती हुई आती है। चाहे छोटी पूछ की गाय हो चाहे बड़ी पूछकी गाय हो, पर उनको अपने बच्चोंके प्रति प्रेम तो एक जैसा ही है तो इसी तरह तत्त्वका प्रेम चाहे श्रावक हो, चाहे मुनि हो दोनोंका एकसा है, हाँ मुनिकी स्थिति निष्परिग्रहता को है इसलिए वह अधिक सुगमतासे अपना काम बनायगा और गृहस्थके निष्परिग्रहता कम है तो वह उस अनुरूप वात्सल्य बनायगा, पर श्रद्धा यथार्थ हो। देह न्यारा मैं आत्मा न्यारा हूँ। आत्मगुणोंके स्तवन से प्रभुके गुणोंकी स्तुति है निश्चयसे। देहके गुणोंके स्तवनसे निश्चयसे प्रभुकी स्तुति नहीं है। इस तरह तीर्थंकर या आचार्य देव, उनकी स्तुतिका प्रकरण लेकर यहां खुलासा बताया गया कि देह न्यारा है और

यह जीव न्यारा है।

इति परिचिततत्त्वैरात्मकार्यैकतायां, नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायां।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य, स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ।। २८ ।।

२७३—भलाईके लिये दृष्टिका विषयभूत शरण्य तत्त्व—

हम आपकी भलाई किस ओर दृष्टि देनेमें है, किसमें मन लगानेमें है ? जो विह्वलता, विकल्प प्रचण्ड चंचलतासे रहित है, ध्रुव है, अगर इस ध्रुवपर दृष्टि दें तो हमारी परिणति ध्रुवपर बनेगी। परिणति कोई ध्रुव नहीं होती, किन्तु जहाँ समान-समान स्वाभाविक स्वरूपसे मिला हुआ, स्वरूपके अनुरूप जो परिणमन चलता है उसे ध्रुव परिणमन कहेंगे। अचल स्वभावपर दृष्टि दें तो यह सम्भव है कि हमारा अचल परिणमन बनेगा। अगर हम सहज आनन्दस्वरूपपर लक्ष्य दें, उसका आश्रय करें तो यह सम्भव है कि हमारा सहज आनन्दमय परिणमन रहेगा। तो हमको कहाँ दृष्टि देना है, चारों ओर सब तरफ निगाह करके समझें। मकान दूकान लोग कुटुम्ब ये सब असार चीजें हैं, अत्यन्त भिन्न चीजें हैं, पर क्षेत्रमें हैं, विनाशीक हैं, इनपर दृष्टि रखनेसे इस जीवको विह्वलता, बिकल्पता होती है जहाँ मानो अपनेमें से जान निकाल दिया जाय, इस तरहकी स्थिति बन जाती है। पर पदार्थोंमें उपयोग लानेपर ऐसी स्थिति बन जाती है कि मानो मैंने अपनेमें से अपनी जान ही निकाल लिया हो। उसमें धर्म प्रवृत्ति नहीं बनती। कौनसा वह तत्त्व है कि जिसका परिचय करके, अनुभव करनेसे आश्रय करनेसे जीवके शुद्ध परिणमनका प्रवाह चल उठे। वह तत्त्व है सहज चैतन्य स्वरूप। वह सहज चैतन्य स्वरूप क्या है ? जो मेरे अपने आपके सत्त्वके ही कारण पर द्रव्यके सम्बंध बिना स्वयंमें से स्वभावतः जो हो सो मेरा स्वरूप है, वह स्वरूप मैं हूँ, बाकी सब पर हैं।

२७४—परसे विविक्त अन्तस्तत्त्वका विवरण—

जो बाहरमें दिखनेवाले हैं वे तो पर हैं ही, और जो बाहरमें नहीं, किन्तु अपने एक क्षेत्रावगाह रूप हो रहे हैं वे भी पर हैं, जैसे शरीर। क्यों पर हैं, शरीर अचेतन, मैं चेतन। शरीर पुद्गल परमाणुओंका पिण्ड, मैं एक विशुद्ध चिद्घन और जो कर्मबन्धन हैं, कर्म हैं पौद्गलिक कर्म, ज्ञानावरणादिक कर्म ये कर्म भी पर हैं, पौद्गलिक हैं, कार्माण वर्गणा एक जाति है, पर वे हैं रूप, रस, गंध, स्पर्शके पिण्ड, उनसे भी मैं चिद्घन यह निराला हूँ, उन कार्माण वर्गणावोंमें जब अनुभागका उदय होता है, अनुभाग कर्मका ही खिला, कर्ममें ही परिणमन हुआ, कर्म अपनेसे बाहर इस जीवमें कुछ कर नहीं पाते, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें ही परिणमा करते हैं, सो वे कर्म जो पहले लोभादिक कषायोंका निमित्त पाकर प्रकृति, स्थिति, प्रदेश अनुभाग बंधके रूपमें बन गए थे वे अपनी शक्तिको लिए हुए कर्म जब अपने अनुभागका उदय पाते हैं तो गड़बड़ी वहाँ कर्ममें हुई। वे अचेतन हैं, सो गड़बड़ीका अनुभव नहीं कर पाते, मगर जिस प्रकारका क्रोध, मान, माया, लोभ कर्ममें उदित हुआ है बस वह कर्मका वह सब विकार, वह सब अनुभाग इस उपयोग लक्षणवाले जीवमें प्रतिफलित हुआ है, तब मोहीने जैसी कर्म दशा है तैसा ही अपनेको मान लेता है। मगर यह ज्ञानी देखता है कि उस कर्मानुभागका एक यह प्रतिफलन है, छाया माया है वह भी मैं नहीं, मैं तो उससे भी परे एक चिद्घन हूँ।

२७५—चिद्घनस्वरूपके अनुभवका परिचय—

जिसने चैतन्यधन अन्तस्तत्त्व और इस अनात्मतत्त्वमें भेद पाया, देहमें और आत्मस्वरूपमें जिन्होंने भेद निरख पाया ऐसे पुरुषोंने क्या किया कि नयके विभागसे यह स्पष्ट समझ लिया कि यह

देह न्यारा है, मैं न्यारा हूँ। जिन्होंने इस प्रकारका भेदविज्ञान प्राप्त किया। देहसे निराला, कर्मसे निराला, कर्मानुभागके प्रतिफलनसे निराला मैं अपने आपमें शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, इस तरहकी जिन्होंने दृष्टि की, आग्रह किया, वहयहाँ ही रम गया। यहाँ ही उन्होंने पकड़ की, उसीको ग्रहण किया।-मैं यह हूँ, अन्य कुछ नहीं, अन्य सब जीव यद्यपि मेरे समान हैं, फिर भी हैं तो सब पर ही, इस तरह जिन्होंने अपने इस विशुद्ध चैतन्यधन चित्स्वरूपको माना यह मैं हूँ, उसका यह बोध बोधको क्यों नहीं प्राप्त होगा ? जो ज्ञान भ्रम रहा था, जो ज्ञान कर्मानुभागसे अभिभूत होकर कुछ किंकर्तव्यविमूढ सा बनकर पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें उपयोग जुटाकर जो खिन्न हो रहा था वह ज्ञान ऐसा भेदविज्ञान प्राप्त होनेपर क्यों नहीं ज्ञानको प्राप्त होगा ? जब ज्ञान ज्ञानत्वको प्राप्त हो जाता तब इसके लिए ज्ञान ज्ञानरूपसे ज्ञेय है, ज्ञेय ज्ञेयरूपसे ज्ञात है। भेदज्ञानसे पहले उसके लिए ज्ञान ज्ञेयका भेद न था, किन्तु जो झलका, बाहरको भी अपनाया और बाहरका पदार्थ जो यहाँ ज्ञेयाकार हुआ उसे भी यहाँ अपनाया। यद्यपि यह ज्ञेयाकार ज्ञानका परिणमन है। मगर जहाँ कोई भीतर एक मिथ्या विष लगा हो तो उससे सारा परिकर भ्रमरूप होता है। बाह्यका लगाव, भीतरमें ज्ञेयाकारका लगाव यह सब भी ज्ञानीके लिए ज्ञेय हैं, भिन्न हैं, ये झलकते भर हैं, मुझमें नहीं आते, मुझमें आकर लुभाते नहीं, ये आकर कहीं गड़बड़ी करते नहीं, बाह्य पदार्थ तो अपने प्रदेशसे बाहर कुछ करते नहीं, यह ही मैं अज्ञानसे भ्रम करता हूँ, स्वयं गड़बड़ कर रहा। पर तो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं उन्हें जान लिया बस ज्ञेय हैं। ऐसे ही परभाव भी ज्ञेय है। भैया, इस परिणामसे भी आगे हमें बढ़ना हैं। ऐसा भी जाननेके लिए मुझे जरूरत नहीं। पौरुष ऐसा करना है कि मात्र ज्ञान ही ज्ञान विलसो। किन्तु जब छद्मस्थ दशामें परिणमन करते हैं, ज्ञेयके साथ लगावका, तो आवश्यक हो गया कि ऐसा उपयोग बनावें कि बाह्य पदार्थ ज्ञेय नहीं होवे। पर भगवान जरूर विवश हैं कि बाह्य पदार्थ उन्हें ज्ञेय नहीं हों, वहाँ तो बाह्य पदार्थ मानो आक्रमण कर बैठते हैं, वहाँ जानना ही पड़ता है और यहाँ हम आप छद्मस्थ हैं तो यहाँ पौरुष करना पड़ता है कि ये बाह्य पदार्थ मेरे ज्ञानमें मत आयें। क्योंकि इनको जाननेके साथ रागका सहयोग बन जाता है। इसकी निवृत्तिके लिये ऐसे परम ध्यान याने ज्ञानमग्नका आदेश है कि ये वाह्य पदार्थ ज्ञानमें मत आयें। तो यह ज्ञानी समाधिमें यह ही तो पौरुष करता है कि अपने आपके स्वरूपको निरखनेमें अपनेको सामान्य करके एक निज ज्योतिको सामान्य बनाकर उस रूपमें इसका प्रतिभास करता है। भेद विज्ञानमें तो परभावसे हट कर समझा था—यह मैं हूँ, और जब ज्ञानाकार मात्र प्रतिभासमें आता तो उस होनेका विकल्प भी छूटता है और क्षण भरको एक अलौकिक आनन्दकी दशा आती। फिर प्रयत्न करता। प्रथत्न न बने, बाह्य पदार्थ ज्ञानमें आ जावे, इनका चित्त बाह्यकी ओर आ जावे तो उन बाह्य पदार्थोंसे मानो बात करने लगते हैं। इसको जानकर क्या करें ? उससे कोई सिद्धि तो नहीं होती ? ये मेरे कोई साथी तो नहीं। ऐसा सोचकर फिर उन बाह्य पदार्थोंके विकल्पको हटाता है। तो जिसने अपने आपमें इस सहज चिद्धन स्वरूपको निरखा है, इसका अनुभव किया है बस उसकी धुन में वही चैतन्यमहाप्रभु है।

२७६ ज्ञानीका अन्तः निरखन—

भैया ! हित चाहो तो वाह्य पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि न जगाना। कौन मेरे लिए इष्ट कौन अनिष्ट ? वे मेरी परिणति नहीं करते, मैं ही विकार अविकार रूप परिणमता हूँ। मैं निज अतस्तत्त्वमें अनुभव करूं अपने आपको, तो बस यह ही मेरे लिए शरण है, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ शरण नहीं।

ज्ञानीका ज्ञान इस ज्ञान स्वरूपको ही निरखता है, स्वरूपके विशेषणोंपर नहीं जाता । यह स्वरूप विकाररहित है । निर्विकार है क्या ? स्वरूप निर्विकार नहीं है । स्वरूप अविकार है, ज्ञानी निरख रहा है, स्वरूप निर्विकार नहीं किन्तु अविकार है । निर्विकार रूपसे स्वरूपको देखनेमें एक यह असुविधा जगी कि वह स्वरूपमें विकारको मंजूर करता है कि इसमें विकार था अब निकल गया । निर्विकार का अर्थ है–निर्गतः विकारः यस्मात् स निर्विकारः अब इनमेंसे विकार हट गया । स्वरूप देख रहे, जो निगोद अवस्थामें भी था, वहाँ पर भी यह सहज अविकार था, याने कोई भी पदार्थ होता है तो वह पदार्थ अपने आपके सत्त्वसे अपना कुछ भाव स्वभाव रखता है उस स्वभावको निरखिये, उस स्वभाव को निरखिये, वह स्वभाव दब गया, प्रकट नहीं हो रहा, लेकिन स्वभाव फिर भी स्वभावमें स्वभाव ही है, जैसे जमीन में कोई निधि गड़ी हुई है, पहले लोग गाड़ते ही थे, तो जमीनमें गड़ी हुई निधि है वह जमीन में पड़ी है, प्रकट नहीं है, ऐसे ही हमारा स्वभाव स्वभाव है, मगर विभाव विकार विषम परिणाम इनमें उलझा है, इनमें दबा है । जरा विभाव विषय परिणामको खोदकर मायने छेदकर विभावको भेद विज्ञानसे ज्ञान द्वारा दूर करें फिर तो जैसे भूमिसे निकाली हुई निधिको आँखों वाला देख लेता है ऐसे ही इन विभावोंको ज्ञान द्वारा भेदकर ज्ञान स्वरूपको ज्ञानी नजर कर लेता है फिर इसी धुन में रहता है।

ज्ञान की सहज कला—

ज्ञानमें ऐसी कला है, उस स्वभावको निरखनेमें यह ही एक ऐसा पौरुष है जिसके बलसे यह जीव इन संसार संकटोंसे छूटनेके मार्गमें बढ़ता है, यह ज्ञान किसीसे छिड़ता नहीं है । जिसको लक्ष्यमें लें, जिसको जानना चाहें, बीचमें कुछ भी पड़ा हो, किसीसे छिड़ता नहीं, सीधा उस लक्ष्यको ही निरखता है । जैसे कि एक्सरा यंत्र होता है, मनुष्य खड़ा है मानो और उसके शरीरकी हड्डीकी फोटो लेना है तो वह एक्सरा यंत्र न रोमसे अड़ता, न चामसे अड़ता, न खून, माँस, मज्जा आदिसे अड़ता, वह तो सीधे हड्डीका ही फोटो ले लेता है इसी प्रकार यह ज्ञान जिसको जानना चाहता है घरमें रखी हुई चीजको हप जानना चाहते हैं तो कितनी ही दीवालें, किवाड़, संदूक आदि आड़े आयें पर किसीसे अड़ नहीं सकता । सबको पार कर देगा । वह ज्ञान ही तो है । यह ज्ञान निश्चयसे जाता तो नहीं, मगर इस ज्ञानका वर्णन गमन मुखेन हुआ करता है । रहता है—अपने आत्मप्रदेशों में और यहाँ ही रहकर सारी व्यवस्था बनती है मगर ज्ञा धातु और गमन धातु- याने जानेके अर्थमें जितनी धातु हैं उनका जानना भी अर्थ है व जाना भी अर्थ है क्योंकि जाननेकी वृत्तिकी समता जानेके व्यवहारमें की गई है । यह ज्ञान किसीसे नहींछिड़ता । कितना ही संदूकमें, कपड़ोंके बीचमें, किसी पोटलीमें बंधे हुए डिब्बेके अन्दर वह चोज रखी हुई हो मगर यह ज्ञान उसको भी जान लेता है, उससे कुछ अड़ता नहीं । ऐसे ही यह जीव आत्महितका अर्थी. आत्मस्वरूपका दर्शक जब उस सहज आत्मस्वरूपको निरखने चलता है तो यह देहसे नहीं अड़ता । कोई आँखें निकालकर देखता है तो इस देहमें अटक बनती है, यह अटक रागवश ज्ञानमें बना ली सो कहा जाता है कि लो इसके ज्ञानको देहने ही रोक दिया, अब यह भीतर क्या जाय ? मगर भैया कोई भिड़कर रोकनेवाली बात नहीं, यह सब अलंकार रूपसे समझना जब ज्ञान अपने ज्ञानके लक्ष्यमें केवल उस अन्त स्वरूपको लेता है तो यह देहसे नहीं अड़ता । कर्मसे नहीं अड़ता, उसके लिए तो जीव द्रव्य ज्ञेय पदार्थ झलक रहा है, उसके लिए तो यह कर्मका फल यह भी झलक रहा है, लेकिन एक परिस्थिति ऐसी होती है कि जिसे कहते संस्कार । जैसे किसीके ठीक-ठीक

बोध जाग चुकनेपर भी पूर्व संस्कारके वश पुनः पुनः भक्तिको प्राप्त होता रहता है । चारित्र मोहका उदय जिसे कहते हैं वहाँ अटक रहती है मगर अटक कर नहीं रहता, वह अपने स्वरूपको सम्हालता है । तो जिसने सबसे निराले इस सहज आनन्दमय ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वको देखा है वह पुरुष एक इसी धुनमें रहता है, उसका बोध बोधको प्राप्त होता है, क्योंकि ज्ञान तो ज्ञानस्वरूप है ना ।

२७८—ज्ञानस्वरूपको जाननेकी कठिनाईकी अवधिका निर्णय—

जिसका उपययोग ज्ञेय पदार्थमें अत्यन्त भिड़ जाय उसके लिए तो यह ज्ञानस्वरूप जाननेमें नहीं आता, मदद नहीं देता लेकिन यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप है और ऐसा ही जब ज्ञात हुआ तो ज्ञान इस ज्ञानस्वरूपको क्यों नहीं जान सकता ? ज्ञान ज्ञानको जाने इसमें कोई कठिनाई नहीं आती । कठिनाई उसमें आती है जो अत्यन्त विरुद्ध हो जाय । देखिये ज्ञानका काम जानना है और ज्ञानका स्वरूप ज्ञान है । तो जाननहार ज्ञान जाननहार स्वरूपको न जान सके, ऐसी महान अड़चन कब तक थी जब तक इस जीवने निजस्वरूपका दर्शन नहीं किया । जैसे एक आदमी किसी कागजपर स्याहीसे दो तीन पेड़ोंके चित्र बनाता है, अब वह आपसे पूछता है कि बताओ इसमें खरगोश कहाँ है ? तो आप बहुत-बहुत देखते है उस चित्रमें, पर कहीं आपको खरगोश नहीं दिखता और अन्तमें आप कह बैठते हैं कि इसमें तो खरगोश नहीं है, सिर्फ पेड़ हैं । और अगर वह आपको समझा दे कि देखो इन पेड़ोंके बीचमें यह जो खाली (Blank) जगह है इसमें ध्यानसे देखो - ये इधर कान हैं, इधर मुख इधर पैर और इधर दुम इत्यादि तो आप झट समझ जाते हैं और कह उठते हैं - हाँ इसमें खरगोश तो बना है । अब एक बार आपने परख लिया तो बस कभी भी आप उसे देखें तो झट समझ लेंगे कि यह देखो इसमें खरगोश बना है । तो जैसे जब तक यह ध्यानमें न था कि यह जो खाली (Blank) जगह पड़ी है उसमें खरगोश बना है तब तक आपको खरगोश नहीं दिखा ऐसे ही यह आत्मस्वभाव, इस सहज परमात्मतत्त्वका कब तक दर्शन नहीं होता, कब तक इसकी धुन नहीं बनती जब तक इस खाली जगहमें, एक साफ जगहमें, जहाँ कोई चित्रण नहीं, इस चित्रसे रहित जगहमें इसको आपने निरखनेका पुरुषार्थ नहीं किया । हम अपने आपको निरखने गए चित्रणमें, स्याहीमें जो कि मोहनीय कर्मका उदय होनेपर उसके जो अनुभागका चित्रण हुआ इस आत्मामें जो प्रतिफलन हुआ उसमें अधिकसे अधिक किसीके बुद्धि जायगी तो प्रतिफलन में उसको निरखता रहा मायने अपने क्रोध, मान, माया, लोभमें अपना स्वरूप मानता रहा, तो चित्रणमें अपने आपको निरखनेसे इसे आत्मतत्त्व नहीं दिखा । इस चित्रणमें जो खाली जगह है, उस चित्रणपर दृष्टि न देकर जो एक आत्माका सहज जो कुछ भी स्वरूप सत्त्व है, उस सहज सत्त्वपर दृष्टि दी जाय तो आत्मदर्शन होगा ।

२९९ निश्चय स्तवनके परिणामकी पराकाष्ठा में अखण्ड का परिचय—

यहाँ प्रकरण चल रहा है यह जब कि किसी एक व्यवहारकी तीव्र जिज्ञासा की कि हमको अन्य कुछ समझमें नहीं आ रहा, हम तो देहको और आत्माको एक मानते हैं और उसका प्रमाण करनेवाले शास्त्रोंमें वाक्य लिखे है, स्तुतियाँ बनी हैं । भगवानके देहकी कान्तिने दसों दिशाओंको नहा दिया, भगवानकी ध्वनि इन कर्णोंको बड़ी प्यारी लगती है । भगवानका रूप १००८ लक्षणके सुन्दर शरीर वाला है । तो देखो ना, कि कहते हैं ना इस तरह कि दो गौरे, दो साँवले, दो हरिया दो लाल, यों ही सभी तीर्थंकारोंके रंग बताये । यों रंग वाले ही तो हैं भगवान । यह देहकी ही तो बात है । अगर देह ही भगवान न हो तो स्तुति कैसे ठीक होगी ! यह प्रश्न होनेपर समाधान दिया गया था कि भाई

बह व्यवहार नयसे स्तवन है और निश्चयसे स्तवन यह है कि जो केवलीका गुण है, केवलीका स्वरूप है, आत्माका स्वरूप है उसका ही ध्यान करें,, उसका गुणगान करें, उसकी बात करें, तो निश्चय नयसे स्तवन कहलायगा। निश्चय मायने एकको निरखना, व्यवहार मायने संयोग आदिको निरखना। संयोग है यह बात झूठ नहीं है। इस समय संयोग है कर्मका जीवका, देहका, व जीवका। चल रही वही बात भोजन भी रोज करते, उसके साधन भी रोज करते, संयोग नहीं है तो यह कैसे हो रहा। संयोग है, संयोग असत्य नहीं, और व्यवहारनय सँयोगकी बात बताता है। तो उस स्थितिमें होनेवाली बात असत्य नहीं, सत्य है, भ्रम होता, विकार होता, लेकिन यह सब संयोग दृष्टिमें नजर आ रहा है। जब केवल एक आत्मतत्त्वको देखते, केवल एकको देखा, केवलमें एकको देखा, तो संयोगकी बात वहाँ असत्थ है देखिये-एकको देखकर हम दो का निषेध करें तो यहाँ भी हम एक अपने एकको देखनेसे च्युत हो गए। एकको देखना है तो एकको ही देखें, दो की बात न करें, वह है एक निश्चय रूपसे. मगर दो नहीं है क्या ? दो तो हैं, तो दो हैं यह तो तुमने जान लिया। दो के संयोगमें ऐसा प्रभाव है वह भी जान लें, बस जानलें, जानकर बैठ जावें, उसका बिरोध न करना, लेकिन जीवोंमें एक आत्म तत्त्वको देखें तो सही कि आत्मा अपने आपकी ओरसे सहज स्वभावके कितने चमत्कार वाला है। जरा अपनेमें जो रचना भरी है उसको तो देखो। देखो देखो निजमें क्या रचना भरो ! यह एक भजन है, जिस रचनाके लखनहार योगी तृप्त हैं वसु प्रहरी। अपने आपके आत्मामें क्था रचना है ? अखण्ड चिद्घन। व्यवहार दृष्टिसे देखो तो आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक शक्तियों मय है। देखो व्यवहारसे देखा इसके मायने झूठ है ऐसा न समझना। उस ही चीजको इसने भेददृष्टि से परखनेसे परिचय किया। जान लिया मगर व्यवहार नयसे ऐसा भेदरूप गुणोंको जाननेका ही हम एक लक्ष्य रखेंगे तो हम आत्मानुभव न पा सकेंगे, ऐसा जानकर उसका विरोध न कर, मध्यस्थ होकर आयें शुद्धनयके विषयमें, वहाँ प्रवेश करें, अखण्ड कैसे अखण्ड, का अनुभव करें। अखण्ड है ऐसा भी विकल्प न रहे। यों विकल्पसे रहित स्वयं का अनुभव करें।

२८०—निश्चयनयके पड़ौसी व्यवहारनयकी प्रासंगिक चर्चा—

व्यवहारनयसे जाना कि यह द्रव्य पर्यायमय है। द्रव्य है ध्रुवताको लिए हुए, पर्याय है उत्पाद व्यय को लिए हुए: असत्य दोनों नहीं। व्यवहारसे जाना कि वस्तु पर्याय वाला हौता है। द्रव्य वाला भी है, पर्याय वाला भी है, इसके मायने यह नहीं कि झूठ है, किन्तु यह भेदनयसे बात देखी जा रही है। उसको जान लो, परिचय कर लो। अब मध्यस्थ होकर जरा आवो तो सही, उस शुद्धनयकी बात कहो क्या होगा कि व्यवहार भी छूटेगा, शुद्धनय भी छूटेगा, वहाँ एक अनुभवमात्र रहेगा। जिसने इस तत्त्वका परिचय किया है वह सब, हमारी बात तो इसलिए स्पष्ट है कि हममें ही तो वह अनुभव होता। आत्मा व शरीर भिन्न भिन्न हैं। निरखना है भीतर एक प्रकाश, पौद्गालिक नहीं है अन्तस्तत्त्व। ज्ञानरूपको ज्ञान अनुभवता है, इतनेमें ही जानना कि देह है, मगर देहके रूपसे मैं नहीं, देहका आकार सोचकर नहीं, और मैं उस गुणमें अनुभव रहा हूँ, इस प्रकारकी भी सीमा बाँधकर नहीं चल रहे हैं। सब भवन उसके अपने आपके उतने ही प्रदेशमें है। क्या अनुभव रहा वह ? ऐसी बात सुनकर ही तो जिसकी जैसी बुद्धि है, जो दार्शनिक जिस-जिस ढंगका अपना भाव लिए हुए है वह उसमेंसे उस उसका ही आग्रह करता रहेगा। जैसे शून्यवादीने कहा कि यह सब ठीक कहते हैं – कुछ नहीं है, देखो है ना आत्मानुभवकी दशा सर्वविकल्प शून्य। लो, आत्मानुभवकी जो स्थिति है उस स्थितिमें इसे मिला क्या ? कोई बाहरी चीज मिली क्या ?

उसका विकल्प भी नहीं है। ऐसी बात सोचकर शून्यवादी कहते हैं कि आप ठीक कह रहे, शून्य ही तत्त्व है वहाँ कुछ न मिलेगा, तो कोई कहता है कि शून्य मात्र नहीं है। प्रतिभास भी तो होता है। लो प्रतिभासाद्वैत वादी कहते हैं कि प्रतिभास तो कोई निराधार आता नहीं है, वह किसमें प्रतिभास है, किसका प्रतिभास, वह प्रतिभास साधार है इसलिए ब्रह्म ही तत्त्व है, प्रतिभास ही तत्त्व नहीं। एक ब्रह्मनामक पदार्थ है। बस वह ही तत्त्व है। जब किसीने देखा ब्रह्म ब्रह्म, एक एक, अकेला अकेला, कहकर अपरिणामीकी बात कुछ नही निखर पाती है तो इसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आनन्द है भिन्न भिन्न है ऐसा देखा, मगर इस ढंगसे देखा कि जैसे सब स्वतंत्र सत् है –द्रव्य भी स्वतंत्र सत् गुण भी स्वतंत्र सत्, पर्याय भी स्वतंत्र सत् ऐसा निरखा वैशेषिक और बौद्धोंने। तब वैशेषिक यह कहने लगे कि ये सब पदार्थ भिन्न–भिन्न हैं सब स्वतंत्र स्वतंत्र पदार्थ हैं, और अपनी हठ पकड़ने लगे कि ये भिन्न ही हैं, अभिन्न नहीं है, और बौद्धजन बस जो कि पर्यायवादी हैं, केवल पर्याय पर्यायको समस्त पदार्थ मानते है उन्होंने कहा कि बस जो क्षण–क्षणमें एक–एक पदार्थ अहेतुक होता, बताओ उसका अन्य कैसे हेतु बनता ? कौनसा बाह्य पदार्थ निमित्त है या उपादान ? मेरा तत्त्व तो मेरेमें है। पदार्थ तो अहेतुक होता। तो जब बौद्धोंने क्षण क्षणके समय समयके पदार्थ स्वीकार कर लिया तो कहा कि पदार्थ अहेतुक है। बस इस ही तत्त्वको, इस ही एक आत्मानुभवकी बातको सुन सुनकर जिन जिन दार्शनिकोंकी जितनी जितनी बुद्धि थी, जो जहाँ अटक गया वहाँ अटक कर अपने अलग सिद्धान्तमें पहुँचा। फल क्या हुआ कि आत्मानुभवकी दशासे वे चलित हो गए। भैया,सो जानो सब और जिस दृष्टिकी मुख्यतासे आपको हित प्राप्त होता हो उस दृष्टिमें सहज देखिये जब जिस दृष्टिसे आपको स्वभाव दर्शनके लिए सहयोग मिलता हो तब तब आपके हितके लिए वह प्रयोजनवान है, क्योंकि प्रयोजनवानका लक्ष्य व प्रवर्तन बनता एक आत्मस्वभावका दर्शन। ग्रन्थोंमें पढ़ते है महामत्स्यकी अगाहना जो १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा हैं, इतनी बड़ी अवगाहनाका उस महामत्स्यका शरीर है। ऐसा जानकर प्रयोजन यह लेना कि आत्मज्ञान विना यह विडम्बना होती। लक्ष्य निर्धारणसे होता क्या है कि जिस ज्ञानमें हित है उस ज्ञानके लिए हर दिशाओंसे ज्ञान ही ज्ञानकी ओर झुकनेके लिए प्रेरणा मिलती है। एक इस अंतस्तत्त्वके परिज्ञानके बिना इस जीवको इस इस प्रकारके कर्मोंका बंध होता कि जिसके उदयका निमित्त पाकर जीवकी ऐसी-ऐसी भिन्न–भिन्न दशायें होती हैं।

२८१—अन्तस्तत्त्वके मिलनमें लकल संकटोंका विनाश—

इस अंतस्तत्त्वका दर्शन करें, विशुद्ध आत्मतत्त्का दर्शन होनेसे बाह्य पदार्थोंके सारे संकट दूर हो जाते हैं, करनेका काम क्या है ? अनात्मतत्त्वमें आत्मतत्त्वका भ्रम हटाना है और आत्मस्वरूपमें यह मैं हूँ इस प्रकारकी प्रतीति रखना है और फिर ऐसा ही ज्ञान बनाये रहना है निरन्तर। अगर उसमें किसीसे बाधा आती हो तो उसको त्यागें। अगर ज्ञानमें ज्ञानको रमानेके लिए बाधा आती है घरमें, तो घरको त्यागें, अगर ज्ञानको ज्ञानमें रमानेके लिए बाधा आती है वस्त्रोंसे, आरम्भ परिग्रहोंसे तो उन्हें त्यागें। इस प्रकारसे सब कुछ त्यागनेके बाद एक अवसर प्राप्त होता है निर्विघ्न और निरन्तराय ज्ञानको ज्ञानमें रमानेका। तो हमारा कर्तव्य है कि इस ज्ञानको ज्ञानमें रमानेके लिए प्रयत्नशील रहें। जब ज्ञान ज्ञानको जानने चला तो उस ज्ञानरसका बेग आता है। उस बेगमें ज्ञान ज्ञानमें ही खिचता है। कोई हवा ऐसी होती है कि भीतरको खींचती है, कोई हवा ऐसी होती कि बाहरको निकालती है। जैसे ए. सी. और डी. सी. के करेन्ट भिन्न भिन्न हैं, कोई बाहर फेंकती हैं कोई भीतर खींचती है

ऐसे ही यह ज्ञान दो तरहके काम करता है कोई बाहरका ज्ञान करता है और कोई भीतरके स्वरूपका ज्ञान करता है, सहज आनन्दका अनुभव करता है। सबको जाने और अपनेमें मग्न हो ऐसा जगमग स्वरूप भगवानके निरन्तर बना रहता है। जैसे दीपक जलता है तो उसमें हानि वृद्धि चलती है, बिजलीका लट्टू जलता है तो उसमें भी हानि वृद्धि चलती है, यों तो पता नहीं पड़ता, पर जब बल्बमें ज्योति कम या ज्यादह हो जाती है तब इस हानि वृद्धिका सही पता पड़ता है। तो जैसे वहाँ ज्योति बढ़ी तो जग और घटी तो मग, किन्तु आत्मामें और प्रकारका जगमगपना है। ज्ञानस्वरूपका परिणमन जग और आनन्दस्वरूपका परिणमन मग। कहते ही हैं लोग उमंग। उमंग कोई मग धातुसे बना। तो भगवानका यह जगमग निरन्तर एक साथ हो रहा है, होता रहता था, होता रहेगा। ऐसा एक तत्त्व बन गया।

२८२—कैवल्यमें आनन्द—

भैया तारीफ किस बातमें है? अकेला रह जानेमें। यहाँ तो लोग अकेला रह जानेमें बड़ा बुरा महसूस करते हैं- यह बेचारा अकेला रह गया। किसी घरमें मियाँ बीबी दो ही प्राणी थे, मानो बीबी गुजर गई तो कहते अरे यह तो बेचारा अकेला रह गया। अरे जो वास्तवमें अकेला हो उसे ही तो भगवान कहते है, जो दुकेला हो वह भगवान नहीं। अरहंत भी अकेले और सिद्धभगवान प्रकट अकेले हैं, केवल आत्मा ही आत्मा, स्वरूप ही स्वरूप ज्ञानानंदमात्र, तो जो तेजस्वरूप है, जो सहज है वही विकसित हो गया, ऐसा जो अकेलापन है वह तो एक बड़ी पवित्र दशा है। अपने आपका प्रोग्राभ यह बनायें कि मुझे तो अकेला बनना है, दुकेलेके सम्बंधमें परिचयमें, संगमें हमको शान्तिका मार्ग न मिलेगा। मुझे अकेला ही रहना है। अकेले रहें, सबका बुद्धिपूर्वक त्याग करें और आप अकेले बनें। भैया अपने आपमें उस कैवल्यका ज्ञान करें तो अकेला बन जायेंगे। जैसा हमें बनना है वैसा अकेलापन तो अब भी यहाँ है कि नहीं, स्वरूपमें देखो अगर नहीं है तो कभी बन नहीं सकता। जो यहाँ स्वरूपमें उस अकेलेपनको निरखता है उसको ही कैवल्यकी प्राप्ति होगी। तो बस उस केवल एक स्वरूपको निरखनेकी बात हैं। वर्तमानमें बात सब चल रही, संयोग है, चल रही है, बात तो सब ठीक है मगर हम तो आत्महितकी भावनाको लेकर सबकी बात समझ कर, सब कुछ जान कर उस कैवल्यस्वरूपको दृष्टिमें लेनेका पौरुष बना रहे हैं, इस समय केवल अंतस्तत्त्व सहज ज्ञान ज्योति उस ही रूप अपना अनुभव करें बस यही आत्मानुभूति है। चाहे ज्ञानानुभूति कहो चाहे आत्मानुभूति कहो, क्योंकि अखण्डके अनुभव रूपसे ही आत्माकी अनुभूति होती है। आत्माकी विशेषतायें बहुत हैं। लम्बा है, चौड़ा है, क्षेत्रकी दृष्टि होती है, पर ऐसा निरखनेसे आत्मानुभूति नहीं जगी तो भी इसका विरोध न करें, यह लम्बा चौड़ा फैला झूठ नहीं जाना गया, पर उसमें भी मध्यस्थ हो जावें और निज ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें उतरें प्रभुके आत्मामें द्रव्य हैं, गुण हैं, पर्यायें हैं, ये सब बातें समझनी पड़ती हैं, इनके समझे बिना हम आगे बढ़ नहीं सकते, यह ही आधार है आगे बढ़नेका, मगर जान लिया, उसका विरोध नहीं करते, समझ लिया, समझकर हमको क्या फल पाना था उस फलमें हम चल रहे। बस सब दृष्टियोंको गौण करके एक अपने आपके सहज अंतस्तत्त्व शुद्धनयके विषयको निरखिये, देखिये तो कैवल्य मिलेगा, आनन्दस्वरूपको निरखिये, देखिये तो आनन्द मिलेगा। तो ऐसे तत्त्वका परिचय करने वाले जो ज्ञानी संत जन हैं उन्होंने नय विभागके तथ्यको सुगमतासे बता दिया है कि यहाँ व्यवहारसे ऐसी स्थिति है और निश्चयसे ऐसी स्थिति है।

अवतरति न यावद् वृत्तिरत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता, स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ।।२६।।

२८३—आत्ममग्नतामें आत्मरक्षा—

प्रकरण यह चल रहा था कि अपने आपकी रक्षा, अपने आपका हित अपने सहज निज स्वभाव में यह मैं हूं इस तरहके ज्ञान करनेमें ऐसे ही अन्तः ठहर जानेमें है । यह बात बने कैसे कि जो जहाँ अभी कुछ ठहर रहे थे, जहाँ संसारके जीव ठहरे रहते हैं उसमेंका ठहरना छूटकर अपने आपके स्वरूपमें ठहरना बने । जरा दिनचर्यापर दृष्टिपात करके देख तो लो कि हम बाह्य विकल्पोंमें कितने समय ठहरे हैं, कहाँ कहाँ उपयोग जाता है । क्या क्या कल्पनायें नहीं किया करते हैं । कितने लोग, कितने संग, क्या परिग्रह, किस किसकी चिन्ता, देखिये—रात दिनके चौबीस घंटोंमें कितना समय गुजरता है कि कहीं पर पदार्थकी बात ही बात चलती रहती है और अपने आत्माके सुधकी बात कितने समय चलती है, ध्यान करें, हम परभावोंमें स्थित कितनी देर रहते हैं । जो अज्ञानी हैं वे ऐसी ही श्रद्धापूर्वक परभावोंमें रहते है, जिनके ज्ञान जग गया वे ऐसी श्रद्धा तो नही रखते, मगर चारित्र मोहका ऐसा बेग है कि उनके भी पर पदार्थोंमें उपयोग फसते हैं अब यह बात कैसे मिटे ? कहते हैं, ना कि मोह छोड़ो, यह कह देना तो आसान है मगर मोह छोडना बड़ा मुश्किल है । सारी परेशानी इस जीवको मोहसे ही है । मोहके दुःखसे जब यह जीव परेशान हो जाता है, कोई बालक प्रतिकूल हो गया तो यह बात हर एक कोई कह बैठता है कि सब बेकार बात है, यहाँ कौन किसका ? अजी किसीसे मोह करना बिल्कुल बेकार है देखो इसने रात दिन अपने बेटेसे मोह किया और देखो उसने उसे धोखा दिया । अब किससे मोह करना, छोड़ो मोह यों कह तो जाते हैं ऊपरी ऊपरी शब्दोंसे, मगर उसका मोह नहीं छूटता । मोह और राग छूटनेका तो विधान ही और है । वह विधान यह है कि ज्ञानमें जब यह बात आ जाएगी कि मैं यह हूँ तो परभाव छूट जायेंगे । स्वको जाने बिना परभावोंके छोड़नेकी चेष्टा करना एक मजाक सा करना है । बाह्य वस्तु है छोड़ दो, एक आग्रह है, छोड़ सकते है । घर छोड़ दिया, अमुक छोड़ दिया मगर भीतरमें परभावोंका त्याग कर दो यह बात स्वके ग्रहणके बिना नहीं बनती ।

२८४ परभावोंके त्यागका उपाय—

परभावोंका त्याग कैसे हो ? देखो इसके लिए निमित्तनैमित्तिकयोगका सही परिचय आवश्यक है, ये परभाव हैं राग द्वेष मोह । कैसे परभाव, क्या परभाव ? देखो पहले बँधे हुए जो कर्म हैं, जिनका अनुभाग है वे कर्म अपने आपमें अनुभागके उदयसे आते हैं, और उस कालमें उसका प्रतिफलन, छाया इस जीवके उपयोगमें पड़ती है, बस वह छाया, वह प्रतिफलन अस्वभाव है परभाव है, क्योंकि पुद्गल कर्मसे उत्पन्न है, पुद्गल कर्मका निमित्त पाकर बनता है । देखिये एक दर्पण है, वह दर्पण स्वयं ही अपने आप लाल पीले आदिक रूपसे परिणमनेमें असमर्थ है इसके सम्बंधमें एक गाथा है समयसारमें—जह फलिह मणी सुद्धोण सयं परिणमइ रायमादीहिं आदि । जैसे स्फटिक मणि अपनेमें अपने आपसे शुद्ध है । वह स्वयं निरपेक्ष लालिमादि रूपसे नहीं परिणमता, किन्तु रक्तादि द्रव्य जो उपाधिमें है । उसके द्वारा यह रागरूप परिणमता है । यह भाषा समयसारकी बोल रहे हैं । बात वहाँ यह समझना कि सामने आये हुए पर पदार्थका निमित्त पाकर यह दर्पण लाल पीले आदिक प्रतिविम्बरूप परिणमता मगर आचार्य देव सीधे ये शब्द दे रहे कि पर द्रव्यके द्वारा ही रागादिक रूप परिणम जाता है यह जीव, पर वहां यह समझना कि पर द्रव्य जो कर्म है उसका अनुभाग उदयमें

आया है, उसका सन्निधान पाकर यह जीव रागादिक रूप अपनी शक्तिसे, योग्यतासे परिणम जाता है। तो अब देखो दर्पणके सामने हाथ किया तो हाथका प्रतिविम्ब दर्पणमें आया। यहाँ एक साथ दोनों काम हुए निमित्तकी हाजिरी और दर्पणमें प्रतिविम्ब दोनों एक समय हुए, फिर भी इन दोनोंमें पूछा जाय कि बताओ निमित्त कौन ? तो सब जानते हैं कि हाथ निमित्त है और नैमित्तिक यह प्रतिविम्ब है। हाथने प्रतिविम्बमें कुछ किया नहीं। हाथ अपने प्रदेशमें है, और वह जो कुछ हाथ कर रहा है, हाथ अपने प्रदेशमें हरकत कर रहा, पर यह निमित्त नैमित्तिक योग कैसा स्पष्ट है कि ऐसे परिणमे हुए हाथका सन्निधान पाकर उस दर्पणमें भी उसी प्रकारका प्रतिविम्ब चल रहा है, निमित्त कौन ? यह हाथका सन्निधान। नैमित्तिक कौन ? दर्पणका प्रतिविम्ब। तो यह तथ्य हैकि जब हाथका सन्निधान पाता है तो दर्पण प्रतिविम्बरूप परिणमता है, मगर इसको यों बोल दो कि जब दर्पण प्रतिविम्बरूप परिणमता है तो हाथ सामने हाजिर होता है, सो इसमें देखो निमित्तनैमित्तिककी व्यवस्था उलट गई। जिसमें 'जब' लगता है वह है निमित्त और जिसमें "तब" लगता है वह है नैमित्तिक, यह एक सीधी कुञ्जी है जानने की। है एक समय और एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें कुछ जाता नहीं, मगर ऐसी भाषा अगर बोलेंगे कि जब दर्पणमें प्रतिविम्ब आता है तो हाथ हाजिर होता इसी तरह यह भाषा अगर बोलेंगे कि जब जीवमें राग विकार आता है तो कर्मोदय हाजिर होता है, ऐसी भाषा जैनागममें किसी भी शास्त्रमें नहीं है। अब इसमें आपत्ति क्या आती ? आपत्ति यह है कि अब जब रागविकार होता है तब सामने कर्म हाजिर हो तो राग विकार हो गया निमित्त और पुद्गलका हाजिर होना नैमित्तिक हो गया। तो ऐसी निमित्त नैमित्तिकता आगममें नहीं है कि जब जीवके रागविकार हो तो पुद्गल कर्म उदयमें आता हो। इसमें तो विकार निमित्त बन बैठेगा और वह हाजिर हुआ कर्म नैमित्तिक बन जायगा पर आगममें सर्वत्र यही भाषा है कि जब पुद्गल कर्मका उदय होता है तो जीव राग विकाररूप परिणमता है, अब ऐसा होने पर आपको परभाव जाननेकी बात एकदम स्पष्ट समझमें आ जायेगी। जान गए कि दर्पणमें प्रतिविम्ब हाथका सन्निधान पाकर आया, दर्पणके निजके स्वरूपसे नहीं आया, निजके स्वभाव मात्रसे, परका सन्निधान पाये बिना प्रतिविम्ब नहीं आया, यह हाथका सन्निधान पाकर आया इसलिए यह परभाव है। इस प्रकार आत्मामें यह झलक कर्मोदयका सन्निधान पाकर आया है, मेरे स्वरूपसे नहीं आया, मेरे स्वभावकी चीज नहीं है, इसलिए ये परभाव हैं। आचार्य संतोंने करुणा करके कैसा हम लोगोंको प्रकाश दिया है कि ऐसा जानें कि मैं तो अपने स्वरूपमें एक शुद्ध चैतन्यघन हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, मेरे अपने आपके स्वरूपमें विकार नहीं। मैं तो विशुद्ध हूँ, मैं तो विशुद्ध ज्ञानघन, पर्यायके भेदकी कल्पनासे भी अतीत केवल एक हूं। आत्मानुभवके लिये होना चाहिये क्या? जो वहाँ समझा जाय कि मैं पर व परभावसे विविक्त शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ और ये रागादिक भाव मेरे स्वभावसे नहीं उठे, ये तो परका सन्निधान पाकर आये हैं, परभाव हैं, परका निमित्तमात्र सन्निधान पाकर हुए हैं सो पौद्गलिक हैं। यहाँ तक कहा समयसारमें कि वे तो पौद्गलिक हैं, पुद्गल कर्मसे निष्पन्न हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं है, मैं एक चैतन्यमात्र हूँ, परभावको पर समझ लेना यह ही स्वके ग्रहणकी कुञ्जी है और यह ही परभावके त्यागकी कुञ्जी है।

२८५—सहज आत्मस्वभावके परिचयके बिना विकारके परिहारकी असंभवता—

कहते सब हैं कि मोह छोड़ो, राग छोड़ो, और कोई कोई लोग तो कह बैठते कि महाराजजी हमारा लड़का तो बहुत गुस्सा (क्रोध) करता है, इसको गुस्साके त्यागका नियम करा दो। भला

बताओ यह काम कोई कैसे करा सकता ? हाँ अगर हाथमें मानो अमरूद लिए है तो उससे कह दिया कि तुम इसे फेंक दो, वह फैक सकता, तो अमरूदका त्याग हो गया, पर गुस्सा तो एक अन्दरकी चीज है, उसका त्याग कैसे कराया जा सकता ? अस्वभावता जब तक ज्ञानमें न आयगी तब तक परभावोंका त्याग नहीं हो सकता । जैसे ही ज्ञानमें आया कि मैं इन सबसे निराला चैतन्यघन हूँ, ये विकार परभाव हैं, पुद्गल कर्मका सन्निधान पाकर हो रहे इसलिए परभाव हैं, ये मेरे नहीं हैं, ये मैं नहीं हूं । मैं तो एक शुद्ध चित्प्रकाश मात्र हूं, जिसमें अर्थपर्याय निरन्तर चलती है और एक मात्र चित्प्रकाश जैसा है जो अपने आपमें उत्पादव्ययसामान्यका स्वभाव रखता है । इसमें विकार आनेमें जीवके स्वभावकी बात नहीं है । वह तो अपने स्वरूपमें अपने अपने उत्पाद व्ययसे चल रहा है, उस कालमें कोई प्रसंग ऐसा आया तो उस प्रकारका विकार होने लगा, उसमें वह सामिल हो गया । चल रहा खूब तेज चल रहा । मशीनका चक्का जिसमें कुछ पता नहीं पड़ता कि यह चल रहा, पर उसपर कपड़ा फेंक दें तो नजर आयगा कि चल रहा उस चलते हुएमें लपेट है इसी प्रकार जीव अपने उत्पाद व्यय स्वभावसे परिणमता है । उपाधिके सान्निध्यमें उत्पाद व्यय करते हुएमें यह विकार मेरे स्वरूप नहीं, ये विकार परभाव हैं, दृढ़ आस्था हुई, बस त्याग हो गया श्रद्धामें, ऐसी हो बात निरन्तर ज्ञानमें बनी रहे इसीको तो चारित्र कहेंगे, पर ज्ञानमें नहीं रहता निरन्तर, क्यों नहीं रहता कि संस्कार है, ऐसा ही पूर्वविभ्रमसंस्कार है । अज्ञान वासनामें जो संस्कार बना है वह संस्कार है, दिल उचटता है, बाह्यमें लगता है । उसका उपाय क्या है ? बस वह उपाय चरणानुयोगमें बताया है । वह उपाय बनावें ताकि इस उचटनका मुकाबला तुरन्त कर लें और फिर अपने आपमें ज्ञान दृष्टि लगाकर उससे अपना काम बना लें । जैसे सुभट युद्धमें उतरता है ढाल और तलवार लेकर, क्योंकि शत्रुको मारनेमें ढाल काम देता क्या ? ढाल मारनेमें काम नहीं देती, मारनेमें काम देती है तलवार ।...फिर वह ढाल लेकर क्यों उतरा ? वह कुशल योद्धा है, समझदार है इसलिए वह ढाल और तलवार दोनों लेकर उतरा । ढालसे तो वह दूसरेके आक्रमणको रोकेगा और तलबारसे शत्रुका छेद करेगा । तो यों समझ लीजिए कि व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र । व्यवहार चारित्र क्या करता है कि व्यसन, अव्रत, विकल्पादिक जो आक्रमण है उन आक्रमणों को रोकता और निश्चय चारित्रसे क्या करता है ? अपने आपमें रत रहकर विकार शत्रुका छेदन करता है स्वतः कर्मका छेदन होता रहता है कर्मका सफाया होता रहता है ।

२८६—जीवके विशुद्ध परिणामरूप निमित्तसन्निधानमें कर्मनिर्जरण होनेका निमित्तनैमित्तिक योग—

देखो जीवमें जब विशुद्ध परिणमन हो रहा तो कर्ममें निर्जरण चल रहा । वहाँ एक ओरका निमित्त नैमित्तिक भाव नहीं है कि कर्मका उदय आये तो जीवमें रागविकार हुआ, इतनी ही मात्र बात न समझें, जीवमें विशुद्धि होती है तो कर्मका स्थितिकांडक, अनुभागकांडक आदिक विधिसे घात होता हैं, वहाँ कैसे-कैसे गुजरता है । ये सब देखिये—कैसे ऊपरकी स्थितिके प्रदेश नीचेके प्रदेशमें मिलते, कितने में मिलते, कितनेमें नहीं मिल पाते, फिर कहाँ तक मिलते, कहाँ तक नहीं, क्या क्या होता है ? कैसे अपकर्षण, कैसे कैसा क्या होता, ये सब कर्ममें चल रहे हैं । आचार्य संतोंने इसको अपनी भाषामें बताया है । तो तत्त्व क्या है कि रागादिक परभावोंका त्याग करे । आत्माका जो सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है उसमें यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव बनावें । यहां विभावका त्याग इस ढंगका हो रहा है, अब रहा सहा जो अव्यक्त राग है वह तो चलता ही है । कोई आत्मानुभव कर रहा, चौथे, ५वें छठे गुणस्थानमें कहीं भी

जहाँ विशुद्ध बात बन रही है वहाँ पर भी कहीं राग तो चल रहा, विकार तो चल ही रहा, चलता है। ९ वें गुणस्थान तक वह अव्यक्त विकार है, क्योंकि इस विकारकी मुद्रा तब स्पष्ट बनती है जब यह जीव बाहरी पदार्थोंमें उपयोग जोड़ता। देखना परखना गौरसे बात, भीतरमें कर्मोदय हुआ, प्रतिफलन हुआ, कुछ तो आवरण हैं मगर ज्ञानी जीव इन आश्रयभूत पदार्थोंमें उपयोग न जोड़े, इसका अभ्यास दृढ़ कर चुके हैं, खूब समझ चुके हैं कि बिल्कुल बाह्य वस्तु है, अत्यन्त भिन्न है, वह मुझमें क्या आता है, बाह्यका क्या अपराध है, बाह्य पदार्थ तो मेरेमें कषायका कारण नहीं है, वह तो उपचरित कारण है, कुछ उपयोग जुटायें तो उसमें कारणपनेका आरोप है। अन्यका क्या अपराध है, सही अभ्यास किए हुए है, सो उसके बलसे ज्ञानी बहिरङ्ग साधनमें अपना उपयोग नहीं जोड़ता। फल क्या होता है कि राग तो आता है, उदय हुआ, प्रतिफलन हुआ, मगर वह अव्यक्त होकर चला जाता है, वह अपनी मुद्रा नहीं बनाता। जो अपनी मुद्रा बनाता है उसको होता है विशेष बंध और जो विकार अपनी मुद्रा व्यक्त नहीं बना पाता है उस अव्यक्त विकारमें होता है अल्पबंध। बस यह ही तो कला है ज्ञानी पुरुषकी।

२८७—आत्महितके लिये परभावसे हटने और स्वभावमें उपयुक्त होनेकी आवश्यकता—

देखो यहाँ अपने हितके लिए करना क्या है ? विकारोंसे हटना, स्वभावमें रहना। तो जो उपाय बने सो देखिये—विकारोंसे हटनेके लिए आचार्यसंतोंने यह उपाय जगह-जगह बताया है कि ये परभाव हैं, पर पदार्थका निमित्त पाकर होनेवाले भावको परभाव कहा करते हैं। ये पुद्गल कर्मके उदयको पाकर होनेवाले प्रतिफलन हैं, ये तेरे स्वभाव नहीं। यह तेरे कुलकी बात नहीं। तू तो इनसे अलग है। तू अपने आपके स्वरूपमें अपने आपका अनुभव कर, यह तो होता रहता है, होने दो, मिटेगा, जैसे कि पर पदार्थोंमें हम यह उपेक्षा ला देते हैं कि किसी भी अवस्थाको प्राप्त हो तो भी वह मेरा कुछ नहीं। मेरा प्रकाश तो मेरा स्वरूप है। जरा यह बात अपने भीतर लगाओ, विकार हो रहा, प्रतिफलन हो रहा, पुद्गल कर्मकी छाया माया हो रही तो यह मेरी चीज नहीं, मेरा स्वरूप नहीं। मैं तो अपने आपमें एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। इस चैतन्यस्वरूपका एक आदर, आस्था, ग्रहण यह मैं हूँ। तो देखो जहाँ निजकी बात समझमें आयी कि यह मैं हूँ, वहाँ परभावोंका त्याग बनता है। अब बाह्य चीजोंका तो त्याग करें, इसका त्याग किया उसका त्याग किया, और वह मैं माना जा रहा किस रूप, वही पुद्गल कर्मप्रदेशरूप। याने पुद्गल कर्मका उदय होनेपर जो प्रतिफलन है, जो यहाँ चित्रण है, जो यहाँ बात है उस रूप अपनेको मानें, यह मैं हूँ, और मैं त्याग करता हूं, तो जहाँ "मैं" ही गलत है तो वहाँ त्याग भी कैसे विधिपूर्वक बने। त्याग करके भी ख्याल रहेगा कि मैंने त्याग किया, ऐसा ख्याल भी त्यागमें बाधक है। त्याग शुद्ध वहाँ है जहाँ आत्माके विशुद्ध निरपेक्ष स्वरूपका ग्रहण है, अच्छा उसीके ही फलस्वरूप फिर यह बाह्य त्याग है, कोई कहे कि मेरा तो अंतरंगमें त्याग है, मैंने तो जान लिया कि ये सब पर पदार्थ हैं, मेरी चीज नहीं हैं और लगे हैं परको ग्रहण करनेमें, तो यह तो सब एक तरहका छल हुआ। भीतरमें तो उस प्रकारकी ग्लानि ही नहीं है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टिके व्रत नहीं है, फिर भी जैसी व्रती जनोंकी चर्या रहती है करीब करीब अधिक नहीं तो मामूली तौरसे, तो होती ही है क्योंकि संयमकी ओर चटापटी लगी है उस ज्ञानीके कि कब यह संयम पायें। तो जहाँ स्वभावका ग्रहण है वहाँ त्याग है और जहाँ स्वभावका ग्रहण नहीं, अपने आपका निर्णय नहीं कि वास्तवमें मैं क्या हूं, तो जब भीतरके परिग्रहका ही त्याग न बना तो फिर बाहरी परिग्रह कैसे त्यागा जायगा। उसे तो अपना रहे हैं।

ज्ञानीके परिग्रहका असम्बन्ध—

देखो भूत कालमें कितने ही लोग गुजर गए, कितना परिग्रह जुड़ गया, कितना सब कुछ नष्ट हो गया, सब कुछ नष्ट होते होते गरीब हो गए। मान लो, पहले बड़े रईस थे, अब गरीब हो गए तो भी जो भूतकी बात कही जाती, दुनियासे शान मारी जाती कि मेरे घरपर सैकड़ों जूते उतरते थे, मायने सैकड़ों लोग आते थे, अच्छा तो यह परिग्रह हुआ कि नहीं ? यह भूतका परिग्रह है, गुजर गया भूत फिर भी परिग्रह चल रहा। जो अब है नहीं, जो गुजर चुका जिसकी आशा भी नहीं है मगर उसका ग्रहण बना हुआ है, नहीं है, और ग्रहण है, यह मजेकी बात है। तो करना है अपनेको अपना अनुभव। मैं क्या हूं, इसके लिए परभावोंका त्याग करें, स्वभावका ग्रहण करें। परभावोंके त्याग करनेका मुख्य उपाय बताया है कि हम इन परभावोंको जान लें, ये रागादिक भाव मेरे नहीं। ये कर्म के उदयका निमित्त पाकर हुए हैं यदि ऐसा न माना जाय और यह माना जाय कि ये होते हैं आत्मामें तो ये आत्माके स्वभाव कहलायेंगे। चाहे भले ही कहें कि अपनी योग्यतासे हुए, पर वह योग्यता भी स्वभाव बन गई, इससे दूर होना है और भीतर ही भीतर प्रवेश करना है तो निमित्तको पाकर हुए तो तुम निमित्तकी ओर जावो, तुमसे हमारा कोई मतलब नहीं, तुम पुद्गलका सन्निधान पाकर हुए, तुम मेरे नहीं, मेरा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है, हुए परिणमन जीवके, मगर औपाधिक होनेसे इसको उस ओर ही अधिक नम्बर देना चाहिए अपनेको निराला सनातन निरख कर। मैं तो एक चैतन्य स्वभाव मात्र हूं, यों स्वरूपका ग्रहण हो तो परभावका त्याग है। इस भीतरी त्यागको समझनेके लिए दृष्टान्त दिया है। जैसे किन्हीं दो लोगोंने अपनी अपनी चद्दर पासमें रहने वाले धोबीको दे दिया धोनेके लिए। वे दोनों चद्दर एक ही मिलकी थीं, एक क्वालिटीकी थीं, एक जैसी थीं। खैर, धोबीने उन्हें धो लिया। अब एक व्यक्ति चद्दर लेने पहुचा तो धोबीने दूसरेकी चादर उसे भूलसे दे दी। उसने भी उसे अपनी समझकर ले लिया। जब वह अपने घर पहुँचा, उसे ओढ़कर सो गया। इधर दूसरा व्यक्ति भी धोबीके पास जाकर अपनी चद्दर माँगता है। जब धोबी वह चद्दर उठाकर देता हैं तो वह व्यक्ति उसमें कुछ अपनी चद्दरके चिन्ह ही नहीं पाता है तो वह कहता है अजी मेरी यह चद्दर नहीं है, यह तो किसी दूसरेकी है तो धोबी बोला—बस समझ गए, आपकी चद्दर बदल गई, उसे तो भूलसे हमने अमुक व्यक्ति को दे दिया है। वह व्यक्ति पहुंचा उसके पास जिसके पास चद्दर चली गई थी और उसे जगाकर कहता है—भाई यह चद्दर मेरी है, मुझे दो। यह भूलसे धोबीने आपको दे दी। अब वह लगा अपनी चद्दरके निशान देखने। जब अपनी चद्दरके चिन्ह न पाये तो समझ गया कि हाँ यह चद्दर मेरी नहीं है, यह तो इसीकी है। इतना ज्ञान हो जानेसे बताओ उस व्यक्तिके परिणामोंमें कुछ अन्तर आया कि नहीं ? जिस कालमें उसकी समझमें आया कि यह तो मेरा नहीं, उस कालमें थोड़ा आचरण आ गया कि नहीं ? अब वह बड़ा आचरण न पा सके कोई बात नहीं,है तो भीअब भीतरमें परख, त्याग किया गया, कि नहीं। तो जहाँ एक यह ज्ञान हुआ कि यह मेरी नहीं, वहाँ भीतरमें ऐसा प्रकाश चलता है कि उसने चद्दर का त्याग कर दिया। यह मेरा नहीं, उसके ज्ञानसे पूछो, ज्ञानप्रकाशसे तो उसने चद्दरको त्यागा है। मगर अभी पकड़े तो है, और यह भी सम्भव है कि वह लड़ भी बैठे कि हम तो नहीं देते यह चद्दर जब तक कि हमारी चद्दर हमको न मिल जाय, देखो ऊपरसे तो वह लड़ता भी है, भगड़ता भी है, फिर भी अन्दर से उसके यह बात है कि यह चद्दर मेरी नहीं है। जरा भीतरके ज्ञानप्रकाशसे पूछो, उसको उस चद्दरका त्याग हो गया और ऊपरी आचरणसे पूछो वह अभी चद्दर देनेमें आनाकानी कर रहा। यद्यपि दे देगा

थोड़ी देरमें, वह रख नहीं सकता अपने पास उस चद्दरको, क्योंकि जिसकी चद्दर है वह भी तो बड़ा मजबूत आदमी है, और अन्दरमें खुदके चद्दरका आग्रह रहा नहीं, तो छोड़ देगा अभी थोड़ी देरमें, मगर ज्ञानप्रकाशने तो तत्काल पर वस्तुको छोड़ दिया, जब जाना कि यह चद्दर मेरी नहीं है। इसी प्रकार ये रागादिक भाव इस जीवपर आक्रमण किए हुए हैं, आक्रान्त है यह जीव । देखो ज्ञेयसे तो आक्रान्त कहते हैं ना। सर्वज्ञ भगवानके ज्ञानमें तीनों लोकके सब पदार्थोंने मानो एक साथ आक्रमण कर दिया। यहाँ तो जब एक लड़का या स्त्री या कोई ये ही ज्ञानमें रहते, इनका ही आक्रमण रहे तो ये झेल नहीं पाते और दुःखी हो जाते और भगवानके ज्ञानमें तीन लोकके सारे पदार्थ हमला कर दें, हमला मायने प्रतिविम्बित हो गए तिस पर भी निजानन्द रसलीन । सकल ज्ञेय ज्ञायक यह है हमला और निजानन्द रसलीन, यह है अपने घरकी मस्ती। देखो कितना पूज्य हमला है यह । ऐसा हमला वीतराग होनेपर ही होता है हमलाके मायने वह प्रतिविम्बित हो गया। यह जीव कर्मबन्धनमें है, एक क्षेत्रावगाही है, उनका अनुभाग रस उदय होता है। उनकी जो बात यहाँ होती है उस बातका ग्रहण न करता हो यह बात कैसे मानी जाय ? बाह्य पदार्थका तो आक्रमण बन गया और भीतर बद्ध जो अनुभाग है, रस है, कर्म हैं उनका उदय आता है, उनका प्रतिविम्ब न हो यह कैसे माना जा सकता है ? हो रहा तब ही तो यह संसार है। नहीं तो यह एक प्रश्न होता कि अब तक क्यों रुलते आये ? पहले ही प्रक्रिया करते, पहले ही प्रभु बन जाते।

२८९—पदार्थों के परस्पर असंबंधका परिचय—

कर्तृत्वबुद्धि न करना चाहिए निमित्तनैमित्तिक योगको जानकर कि पुद्गल कर्मने जीवमें राग उत्पन्न किया ! अरे वह अपनेमें करेगा जो कुछ करना है, उसका सन्निधान पाकर जीव अपनेमें कर रहा जो कुछ करना है। अपने अपने परिणामसे उत्पद्यमान जीव जीव ही है अजीव नहीं। हो ही नहीं सकता, मगर यह निमित्तनैमित्तिकयोगका सही परिचय हमको स्वभावदृष्टिके लिए बड़ा उत्साह दिलाता है, क्योंकि ये परभाव हैं, ये तेरे स्वरूप नहीं, तू इनसे हट और अपने स्वभावकी परख कर । व्यवहारनयसे सब पहिचान कर और पहिचान पाकर फिर इनकी उपेक्षा कर, और निश्चयसे जो पहिचाना गया उस स्वभावमें लगें। उसका फल यह होगा कि जैसे व्यवहार पहले बनेगा, यह निश्चय भी बनेगा और दोनों पक्षोंसे अतिक्रान्त होकर यह अपने समयसारका अनुभव करेगा, सो ही कहते हैं कि जैसे अपर भावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि पुरानेपनको नहीं प्राप्त होती वैसे ही तुरन्त यह शीघ्र ही समस्त अन्य भावोंसे विमुक्त यह ज्ञानानुभूति आविभूति हो जाती है। अन्यभाव विमुक्तका शब्दार्थ है—दूसरेके भावोंसे रहित। देखिये, रागादिक विकारके लिए बात कह रहे हैं कि दूसरेके भावोंसे रहित स्थिति ऐसी है, पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ विकारका प्रतिफलन फिर हुआ विकार रागादिक, सो ये परिणमन जीवके हैं, मगर यहां कह रहे हैं कि ये अनात्मभाव हैं क्योंकि नैमित्तिक भावको अनात्मभाव कहते हैं, इन अनात्मभावोंसे विमुक्त होता हुआ तुरन्त उत्पन्न होता है ज्ञान। अज्ञानमें परको पर समझना, स्वको स्व समझना बिल्कुल नहीं होता। निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान । इसका मोहीजन क्या अर्थ लगायेंगे, अपने घरको अपना घर जानो, दूसरेके घरको दूसरेका घर जानो। सब लोग अपना अपना अर्थ लगा लो—किसे जानें, क्या जानें ? मेरा जो यह विशुद्ध निरपेक्ष अपने सत्त्व के तेजके कारण है वह निज है और पुद्गल कर्मके अनुभागका उदय पाकर यह विकार चल रहा था यह परकीयभाव है। निजको निज परको पर जान, यहां भीतरके निजकी छटनी कर रहे है, बाहरमें छटनी

नहीं करना है, निज परकी छटनी करना है अपने आपपर, बाहरमें नहीं, तो जैसे ही हमने अपने स्वभाव को ग्रहण किया परभावोंको परको पर माना कि उसको यह अनुभव स्वयं ही अपने आप उत्पन्न होता है।

२९९, सच्चे ज्ञानसे ही संकटोंके अभावकी संभवता—

अगर बड़े लगन के साथ सच्चाई रखते हुए श्रद्धाकी सच्चाईमें चलें तो आपको क्या नुकशान पड़ता है, जो बात सच है उसको सच माननेमें आपको कौन सी असुविधा हो रही ? अपनी श्रद्धा सही बनाओ—निजको निज परको पर जान। निज है यह ज्ञान तरंग और पर हैं ये रागादिक विकार। क्यों पर हैं कि पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं। ऐ रागादिक विकारो तुम यहाँ से जावो, तुम्हारे ठहरनेके लिए यहाँ जगह नहीं। यद्यपि रागादिक रूप इस जीवका परिणमन चल रहा है फिर भी जो ज्ञानी पुरुष तथ्यको समझ गया वह झुझला कर बोलता है कि ऐ रागादिक भावो तुम यहाँसे जावो। यहाँ तुम्हारे ठहरने के लिए जगह नहीं, तुम लावारिस हो। जैसे सड़कपर कोई बच्चा खेल रहा हो, वहाँ से अनेक रिक्से ताँगे निकलते, तो वे रिक्सा ताँगे वाले क्या बोलते हैं—अरे तू फाल्तू है क्या, लावारिस है क्या ? तो ऐसे ही समझो कि ये रागादिक विकार लावारिस हैं। फालतू है, क्योंकि जिनका अन्वयव्यतिरेक पाकर हुए उनकी परिणति तो है नहीं रागादि विभाव, इनका—निकट सम्बंध तो है कर्मके साथ, अन्वय व्यतिरेक है, मगर परिणति हो रही जीवकी। बस यही ढंग बन गया लावारिस का। पुद्गल कर्मके उदयका सन्निधान पाकर हुए ये रागादिक विकार, इसलिए इनका नाता उससे जुड़ना चाहिए था। मगर उससे क्यों नहीं जुड़ पाता ? कहेंगे कि फिर तो रागादिक विकार के माता पिता कर्म ही कहलाने लगेंगे। अच्छा बताओ ये रागादिक विकार नष्ट हो रहे हों तो कोइ बचा सकेंगे क्याकि रागादिक परिणामो तुम यहीं रहो, जावो नहीं, क्या जीवका रक्षण मिल जायगा रागादिकविकारों को, जीवके स्वभावसे ये रागादिक विकार नहीं हुए, उनसे इस जीवका अन्वय व्यक्तिरेक सम्बंध नहीं है। इसलिए जीवका इनको संरक्षण नहीं मिल रहा, क्योंकि ये औपाधिक चीजें हैं। जब तक जीवको अज्ञान था जीवने मोह महामद पियो अनादि, जब तक जीवको अज्ञान था, जीवने मोह महामद पी रखा था तब तक तो रागादिक भावोंका संरक्षण चलता था। संरक्षण तब भी न था मगर जब ज्ञानप्रकाश हुआ कि अरे ये तो परभाव हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं और निरन्तर पौरुष करते हैं आत्मस्वभावकी दृष्टिका तो यह भी संरक्षण मिट गया। कर्मने रक्षण नहीं दिया रागादिक विकारोंको, क्योंकि विभाव कर्मकी परिणति नहीं। जीवने रक्षण नहीं दिया रागादिक विकारोंको, क्योंकि जीवके स्वभावसे नहीं हुए, ये पुद्गल कर्मका उदय पाकर हुए, जीवने संरक्षण नहीं दिया इसलिए ये विकार लावारिस होकर मरते हैं, अब तो इन्हें बचाने वाला कोई नहीं। जब ज्ञान जग गया तो इन विकारोंकी रक्षा करनेमें कोई समर्थ नहीं, ये तो मिटेंगे। जैसे वृक्ष कट गया तो वह कब तक हरा रहेगा? वह तो सूखेगा ही, ऐसे ही ये रागादिक विकार भी अब तक हरे भरे रहेंगे ये तो मिटेंगे ही। इसलिए निजको निज परको पर जान।

२९१—फिर दुखःका नहिं लेश निदान—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि॥ ३०॥

२९२—स्वरसनिर्भर अन्तस्तत्त्वकी भावना—

मैं अपने आपको सर्व ओरसे अपने ज्ञानरस करिके निर्भर, गाढ़ घन चिद्घन अनुभव करता हूं,

देखो समस्त संसार संकटोंसे छूटनेका ही सबका भाव है ना तो संसार संकटोंसे छूटकर क्या स्थिति बनेगी, यह भी तो ध्यानमें लावो ? हर एक कोई जो भावी प्रोग्राम बनाता है कि मुझे ऐसा करना है, वैसा करना है, यहाँ जाना है, वहाँ जाना है. तो उसका कोई चित्रण तो उसके चित्तमें रहता है कि ऐसा होगा, ऐसा करना है, वहाँ होऊँगा । कुछ तो मनमें आता ही है । जैसे मान लो एक भावी प्रोग्राम बना कि तीन महीने बाद यह विवाह होगा, तो वह सब चित्रण चित्तमें है कि ऐसा विवाह होगा, इस इस तरहसे लोगोंका संगम होगा । बोलो आपको संसारके समस्त संकटोंसे छूटना है तो छूटकर क्या स्थिति होती है उसकी कुछ खबर है ना ? जन्म न हो, मरण न हो, शरीर नहीं, विकल्प नहीं, कषाय नहीं, कर्म नहीं, केवल आत्मा । यही स्थिति तो है संसारके समस्त संकटोंसे छूट जानेकी स्थिति । केवल आत्मा । वहाँ और है क्या ? एक चित्प्रकाश, ज्ञानघन, ज्ञानपुञ्ज, कैसा पवित्र कि अपने आपके ही ज्ञानरससे परिपूर्ण है । चूँकि ज्ञानका ऐसा स्वभाव है, स्वरूप है कि उसमें समस्त सत् प्रतिबिम्बित होते हैं और अपने ही स्वभावसे वे धीर रहते हैं, अलौकिक अनन्त आल्हादमय, आनन्दमय स्वरूप सदा रहता है केवल एक चित्प्रकाश, जिसमें किसी भी तरहकी तरंग होनेकी बात नहीं । केवल एक निष्काम, निस्तरंग है । इसका कुछ दृष्टान्त लेकर अनुमान करें। हमको वैसा बनना है तो यह बतलावो कि हमारा वैसा स्वरूप है कि नहीं ? अभी भी अन्तः मेरा वैसा स्वरूप है कि नहीं ? अगर वैसा स्वरूप हमारा नहीं है तो वैसा हम कदापि नहीं बन सकते । जैसे कोयलाका स्वभाव काला है, सफेद नहीं, तो फिर कोयलेको कितना ही धोया जाय, उसमें सफेदी नहीं आ सकती, क्योंकि सफेदीका स्वरूप ही नहीं है उसमें । तो ऐसे ही समझिये कि जब मेरा स्वरूप है संसारके समस्त संकटोंसे, समस्त उपाधियोसे छूटा हुआ, याने अपने अस्तित्वकी वजहसे मैं बिलकुल अकेला सत् हूं, इसमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं, समस्त परसे विविक्त हूं, तभी मैं समस्त संकटोंसे छूट सकता हूं, अन्यथा यह काम मेरा कभी बन ही नहीं सकता । तो सोचलो ऐसा मैं हूं स्वरूपमें, अपने स्वभावमें, अपने सत्त्वके कारण अपनी इकाईमें केवल मैं ही मैं जो सत् है वह हूं । कहीं कई सत् मिलकर मैं नहीं हूं, मैं अपने अस्तित्वसे हूं, क्योंकि हूं ना ?

२९३—मोहनिर्ममत्वकी भावना—

देखो—आचार्य महाराज यहाँ भव्योंको समझा रहे है कि यह मोह कुछ नहीं है । उस अकेलेको समझना है ना तो मैं अपने आपमें क्या अकेला हूं, इसकी समझके लिए अन्ययोगव्यवच्छेद मायने आपने सत्त्वके सिवाय बाकी जो कुछ अन्य हैं उनके योगका निराकरण किया जा रहा है—ये मैं नहीं, ये मेरे नहीं । क्यों नहीं मोह मेरा कि देखो आचार्य देव यहाँ कहते है कि फलदानमें समर्थ होनेसे भावक रूपसे आया हुआ यह मोहनीय कर्म, उसके द्वारा रचा गया है यह मोह भाव । ये ही शब्द हैं टीकामें । इससे हमको बल क्या मिलता है ? यह निमित्तनैमित्तिक योगसे बना है मोहभाव वह मेरा कुछ नहीं । केवल अकेला जीवसे याने बिना निमित्त सन्निधानके केवल योग्यतासे ऐसा बनता रहे तो मोह योग्यता भी स्वभाव बन जायगा । जो जो अन्य निरपेक्ष हों वे वे सब स्वभाव होते हैं । तो योग्यता ही क्यों मिटावो ? बनी रहने दो योग्यता । अपना ही तो स्वरूप है योग्यता । लेकिन ऐसा नहीं, यह योग्यता भी स्वभाव नहीं । तब सोचिये यह मोहभाव है तो अपनी परिणतिरूप मगर यह मोहभाव आ कैसे गया ? तो फलदानमें समर्थ यह है भावक मोहनीय कर्म, क्योंकि जब यह बँधा था, अनुभाग बन चुका था, अब यह सामने आया, तो उस पुद्गल द्रव्यकेद्वारा यह मोह रचा गया है । मोहभाव मायने पुद्गल द्रव्यमें यह मोह रचा है उसका निमित्त पाकर उपयोगका विकल्प परिणाम हुआ है । है एक साथ, मगर निमित्त नैमित्तिक

भावमें आगे पीछे शब्द बोले जाते हैं। यह मोहभाव मोहनीय कर्मकी परिणति है, क्योंकि उसका स्वरूप अनुभाग है। मगर जब आया तो चूँकि यह स्वच्छ है जीव, इसमें उपयोजनकी आदत है, ग्रहण करनेकी आदत है, सो यह मोहभाव जो मोहनीय कर्मकी परिणति है वह यहाँ प्रतिफलित हुआ। भला बतलाओ जब ये अत्यन्त भिन्न पदार्थ भिन्न क्षेत्रमें रहनेवाले जब ये भी मेरेमें प्रतिविम्बित हो जाते हैं तो जब जो एक क्षेत्रावगाह है, जहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है उसकी जब कोई परिणति बनती, उन कर्मोंमें कोई अनुभाग खिले तो क्या वह प्रतिविम्बित नहीं होता ? झलक है, किन्तु एकत्वभाव होनेसे मोहीको अज्ञात है बस यह ही तो संसार है, इसीसे रुलना चल रहा है। जो भी कर्म उदयमें आये वे उपयोगमें प्रतिफलित हुए। अब अगर अज्ञानी है तो उस प्रतिफलनमें यह आत्मबुद्धि करेगा कि यह मैं हूं, एकत्व-बुद्धि करेगा और वहाँ अपने स्वरूपकी सुध होगी फिर कैसे ? और उस रागमें एकत्व बुद्धि होनेसे चूँकि ये पदार्थ भी तो ज्ञानमें आये तो उनमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करेगा तब विकारकी मुद्रा बनती है। इस रहस्यको जाननेवाला ज्ञानी यह चिन्तन करता है कि यह मोहभाव, यह पुद्गल द्रव्यसे रचा हुआ है। यह मेरा कुछ नहीं है। मैं तो एक टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञानमात्र हूँ। बस यहाँ भेद करना।

२९४—निर्बन्ध स्वरूपकी भावना—

जिसने अपने आपकी भूमिकामें भेद कर लिया उसको ही ज्ञानप्रकाश मिला। बाहरका भेद तो साधारण जन भी मुखसे बोला करते है। अजी ये मकान, ये धनधाम किसके ? ये तो सब मिट जाते हैं, यह बात तो आवाल गोपाल सब किया करते हैं, मगर यहाँ भेद जो परख ले कि मैं तो अपने ज्ञानमें ही स्वच्छ ज्ञानमात्र हूँ और इसमें जो पर भाव हैं वह सब उस उस अनुभागवाले कर्मका प्रतिफल है। यह मोहभाव मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं, ऐसा जानकर यह जीव अपने आपमें क्या अनुभव करता है ? सर्व ओरसे अपने रससे निर्भर निज भावका संचेतन करता है कि मैं यह हूं। देखो श्रद्धा बिल्कुल निर्मल बनाओ, उपयोगमें स्वरूप निर्बन्ध रखो। जैसे मैं कुटुम्ब वाला हूं, मैं इस घरका हूं, ऐसी कोई भीतरमें श्रद्धा बनावें तो वह एक अटक है ना ? वह अटक आत्मानुभवको नहीं होने देती। मैं अमुक शरीरधारी हूं, यह शरीर हूं, ऐसी श्रद्धा बने तो वह आत्मानुभवकी अटक है, और मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं, यह ही श्रद्धा हो तो वह भी एक अटक है। अपनी श्रद्धा ऐसी निर्मल होनी चाहिए कि मैं सबसे निराला केवल चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, और मैं अमुक गोष्ठीका हूं, अमुक पार्टीका हूं, इस प्रकारकी श्रद्धा हो तो वह भी अटक है। इतना तो निर्बन्ध श्रद्धामें लावो। मेरो कोई पार्टी नहीं, कुटुम्ब मेरा नहीं, कुछ मेरा नहीं, न मेरा शरीर, न जाति, न कुल। और की तो बात क्या कहें, ये जो रागद्वेष विकार जग रहे ये भी मेरे नहीं। विकार क्यों मेरे नहीं ? यों कि मेरे स्वभावसे नहीं हुए। इनको उत्पन्न करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं। कैसे मुझमें सामर्थ्य नहीं ? यहाँ इस ढंगसे विचार करें कि जो मैं अकेला रहकर कर सकूँ उसे तो मैं समझूँ कि यह मेरे सामर्थ्यकी चीज है, और जिसको मैं किसी उपाधि सन्निधानमें कर सकूँ वह निरपेक्ष मेरे सामर्थ्यकी चीज नहीं। शराब पीनेके बाद यह पुरुष कायर भी बनता और कभी कोई काम करना चाहे तो बड़ा तेज काम भी कर डालता। कहता भी है कि हमविना नशाके ही रहे तो इतना माल न उठा पायेंगे। तो इस प्रकार समझो कि अब कर्मका प्रतिफलन हुआ तो वह अन्धकार छाया, राग झलका। तो उस रागको करना मेरे स्वरूपका काम नहीं। वह बन्धनबद्ध होने से योग्यताका काम है। राग स्वभावतः कार्य नहीं है, हटो तुम मेरे नहीं।

२९५— अंतस्तत्त्वकी प्रभावनाकी भावना—

प्रयोजन तो भाई परभावोंसे हटना और स्वभावमें लगना है, यह ही तो करना है काम इस जिन्दगीमें। अगर कोई दूसरा उद्देश्य बनाये है जीवनका कि मुझे यह करना है, वह करना है, अपना तो कुछ ध्यान नहीं, धर्मके प्रचारका काम करना है, यह करना है, वहाँ करना है, मुझे इस तरह की बात करना है, हमको इतना ऊँचा उठना है, इतना नाम पैदा करना है, तो यह कोई जीवनका अच्छा उद्देश्य नहीं है। अपने जीवनका उद्देश्य होना चाहिये समस्त विभावोंसे हटकर अपने आपके स्वभावके दर्शन करनेका। ऐसा करते हुए मनवचन कायकी जो परिणति बनेगी वहां धर्मकी प्रभावना होती है। वह ईमानदारीकी प्रभावना है, बनावटकी प्रभावना नहीं। बनावटकी प्रभावना क्या कि खुदमें तो हैं रीते और दुनियाको बातें बतायें धर्मकी, तो यह तो एक बनावटी प्रभावना है। इस बनावटी प्रभावनाके लिये मनुष्य जन्मा नहीं है। प्रभाव हो तो, न हो तो अपनेमें अपनी प्रभावना करना है। अपने आपकी प्रभावनाके साथ-साथ जो प्रभावना है वह एक कानूनी सही तौर की प्रभावना है, एक जैन नियम के अनसार प्रभावना है। नहीं तो जैसे एक बार किसी राजाने अपने मन्त्रीसे पूछा कि बतलावो अपनी प्रजाके सब लोग हमारे भक्त हैं ना ? आज्ञाकारी हैं ना ? तो मन्त्रीने कहा हां महाराज– आज्ञाकारी तो सब लोग हैं पर भक्त हैं यह बात नहीं कह सकते। कैसे ? हम तो जहाँ जाते लोग बड़े आदरसे मिलते, बड़ी भक्ति दिखाते। तो मन्त्रीने क्या दिया कि रात्रिमें घोषणा करा दिया अपने राज्यमें कि राजाको बहुत अधिक दूधकी जरूरत है। राजाज्ञाके अनुसार प्रत्येक घरसे एक-एक किलो दूध आना जरूरी है। राजमहलके आँगनमें एक बड़ा हौज बना दिया गया है, रात्रिके एक बजे सभी लोग अपने अपने घरसे दूध लाकर हौजमें डाल जायें। अब सभी लोगोंने अपने घरोंमें बैठे यह सोच लिया कि देखो सभी लोग तो दूध ले ही जायेंगे, एक हम दूधके बजाय पानी ले गए तो उसमें क्या फर्क पड़ता ? आखिर सभी लोगोंने रात्रिको हौजमें एक एक किलो पानी डाला। जब सबेरा हुआ तो हौजमें देखा गया कि दूधका नाम नहीं। यह दृश्य देखकर राजाको विदित हुआ कि मंत्री सच कहता था कि राज्यके सभी लोग आज्ञाकारी तो हैं, आज्ञासे विपरीत नहीं, पर भक्त कोई नहीं। तो ऐसे समझो कि कोई लोग इस बातके लिए उतारू हो जायें कि मुझे तो जैन धर्मकी प्रभावना करना है और उनमेंसे एक भी परिचित न हो कि जैन धर्मका मर्म क्या, तत्त्व क्या ? समस्त परभावोंसे विविक्त अपने आपके स्वरसमें, एकत्वमें रस ऐसे एक चित् अखण्ड, ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानमात्र इस रूप अनुभव कोई न करता हो, इसकी सुध कोई न रखता हो और अपने धर्मकी प्रभावनाके लिए बहुत बहुत काम किए जाते हों तो वह चल फिर कर बनावट करके कोशिश करके प्रभावनाकी बात है। वह एक सहज धारा प्रवाह, कानूनन, जिसका कोई प्रतिघात नहीं कर सकता, चलती रहे प्रभावना वह बात नहीं बन सकती। खैर बाहरमें क्या होता है, क्या नहीं ? अपनी अपनी सम्हाल करें।

२९६—पावन अन्तस्तत्त्वके सम्हालकी भावना—

अपनी अपनी सब सम्हालेंगे तो सब सम्हले हैं। जैसे बहुत सी बुढ़ियाँ इकट्ठी होकर तीर्थधामकी यात्रा बड़ी आसानीसे करके घर लौट आती है, महीनोंका समय यात्रामें लगा लेती हैं फिर भी उनकी कोई चीज गुमने नहीं पाती, और ये यात्री रईस लोग जब अपनी मित्रमण्डलीके साथ तीर्थयात्राको निकलते हैं तो कुछ ही दिनोंमें वे सब कुछ न कुछ चीजें गमाकर घर आते हैं, तो इसमें फर्क क्या आया ? वे बुढ़ियां चाहे मोहकी वजहसे सम्हली हैं, हम उसका उदाहरण नहीं कर रहे, हम तो एक अपने आपके सम्हालकी बात कह रहे हैं। उन सब बुढ़ियोंने अपनी-अपनी पोटलीकी सम्हाल की, दूसरेकी सम्हाल

नहीं की, और ये रईस लोग अपने अपने सामानके अतिरिक्त दूसरोंके सामानकी फिकर रखते हैं। एक दूसरेसे पूछते फिरते–कहो भाई तुम्हारा सब सामान आ गया कि नहीं? यों दूसरोंके सामानकी फिकर रख–रखकर अपनी कोई न कोई चीज गुमा देते हैं तो जरा अपने आपपर करुणा करके और सब प्रकारके व्यामोह दूर करके यह जानकर कि मैं लोकमें अकेला ही हूं। मेरा सत्त्व किसीसे मिला जुला नहीं है, किसीकी कृपासे नहीं है, मैं हूं, अपने आप हूं, मेरा सत्त्व मुझमें है, और जो पदार्थ है उसमें मेरे स्वभावका विलास हुआ करता है। यह स्वरूप है मेरा। मैं चेतन हूं। मेरे चैतन्यस्वरूपका बिलास केवल चित्प्रकाश है और यह मोह, राग, द्वेषका बिलास क्या है? यह है पुद्गल द्रव्यके द्वारा रचा हुआ विकार विलास। पुद्गलमें तो उपादानतया पुद्गलका रचा है और उसका सन्निधान पाकर यह प्रतिफलित हुआ है जैसे दर्पणमें प्रतिविम्ब आया, जिसको जान रहे ज्ञानी, यह प्रतिफलन उसके स्वभावसे उत्पन्न नहीं योग्यतामें तो है, परिणतिमें तो है, मगर साइंसके हिसाबसे देख लो–यह एक नैमित्तिक भाव है। मैं नहीं हूं यह। निमित्त नैमित्तिक योगका परिचय विकारको हटनेके लिए हुआ करता है। और, इसे कोई कर्ता कर्म बुद्धिमें ढाल ले तो यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। यदि उपादानतया यह मान लिया जाय कि कर्मने ही उसके राग विकारको रचा है, तो बस विवश हूं मैं। कर्म रच रहा है, मैं क्या कर सकता हूं, यहाँ तो राग ऐसा लावारिस है कि पुद्गलका निमित्त पाकर हुआ, पर पुद्गलकी परिणति नहीं, इसलिए पुद्गल बेचारे भी इसका रक्षण नहीं कर सकते। यहाँ भाव विभाव हुए हैं और यद्यपि जीवके गुणका विकार परिणमन है लेकिन ये पुद्गल द्रव्यका निमित्त सन्निधान पाकर हुए हैं, ये मेरे स्वभावसे नहीं हुए हैं इनका मेरे स्वामित्व नहीं इसलिए मैं इनका कैसे रक्षण कर सकता हूं? वे तो हटेंगे, अन्वय व्यतिरेक पुद्गलके साथ है, ऐसे लावारिस हैं ये विकारभाव। इनसे तो हटना बहुत सुगम काम है, कोई कठिन बात नहीं। पर ज्ञानमें बात समा जाय और यह भी चित्तमें समा जाय कि इस दुनियाँमें जन्म मरण हमको अकेले ही करना पड़ेगा, कोई दूसरा हमारा साथ न निभायगा और जो कर्मबंध होता है पुण्य पाप, शुभ अशुभ, उसका प्रतिफलन मुझको ही तो झेलना पड़ेगा, दूसरा कोई झेलने न आयगा। तब फिर क्यों न इन समस्त विभावोंका लगाव तोड़कर अपने आपके पवित्र इस चिद्घनमें प्रवेश करें?

२९७–चैतन्यरसनिर्भर अन्तस्तत्त्वका ईक्षण–

यह ज्ञानी सब ओरसे अपने चैतन्यरससे निर्भर ज्ञानघन निज स्वभावका अनुभव करता है। मैं चित्स्वरूपमात्र हूं, स्वयं एक हूं, अकेला केवल जिसका सत्त्व है वही मैं। कितना ही मिला हुआ कुछ हो, एक ही जगहमें तो छहों द्रव्य बस रहे हैं। जहाँ आप अंगुली धरते बताओ वहाँ पुद्गल है कि नहीं? अरे संसारी जीव है तो वहाँ उसके निवद्ध पुद्गल तो हैं ही और अनिवद्ध भी है। धर्म द्रव्य भी तो है, अधर्म द्रव्य भी तो है, आकाश, काल द्रव्य भी तो वहाँ पड़े हैं। लोकका कौनसा प्रदेश है ऐसा, जहाँ छहों प्रकारके द्रव्य न हों? मगर अपने अपने सत्त्वका अनुभव प्रत्येकका स्वयंमें प्रत्येकमें चल रहा। कहते हैं ना सिद्ध भगवान जिस एक जगह में हैं, जिस जगह एक सिद्ध हैं वहाँ अनन्त सिद्ध हैं। और अमूर्त निर्मल लोकालोक के जाननहार सारे लोकका जहाँ जानन है, प्रतिविम्ब है, सभी के ऐसा है मगर स्वरूप देखो–सबका जानन अपने अपने में है, सबका अनुभव अपने अपने में है, एकका दूसरेमें नहीं। एक माँहि एक राजे-एक सिद्ध में एक ही रह रहा रहा दूसरा नहीं, स्वरूप की ओर से देख रहे ना-जरा थोड़े से और अगल बगल देखो स्वरूप कि एक माहि अनेक तो। यहाँ तो जहाँ एक सिद्ध है बहाँ अनेक

हैं। क्या है ? तो जब एक मात्र स्वरूप देखा जाय और सिद्ध प्रभुके व्यक्तित्वको भी न देखा जाय, तो मात्र स्वरूपमें एक अनेकन की नहीं संख्या, वहाँ न एक है, न अनेक है, अनेकमें एक नहीं, एकमें अनेक नहीं। यह किसके अनुभवकी बात चल रही है ? जो एक विशुद्ध चैतन्य स्वरूपकी उपासनामें है उसके लिए एक अनेकन की नहीं संख्या। ओहो–जिसके बारेमें ये भिन्न भिन्न परिचय चल रहे हैं और इन भिन्न–भिन्न परिचयोंसे जिस एक तत्त्वको निरखा जा रहा, अहा, नमों सिद्ध निरञ्जनो।

२९८ शुद्धचिद्घन महोनिधि की भावना—

यह ज्ञानी जिसका ऐसा दृढ़तम अभ्यास हुआ कि समस्त परभावोंसे विभक्त, अपने आपके स्वरूपके एकत्वमें गत याने मैं हूँ, तो जो मैं हूँ अपने आप, बस उस ही में अपने आपका अनुभव करने वाले ज्ञानी पुरुषका क्या संचेतन है यह बात इस कलशमें कही जा रही है। नास्ति नास्ति, नहीं है, नहीं है, क्या ? यह मोह विकार मेरा नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है मैं तो एक चित्प्रकाश मात्र हूँ। नहीं है, नहीं है, यह बात निश्चय करनेके लिए यहाँ निमित्तनैमित्तिक योगकी दृष्टिसे जरा कर्मकी परख करें। उदय आया, झलक गया, सन्निधान हुआ, यह बाहर ही बाहर लोट रहा है। मेरे मात्र स्वरूपसे उद्भत नहीं है, जैसे दर्पणके सामने आयी हुई चीजका प्रतिविम्ब हुआ, यह बाहर ही बाहर लोटता है, यह दर्पणके निजी स्वभावकी रचना नहीं है। यह तो एक तिरस्कार है। यह मोह मेरा कुछ नहीं है। मैं तो एक ज्ञानघन रूप हूँ, एक महान तेजकी निधि हूँ, ज्ञान सरोवर हूँ, जिसको अवगाह कर नहायें तो सारे संताप दूर होते हैं। इसके लिए बात रखें, और दूसरा कोई आग्रह न रखें, पर और परभावोंसे विविक्त एक इस निज चैतन्यरसमें अपनेको उपयुक्त करना है। मेरे ज्ञानमें यह ही बात रहे कि मैं यह हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ, बस यह प्रतीति बने। यह ही बात रखें चित्तमें। श्रद्धामें ज्ञान स्वभावातिरिक्त अन्य बात मत लावें।

२९९ ज्ञानकी भावक भाव्य भावातीतता—

अब यहाँ देखो भावक भाव्य भाव। भावक है पुद्गल कर्म, भाव्य है यह विकृत जीव। पुद्गल द्रव्यका निमित्त पाकर जो विकार जगा यह विकार है भाव्य और वह है भावक सो भावक और भाव्यका जब तथ्य समझ लिया गया तब अव्यक्त रूपसे वह विभाव भाव रहा, पर यह जीव भाव्य नहीं बन सकता, क्योंकि उसको यह निर्णय है कि मैं टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञान स्वरूप हूँ, मैं परभाव रूपसे हुवाया ही नहीं जा सकता। जब तक इस मूडमें उन विभावोंमें एकत्व बुद्धि थी जिसका परिचय किया, बाहर विभावोंके विषय भूतमें एकता थी तब तक यह भाव्य बन रहा था। अब यह समझ गए कि बस छाया है, पौद्गलिक हैं, विभाव हैं, ये मेरी चीज नहीं। इनसे मैं निराला ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ। यह अंतस्तत्त्व, पुद्गल द्रव्यके कितने ही उदय आयें उनका प्रतिफलन हो, यह तो एक ही है ऐसी इसकी वान है, सारा विभाव भी प्रतिविम्बित हो गया, पर जानो कि यह मेरे स्वभावसे उठा हुआ विलास नहीं मेरे स्वरूपमें नहीं है, यह तो औपाधिक है, ऐसा समझने वाला भाव्य नहीं बन सकता, और जो केवल निरपेक्ष रूपसे यह माने कि राग तो उसकी योग्यतासे आया है तो उसके भाव्य भार बनगए, उसकी योग्यता बन गई, वह तो भाव्य रहेगा। भाव करना और बात है और अशुद्धसे उतर कर शुद्धमें अवगाह करना और बात है, किसी चीजका प्रस्ताव करना सरल है, पर उसका अमल करनेमें बड़ी–बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। तब यह ठीक निर्णय कीजिये कि यह कार्य कैसे किया जाता है। वे विभाव, वे विकार उसके परिणमन हैं वर्तमान हैं और उस समय उसकी योग्यता है कि जो उस रूप परिणम सकता

है परिणम रहा है, इतने पर भी केवल अन्तस्तत्त्वसे आया हुआ नहीं, मगर बाहरी यह किसी निमित्त का सन्निधान पाकर होनेसे उठा हुआ है अत एव परभाव है, यह मेरी चीज नहीं।

३०० शुद्धचिद्घनरूपता का विश्लेषण—

अब जरा और भीतर प्रवेश करें, ये विभाव बाहर लोट रहे हैं, क्योंकि ये नैमित्तिक हैं, ये मेरे स्वरूपमें नहीं हैं, उनसे विविक्त मैं अपने आपमें शुद्ध चैतन्यघन हूँ, तेज पुञ्ज हूँ। देखो कुछ लोग ऐसी शंका रख सकते हैं कि मैं हूँ इस समय अशुद्ध और अनुभवके लिए यह कह रहे कि अपनेको शुद्ध चैतन्य घन अनुभव करें। शुद्ध तो मैं हूँ ही नहीं, तो कैसे अनुभव करूँ तो उनको ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि अपनी तरफ आकर देखें, अनुभव करें। जैसे एक मकानकी एक फोटो है उसके पूरबकी ओरसे खींची हुई, एक है पश्चिमकी ओर से, एक उत्तरकी ओरसे और एक दक्षिणकी ओरसे खींची हुई अब इनमें से कोई एक फोटो सामने रखकर कहे कि यह नहीं है तो समझो कि वह मकानकी दूसरी दिशासे कह रहा है। यह व्यावहारिक संयोग है। वह संयोगकी तरफसे कह रहा है कि यह अशुद्ध है। बात उसकी गलत नहीं। वह ठीक कह रहा है, क्योंकि वह संयोगकी तरफसे निरखकर कह रहा है। और, हम यहां कह रहे हैं एक उस चित्स्वभावकी ओरसे याने जब सत्त्व है, अपने आपमें क्या है स्वरूप, उस ओर से कहा जा रहा कि जो वह है सो एक है। यहाँ पर्यायकी बात नहीं कही जा रही कि निर्मल पर्याय की बात कह रहे या मलिन पर्यायकी बात कह रहे। शुद्ध अशुद्धका प्रयोग वहां भी होता है। निर्मल पर्यायको कहते हैं शुद्ध और मलिन पर्यायको कहते अशुद्ध, मगर पर्यायकी बात नहीं कही जा रही वस्तुत्वकी बात कही जा रही है। जैसे जिस दूधमें पानी न मिला हो, जिस दूधका क्रीम न निकाला गया हो उसदूधको शुद्ध कहा जाता है, चाहे वह किसीने भी निकाला हो, कैसे ही बर्तनमें निकाला हो, दुग्धत्व की दृष्टिसे वह शुद्ध है। अब कोई व्रती सज्जन ऐसा दूध लेता कि किसी त्यागी व्रतीके हाथका लेता हो, उस दूधको वह शुद्ध समझता हो तो उसकी बात नहीं कह रहे, वहाँ शुद्धताकी दूसरी दृष्टि है, यहां दुग्धत्व की दृष्टिसे शुद्धता की बात कह रहे हैं। तो ऐसे ही पर्यायदृष्टिसे शुद्ध, अशुद्ध निरखना अन्य बात है और वस्तुत्वकी दृष्टिसे शुद्ध अशुद्ध निरखना अन्य बात है। जहाँ केवल एक सत्को देखा जा रहा है, परसे भिन्न और अपने अंशमें से कुछ निकाला नहीं, अपनेमें पूरा, पानीसे रहित और दूधकी शक्तिमें पूरा, जैसे वह दुग्धत्वसे शुद्ध है ऐसे ही यह मैं समस्त परसे निराला और अपने ही स्वरूपमें परिपूर्ण इतना ही मात्र निरखना, इसे कहते हैं शुद्ध आत्मत्वको देखना। मैं उसका संचेतन करता हूँ, उसका प्रसाद ऐसा है कि निर्मल पर्यायोंका प्रवाह चल उठेगा। वहाँ चिन्ता मत करें, अपनी जो एक विशुद्ध वस्तु है उसको अपने आपमें देखें।

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

३००—उपयोगस्वरूप आत्माकी अन्य सर्व भावोंसे विविक्तता—

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक तो यह जीव अत्यन्त विवश है। कुछ विवेक ही नहीं कर सकता। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होनेपर विवेक करनेकी शक्ति जागृत होती है। और उन संज्ञी पञ्चेन्द्रियोंमें भी इस मनुष्यका मन सबसे उत्तम कहा गया है ऐसा मनुष्यभव पाकर हमको करना क्या है, इस बातको आज बड़े ध्यानसे सुनो। पहले तो यह समझें कि मैं जीव हूं। क्या हूं? चेतन हूं,

अर्थात् जिसका स्वरूप एक मात्र चेतना है, प्रकाश है, प्रतिभास है, जिसका कि अपने आप यह कार्य है कि जो है सो ज्ञानमें झलके। ऐसा मै एक चैतन्य पदार्थ हूं, अब उसका स्वरूप हो गया ना यह चैतन्य, जिसमें प्रतिभास झलक होती हो उसे कहते हैं सर्वविविक्त चैतन्य पदार्थ। लो इसका काम तो इतना ही है ना--प्रतिभास होना, झलक होना। जैसे एक स्वच्छ दर्पण है तो उसका कार्य क्या ? प्रतिविम्ब होना, झलक होना, ऐसे ही यह निर्धूमशिखावत् विशुद्ध प्रकाशमय, भानुवत् स्वपरप्रकाशक यह अद्भुत तेज इस मुझका काम क्या है ? चेतना, जानना, समझना, प्रतिभासमय। तो देखो दर्पणमें जो प्रतिभास हुआ, प्रतिविम्ब हुआ, जो झलक हुई उसे देखकर हम आप झट समझ लेते हैं कि जिसकी झलक है वह चीज तो बड़ी दूर पड़ो है, उसका तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी इस दर्पणमें नहीं है, यह बात बहुत जल्दी समझमें आती है। जरा अपने आपमें भी समझो कि जिसकी झलक हुआ करती है वहाँ अन्य सब चीजें हमसे अत्यन्त निराली हैं, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव कुछ भी मेरेमें प्रवेश नहीं करता, बात कुछ कठिन नहीं कही जा रही, सब सुगम है, उपयोग पलटे तो सब दुर्गम है, उपयोग लगाये तो सब सीधी बात है। मैं चेतन हूं, इसका उत्पाद, इसकी परिणति एक प्रतिभासनकी है, यह नहीं छूटता। जिसका जो स्वभाव है वह नहीं छूटता उससे। मेरा स्वभाव प्रतिभासनेका है सो वह काम कभी नहीं छूटता और उसी वजहसे जो सामने आया, जो दिखा वह सब यहाँ झलक उठे, सबका प्रतिभास हो रहा सबकी झलक हो रही। उस झलकको पाकर हमको कुछ विवेक करना चाहिए, कि जिसकी यह झलक है वह चीज हमसे अत्यन्त जुदा है। जो जो भी ज्ञानमें आये भींट, कुर्सी, तखत, घर, लोग, बच्चे, मित्रलोग, कुटुम्ब आदि वे सब मेरे स्वरूपसे अत्यन्त निराले हैं।

३०२—संसारियोंकी कर्मानुसरणता—

कौन जीव किस भवमें मेरा पुत्र पिता यों न जाने क्या क्या न हुआ होगा। आज इस भवमें जो कोई हुए यह उसमें मोह करता है और जगतके ये सब जीव जो बिल्कुल इसीके समान है, कोई अन्तर नहीं, स्वरूपमें अन्तर नहीं और मोटे रूपसे देखो रिस्तेदार तो कोई आज रिस्तेदार है तो कोई पूर्वभवमें था कोई और था, सब दृष्टि पसारकर निरखो ये सब मुझसे अत्यन्त निराले हैं, इनकी झलक यह बताती कि ये जुदे हम जुदे। यह तो बात हुई इस ज्ञेय पदार्थकी जो कुछ हमारे ज्ञानमें आती। अब कर्मकी बात देखो, जो कर्म बाँधे सो केवल यह गप्प गप्पकी बात नहीं है कि जैसे भाग्यकी, तकदीरकी सारी दुनिया बात करती है, इसका भाग्य ऐसा है, इसकी तकदीर ऐसी है, इसकी रेखा ऐसी है। भाग्य अथवा कहिये कर्म सो वह इतनी मात्र गप्पकी चीज नहीं है ; कर्म एक पुद्गल द्रव्य है, वह सूक्ष्म है, जब कषाय की तो वे कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन गईं। कुछ युक्तिसे विचारो कि किसी पदार्थका अगर विकार परिणमन होता, विरुद्ध परिणमन होता, स्वभावसे कुछ विपरीत परिणमता है तो वहाँ किसी दूसरो चीजका सम्बंध अवश्य है, अन्यथा याने दूसरे पदार्थके सम्पर्क बिना कोई भी पदाथ अकेला निरपेक्ष रहकर विकाररूप परिणम ही नहीं सकता। इसमें तो सबको मान्यता है ही। यह चीज खण्डित हो ही नहीं सकती। तो अब बह उपाधि जो दूसरी चीज उसके साथ लगी है वह उपधि उसके स्वभाव के अनुरूप नहीं होती, विपरीत होगी। मैं चेतन वे जड़। अब वे कर्म सब यहां बँधे हैं ना।

३०३—कर्मरस पार्थक्यका विवेक—

देखो पर द्रव्य ये कर्म हैं, पर द्रव्य ये पदार्थ हैं, परास्तित्वमय इन पदार्थोंका आत्मापर जो झलक

होती, इसका आप एक थोड़ी सी बुद्धि लगाकर विवेक कर लेंगे, जिसकी झलक है वह मेरी चीज नहीं। वे अत्यन्त पर पदार्थ हैं, और जो इस आत्माकी ही जगह उन ही सर्व प्रदेशोंमें व्याप कर फैली हुई हैं, कार्माणावर्गणायें वे अन्य पर द्रव्य है, और उन पर द्रव्योंकी प्रकृति, स्थिति, प्रदेश अनुभाग वाली हैं। उदय क्या, उसीमें गड़बड़ी है उसकी छाया, उसका प्रतिफलन है, उसे कुछ विलक्षण तरहसे जाना जो कुछ होना था हुआ, मगर एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तकके जीव उसमें एकत्व बुद्धि करते है, और जब अपनी समझ न रही कि मैं वास्तवमें क्या हूं, चेतन हूं, स्वच्छता मात्र हूं, जब इस बातकी खबर न रही और यही एक माना कि मैं जो भी बर्त रहा (कर्मकी दशा) उन रूप हूं। बस यह अंधकार है, और इसने मैं को जब पहिचाना नहीं, जाना नहीं और जो इस कर्मदशाका अंधेरा है, संकट छाया है, प्रतिफलन है, जीवमें यह जीव उसमें एकत्व किए है उसकी यह समझ नहीं करता। कभी धर्मकी चर्चा करते करते दूसरा जब अपने अनुकूल नहीं मानता तो उसपर गुस्सा क्यों आती ? क्यों तमतमा जाता, क्यों उसका और उपाय बनाता। उसे अपने इस विचारपर एकताकी बुद्धि लगी है कि मैं तो यह हूं। इस समस्त मैलसे आच्छन्न होनेपर भी अन्तः प्रकाशमान जो एक चैतन्यस्वरूप है, जब तक उसका बोध नहीं होता तब तक सही मायनेमें यह भी नहीं जान पाता कि अन्य चीज क्या कहलाती ? भेदविज्ञानमें दोनोंका स्वरूप सही आना है। जब चावल शोधते है तो शोधनेवालोंको यह ज्ञान बराबर बना है कि यह तो चावल है और यह सब चावल नहीं, कूड़ा करकट है तब वह चावलको ग्रहण करता और अचावलको फेकता। तो आत्माका भी शोधना इसी तरह होगा।

३०४ — ज्ञानीकी ज्ञानवृति —

ज्ञानीने जाना कि मैं आत्मा क्या हूं, जो निरपेक्ष अन्तः प्रकाशमान चित्स्वरूप है वही मैं हूँ अन्य नहीं, ऐसा जिसका ज्ञान हो गया, विवेक हो गया, वह किसी दूसरेके परिणमनको देखकर अन्तः विकल नहीं होता, और कदाचित जिससे राग हो, स्नेह हो ऐसे कोई लोग धर्म प्रसंगोंमें कदाचित कुछ विपरित चले तो थोड़ा सा क्षोभ तो होता है मगर ज्ञानी उस क्षोभको भी समझता कि यह भी कर्मरस है, यह मेरा स्वरूप नहीं, चित्स्वभावकी प्रीतिवश ही कुछ रागका एक मेल खानेसे इस तरहकी बुद्धि बन तो जाती है, मगर ज्ञानी जानता है कि मैं सबसे निराला अखण्ड चैतन्यस्वरूप मात्र हूं। चारों ओरके संग परिग्रह समागम, कोई उल्टे चलता, कोई सीधे चलता, इनके प्रति विषाद शोक, ध्यान क्यों रखते ? तुम तो अमने आपमें हो। ज्ञानीको यह बुद्धि है और वह यह समझता है कि लोक इतना ३४३ घनराजू प्रमाण है, उसके आगे यह परिचित क्षेत्र कितना सा है जिसमें भारी चित्त उल्झाते रहते है। ये मनुष्य कितने हैं जिनमें हम अपना चित्त उल्झाते रहते हैं और काल कितना है जितने समयके लिए उल्झाते हैं। सब बेकार है। परिस्थिति है, करना पड़ता है, पर मेरे करनेका काम तो है चेतना, प्रतिभासना जानना। तो जैसे ये बाह्य पदार्थ मेरी झलकमें आते। यह झलक ही यह साबित कर देती कि ये बाह्य पदार्थ हैं ? वे तेरे कुछ नहीं हैं, तुझसे अत्यन्त जुदे हैं, ऐसे इस क्षेत्रावगाहमें जो कर्मबन्ध पड़ा है उसका जब उदय होता है तो हलचल तो कर्मोंकी हुई मगर जो हलचल छाया है सो जैसे संमुखस्थ अर्थकी जैसी हलचल है वही दर्पणमें दिखती है, ऐसे ही जो हलचल कर्ममें चल रही है आखिर प्रदेश, स्थिति, बंध, अनुभागसे सज्जित हैं वे कर्म, सो जो उदयमें यहाँ आते हैं, वे भी एक प्रतिभासमें आते हैं मगर अज्ञानी उस प्रतिभासमें एकता कर लेता है, ज्ञानी उस प्रतिभाससे निराला अपने ज्ञानस्वरूपको समझता है। मैं यह हूं जब तक विधिविधानको न समझे तब तक कर्म भावक थे

और यह जीव भाव्य होता रहा, विकारमें चलता रहा। जब समझ आयी तब जाना कि मैं तो यह मात्र चैतन्य स्वरूप हूं। झलक आती है, पर यह निराला, झलकका स्रोत हूं। मैं सबसे निराला ऐसा ही न्यारा ऐसे निज एकत्वकी जो प्रतिभासना करता रहेगा उसको कैवल्य प्राप्त होगा।

३०५—संकटोंसे मुक्त होनेके अर्थमें बाह्य तत्त्वसे दृढ़ उपेक्षा होनेकी आवश्यकता—

संसारके संकटोंसे मुक्त होनेकी बात चित्तमें अवश्य होनी चाहिए। अपनेसे पूछो—क्या तुमको जन्म मरण करना, सुख दुःख रागद्वेष विकल्प विचार करना, क्या ऐसा ही जीवन हमेशा बिताना चाहते? अपनेसे पूछो, अथवा जन्म मरण कुछ न हो, कोई विकल्प न हो। मैं केवल अपने आप अकेला रह जाऊँ और जैसे कोई अपने खुदके बगीचेमें निर्विघ्न टहलकर मस्त रहता है ऐसे ही मैं अपने इस आत्म उपवनमें बड़ी मस्तीसे यहाँ ही बिहार करता रहूँ, यहाँ ही रमता रहूँ, ऐसे क्षण गुजारना पसंद है ? दोनोंमें एक छाँट बनाओ ना। अगर यह पसंद है कि मैं अपने आत्माराममें ही बिहार करता रहूँ और कभी जीवन-मरण संकट ये न पाऊँ, तो जन्म मरण जीवन इन सबसे सम्बंधित शरीरके एक नाते रिस्तेसे सम्बंधित कल्पित कुटुम्ब मित्रजन सबसे मोह छोड़ना होगा। दो बातें एक साथ नहीं हो सकती—विषय भोग और मोक्षमें जाना, विषय केवल स्पर्शनका ही नहीं है—५ इन्द्रिय और मनका विषय है। इनका भोगोपभोग भी चलता रहे और मोक्ष मार्ग भी चलता रहे, मोक्ष भी मिल जाये, ये दोनों बातें एक साथ न होंगी। तो हम बड़े आरामसे जैसे फर्स्ट क्लासकी सीट रिजर्व कराकर जाते ऐसे ही मोक्षमें पहुंचना न होगा। आप को इन सब लगावोंसे कटाब करना होगा। अकेली दुनियाँमें बिहार करना होगा। मैं आत्मा क्या हूँ। एक चैतन्य, जिसका काम प्रतिभास होनेका है और प्रतिभास होनेके कामके ही कारण ये पदार्थ ज्ञानमें झलक रहे हैं। झलक रहे इसका विकल्प नहीं, झलको मगर कर्मानुभाग भी झलक रहा और उसमें एकता कर रहा यह सब बिगाड़ है, और इस बड़े बिगाड़के कारण ही इन परपदार्थोंका ध्यान करनेका निषेध है। जैसे कोई नई बहू है तो उसपर बड़ा नियंत्रण रहता है। देखो बिना पूछे दूसरेके घर न जाना, यहीं बनी रहो, इस ढंगसे रहो, मुख ढाक कर रहो, यों ठीक चल रही है और वही नई बहू जब बुढ़िया बन जाती है तो कहां उसपर इस तरहका नियंत्रण रखा जाता ? तो इसी तरह जब इन कर्मोंकी छायासे हम रिस्ता रख रहे जितना भी, तबकी बात है यह नियंत्रण है कि तू पर पदार्थको छोड़, तू किसीका उपयोग मत कर। तू सबका ख्याल छोड़ दे। कोई पदार्थ तेरी झलकमें न आये। तू तो एक आत्मस्वरूपकी ही दृष्टि रख। क्यों नियंत्रण है ? इनसे प्रीति मत कर। कर्मकी झलकसे प्रीति है, यह बड़ी विपत्ति जब साथ है तो तू पर पदार्थकी झलक यहाँ न ला। अगर लायगा तो निश्चित है कि इसमें तू मानेगा कि यह इष्ट है यह अनिष्ट है, क्योंकि कर्मरसकी झलकमें एकता लाये ना। उस विषपानमें रहे ना, तो नियंत्रण है कि पर पदार्थका ख्याल न करें और जब यह रस सूख जायगा, वीतराग हो गया तब फिर नियंत्रणकी बात क्या ? दुनियाके सारे पदार्थ एक साथ मानो आक्रमण कर देते हैं तो हम सब राग द्वेष विषय कषाय इनको भी इस तरहसे जानें कि जैसे ये बाह्य पदार्थ झलक रहे हैं, तो झलके तो हैं मगर ये बाह्य अत्यन्त जुदे हैं, उनकी यह झलक है, उनका जो स्वरूप है उस रूप यह झलक है, जानन है, पर वे अत्यन्त भिन्न हैं, उनका यहाँ कुछ नहीं। ऐसे ही रागरस, कर्मरस, कर्मानुभाग यह भी छाया है तो ज्ञान बल बढ़ायें, यहाँ झलक आये, जान रहा हूं कि वे सब मुझसे अत्यन्त निराले हैं, मैं तो एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं।

३०६—विवेचकका झलक द्वारा बाह्य अर्थकी विविक्तताका निर्णय—

जब समस्त अन्य भावोंसे विवेक हो जाता है इस जीवको तब जैसे यह प्रगट समागम बाहरका झलका वैसे ही ये रागद्वेष कषाय झलके, ये सब कर्मकी परिणति है, उसकी जो यहाँ झलक है वह तो है इस जाननहारकी परिणति, मगर यह परिणति उस कर्म रागरसकी झलक रूप है, इस कारण यह परभाव है। मेरे चैतन्यमें यह गंदगी नहीं है। मेरे चैतन्यस्वरूपमें यहाँसे यह झलका, यह स्वच्छताविकार है। यहाँ तो चित् ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक प्रकाश हो यह इसकी ईमानदारीकी झलक है। विकार तो औपाधिक है, इनसे मैं निराला हूं। जिसने ऐसा विवेक किया वह आत्माके स्वरूपको ही अपने ज्ञानमें अपने उपयोग में धारण कर रहा। आत्मस्वरूपकी समझ बना रहा वह जीव, जहाँ दृष्टि करनेसे परका असहयोग, अपने आपमें मिलन व अपने आपका एक साक्षात्कार होता, यों ज्ञानस्वरूपकी यह दृष्टि जब दृढ़ हुई है तो वही हुआ यह कि परमार्थ दर्शन, ज्ञान, चारित्र वहाँ परिणत हो गये। देखो ये सारे उपदेश मुख्यतया मुनिजनोंके लिए बने हैं, पर जो मुनिजनोंके लिए उपदेश है वह हमको भी तो हो सकता है। हम भी तो उससे अपना काम निकालें। तब ही तो कहीं-कहीं जब डाट करके कहा गया है कि तू व्रत तप वगैरह करता है और तूने यह ज्ञानघन नहीं पाया तो तेरे ये व्रत तप सब कष्टकी चीज है। तो जो व्रत तप संयम में लगे हैं उनको ही तो डाट बनती है कि जो उससे बिल्कुल अलग है और मनमें भाव भी नहीं लाते कि मुझे आगे बढ़ना चाहिए, ये व्रत, तप, संयम प्रयोजनवान हैं, जिनके चित्तमें यह बात ही नहीं आती क्या उनके लिए यह डाट है? यह डाट तो शुभोपयोगमें चल रहे हुए जो छठे गुणस्थानमें हुए हैं उनको दी गई है। तो जो उनको उपदेश किया गया है सो आखिर वस्तु तो मैं भी हूं, चेतन तो मैं भी हूं, केवल एक थोड़ा बड़ेका फर्क है, वह क्या मेरे लिए उपदेश नहीं है? उससे लाभ उठावें। और देखिये—इसमें जो अपने कर्मरसकी झलक है, बाह्य पदार्थोंकी झलक है इन सबसे जुदा यह मैं चैतन्यमात्र हूं। ऐसा जिनकी दृष्टिमें है उनके प्रकट हो गया है वास्तविक दर्शन ज्ञान चरित्र जहां जितनी योग्यता है। तब ऐसी परिणति, ऐसा ध्यान, ऐसा ज्ञान जब बन गया तो यह आत्मा इस आत्मोपवनमें बिहार करता है। इस आत्मोपवानमें मेरेको रमना चाहिए।

३०७—कल्याणपात्रता पाकर भी हितपौरुषका विचार न करनेमें महामूढ़ताकी सिद्धि—

देखिये—जिसको आत्मकल्याणकी धुन नहीं, दिल तो आखिर, उसको भी रमाना पड़ता है तो वे ढूढ़ते हैं थियेटर, सनीमा आदिके खेल। पर उन्हें वहाँ भी शान्ति नहीं मिलती। धन भी खर्च होता, लाइनमें खड़ा होकर टिकट लेना होता, बड़े बड़े झगड़े करने पड़ते, धक्का मुक्की करनी पड़ती। बीच-बीचमें बड़े बड़े कष्ट उठाने पड़ते। ऐसी ऐसी घटनाओंमें भी दिलको रमाना यह तो पसंद होता है अज्ञानीजनोंको मगर ज्ञानीजन तो आत्मतत्त्वकी चर्चाका काम पसंद करते है। इसमें कोई उनको खर्च भी नहीं करना पड़ता। अगर कोई समझे कि यह तो बड़ा अच्छा काम है, इसमें पैसा नहीं खर्च करना पड़ता और अपनी धुन धनार्जनकी रखे, धर्मायतनोंमें खर्च करनेमें कृपणता बर्ते तो उसको तो इसमें लाभ नहीं मिलता, उसके तो धनार्जनको धुन है मगर यह एक ऊपरकी बात कह रहे कि देखो इसमें कोई खर्च नहीं किसीकी पराधीनता नहीं, लड़ाईका इसमें कोई प्रसंग नहीं, बड़ी शान्तिसे बैठे है, और वास्तबिक संतोष होता है। जब परसे उपयोग हटा और निज अंतस्तत्त्वमें उपयोग रमा उस समय जो संतोष है, तृप्ति है वह ही एक अलौकिक है, और ऐसी योग्यता हम आपने पायी। समझ सकते है, थोड़ा उपयोग लगाना है और फिर भी न करें पौरुष, प्रमादी रहें तो नीतिशास्त्रमें लिखा है कि जाड्यं पाटवेऽप्यनभ्यासः—योग्यता,

चतुराई, कुशलता, होनेपर भी उस तत्त्वका, उस ज्ञानका अभ्यास न करना यह तो महा मूर्खता है, ऐसा नीतिकारोंने कहा है जहाँ इतनी योग्यता है कि बड़े बड़े हिसाब किताब रखते, रोजिगार, व्यापार, मिल फैक्टरी, उद्योग धंधे वगैरह चल रहे, पर सबकी सही व्यवस्था बनी है, सो जो बड़ी उलझन वाली बातें हैं उन सबके सुलझानेमें भी बड़ी चतुराई दिखा रहे है, फिर जो इतना सुगम काम है कि जाननहार खुद ज्ञानस्वरूप, जो जान रहा है वह खुद ज्ञानमय है और फिर भी यह ज्ञान उस ज्ञानको न समझे तो यह तो इतना बड़ा अंधेर हुआ जैसे कोई स्त्री अपनी ही गोदमें एक तरफ अपने बालकको लिए हो और वह चारों तरफ पता लगाती फिरे कि मेरा बेटा कहाँ गुम गया, तो यह तो उसकी मूर्खता भरी बात है।

३०८—आत्म परिचय विना आत्माकी ओझलता—

कोई एक बाबूजी अपने कमरेमें सामानकी व्यवस्था कर रहे थे। रात्रिके ८–९ बजेका समय था, सब चीजें जहाँकी तहाँ क्रमसे रखते जा रहे थे, छाताकी जगह छाता, जूताकी जगह जूता, घड़ीकी जगह घड़ी, कोटकी जगह कोट। और, साथ ही उस जगह उस चीजका नाम भी लिखते जा रहे थे। जब सब व्यवस्था कर चुके तो नींद भी आ गई और खुद पलंगमें लेट गए। उस पलंगकी पाटी पर लिख दिया 'मैं' याने इस पलंगपर मैं पड़ा हूं। बस बाबूजी सो गए। जब प्रातःकाल सोकर उठे तो देखने लगे कि मेरी सारी व्यवस्था ठीक है ना। देखा–छातेकी जगह छाता, घड़ीकी जगह घड़ी, जूतेकी जगह जूते, सब ठीक, आलराइट कहते चले गए। अन्तमें जब पलंगपर नजर पड़ी और वहाँ "मैं" कहीं न दिखा तो बाबूजी चिल्लाने लगे, अपने नौकरको बुलाया, नौकरसे बोले–अरे मेरा मैं गुम गया। नौकर बड़े आश्चर्यमें पड़ गया। सोचा कि बाबूजी आज ऐसी बेवकूफी भारी बात क्या कह रहे, मामला क्या है, आखिर वह सब समझ गया और बोला—बाबूजी आप चिन्ता न करें, आप थके हैं आरामसे लेट जायें। आपको "मैं" आपको मिल जायगा। बाबूजीको अपने पुराने नौकरकी बातपर विश्वास आ गया, सोचा कि देखा होगा इसने कहीं मेरे "मैं" को। जब बाबूजी खाटपर लेटे तो नौकर बोला—देखो बाबूजी अब आपका "मैं" आपको मिल गया ना? तो बाबूजी झट अपने शरीरपर हाथ फेरते हुए उठे और बोले हाँ मेरा मैं तो मिल गया। इस खाटपर मैं पड़ा हूं। तो जिसका मैं गुम गया अर्थात् जो सहज शुद्ध निरपेक्ष अपना एक चित्प्रकाश मात्र स्वरूप है उस रूप अपनी दृष्टि नहीं की, अनुभूति नहीं की, माना नहीं कि यह मैं हूं उसका "मैं" गुम गया। भले ही 'मैं' कितना ही रोज रोज कहे, पर उसने "मैं" का पता नहीं पाया। ठीक जानो जो कर्मरस झलका वह पर, जो ज्ञेय पदार्थ झलका वह पर। जो ज्ञेयका ज्ञान है वह है इस जीवकी परिणति जो कि बताती यह पर, वह पर, सब पर, उन सबसे निराला जो एक सहज निरपेक्ष ज्ञायक स्वरूप अंतस्तत्त्व है उसे अनुभव करना कि मैं यह हूं, बस यह काम नहीं किया इसलिए संसारमें जन्म मरण चल रहा। जब यह काम बन जायगा इसमें दृढ़ता हो जायगी तो यह जन्ममरणकी परम्परा छूट जायगी, यों केवलकी उपासना करनेपर कैवल्य प्रकट होगा।

मज्जंतु निर्भरममी समसेव लोका आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता :।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानव बोधसिन्धु : ।। ३२ ।।

३९९—अन्तस्तत्त्वके रूचिया ज्ञानी संतके उपयोगमें अनात्मत्वकी अप्रतिष्ठा—

अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत अपने आपके निरुपाधि निरपेक्ष सहज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि करता हुआ यह सब परख रहा है कि मैं हूं एक चेतना मात्र। प्रत्येक चीज अपनी ही यूनिट (इकाई)

में होनी है। कभी भी दो सत्त्व मि र्थ नहीं हुआ करते। चाहे कितनी ही शंकरता आ जाय, एकमें दूसरेका मिलान हो जाय तिसपर भी प्रत्येक सत् शाश्वत अपने आपके स्वरूपमें ही हुआ करते हैं। यह मैं अपने ही स्वरूपमें हूं। मेरे प्रदेशमें अन्यका प्रवेश है और विकार रागद्वेषकी परिणतियाँ भी बनती हैं, लेकिन स्वरूपमें प्रवेश किसीका नहीं है। जैसे कोई पुरुष दर्पणको देख रहा, सामनेकी चीज प्रतिविम्बित हो रही याने सम्मुख स्थित पदार्थका सन्निधान पाकर दर्पण प्रतिविम्बरूप परिणम गया है फिर भी यह सब देखते हैं आप सब लोग कि यह प्रतिविम्ब तो बाहर—बाहर लोट रहा है, दर्पणके स्वरूपमें प्रवेश न करेगा। अर्थात् यह प्रतिविम्ब दर्पणके साथ सदा तन्मय रहे, उस दर्पणके साथ सदा काल रहे, उस दर्पणका निजका स्वभाव बन जाय सो यह नहीं है। ऐसा सबको विदित है, यह सब परखना है और तब ही तो यदि विकट प्रतिविम्ब न चाहिए, तो उस सन्निधानकी वस्तुसे उपेक्षाभाव द्वारा निमित्तको हटा दें। यहाँ दो द्रव्योंमें बराबर अपनी-अपनी क्रिया चल रही है। सम्मुख रहने वाले लाल, पीले कपड़ेमें उसका ही परिणमन चल रहा। वे दर्पणमें कुछ परिणमन करने नहीं जाते और दर्पणमें दर्पण की योग्यतासे दर्पणमें काम चल रहा, मगर निमित्त सन्निधानको मिथ्या, निमित्त नैमित्तिक योगको मिथ्या बिल्कुल अगर मान लिया जाय कि दर्पणकी ही योग्यता मात्रसे परसन्निधान पाये बिना प्रतिविम्ब हो रहा है तो उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकतो। जब चाहे हो जाय प्रतिविम्ब। वहाँ जब चाहे परिणम जाय। तो वह जानता है कि दर्पणमें जो प्रतिविम्ब है यह बाहर—बाहर लोटता है। यह स्वरूपमें प्रवेश न करेगा। ऐसे ही कर्मरस जो कुछ भलक रहा है, जो कुछ छा रहा है उसके प्रति ज्ञानीके सम्यक् श्रद्धा है कि यह कर्मरस छा रहा है। मैं तो इसके अंतः एक चैतन्यमात्र हूँ। मोही जीवोंने अब तक इस ज्ञानसुधा का पान नहीं किया, आपने आपके ज्ञानस्वरूपके ज्ञानका अमृतपान नहीं किया। अपने आपके ज्ञानस्वरूप के ज्ञानका अमृतपान नहीं किया इसी कारण निरन्तर ऐसा अनुभव रहता अनात्मतत्त्वमें कि मैं यह हूँ। मैं मैं कहनेसे निर्णय थोड़े ही बनता। मैं सहज निरपेक्ष चैतन्यमात्र हूँ, ऐसी भीतर दृष्टि जगे तो उसके निर्णय बने। जब यह निर्णय बन जाता है तो बाहरी बातें, बाहरी घटना उसके लिए कुछ महत्त्व नहीं रखती। जैसा होता है होओ, जैसे कोई ज्ञानी सेठ जिसने कि अंतस्तत्त्वका अनुभव किया है उसके लिए मुनीम खबर दे कि आज तो बड़ा दुःखद समाचार है, आपके उस शहरके मिलमें १० लाखका नुकसान हो गया है तो वह सेठ सुन तो लेगा क्योंकि उसके कान हैं, आवाज है, घर में है, पर हाँ होने दो, ठीक है, जान लिया, यह आन्तरिक उत्तर होता। कदाचित् यह समाचार दे कि आज तो बड़ा सुखद समाचार है कि अमुक शहरमें इस माहमें १५ लाखका फायदा हुआ, हाँ हुआ ठीक है, यह उपेक्षाका उत्तर मिलेगा। जिसने अपने ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें लिया उसके लिए ये बाहरके ढेला पत्थर सोना, चाँदी कोई चीज ये उसके लिए कुछ महत्त्व रखते हैं क्या? उसकी दुनिया अलौकिक है। उसकी दुनिया उसकी सर्वस्वनिधि अपने आपमें है।

३१०—ज्ञानी संतका पूज्य एवं आदर्श फकीराना—

लोग कहते हैं कि मुनि महाराजको सर्म नहीं आती, नंगे फिरते हैं,···हाँ ठीक है, उनके अब किसी प्रकारका सर्म संकीच नहीं है, जिसने चिदेकज्ञायक नीरंग, निस्तरंग, निष्क्रिय, इस स्वरूपको पहिचाना है, यहाँ ही यह मैं हूँ ऐसा दृढ़तम अभ्यास बना है, उसके लिए तो अन्य पदार्थ कुछ महत्त्व ही नहीं रखते। लाज, विकार, संकोच या अन्य बात उसके लिए क्या है? वह एक धुनिया है। जैसे कोई पापकी धुनमें रहने वाले पुरुषको बाहरकी बात कुछ असर नहीं करती, लाज नहीं होती, संकोच नहीं होता, जो मनमें

आया स्वच्छन्द करता है, तो यह तो एक धुनका लक्षण है। अंतस्तत्त्व ज्ञानमात्र निज स्वभावके धुनिया मुनिको बाहरसे क्या मतलब ? बाहरमें जो लोग जो करे सो ठीक। एक वेदान्तकी जागदीशी टीकामें उदाहरण दिया है, उस उदाहरणसे अपने लिए उपलब्ध शिक्षा ले लेना चाहिए। उदाहरण वह लौकिक है। कोई संन्यासी गुरु शिष्य थे, बडे विरक्त थे किसीसे कुछ सम्बंध न रखनेवाले, सब आशाओंसे दूर, एकान्त ही पसंद करनेवाले। तो गुरु शिष्य आकर एक छोटीसी पहाड़ीपर ठहरे। वे यह चाहते थे कि मेरे पास कोई न आये। देखो जिसको अपने आपके स्वरूपकी धुन होती है उसको यह ही चाह रहती है कि मेरे पास कोई मत आवो। और, जिसने आत्मकल्याणका भाव तो नहीं रखा किन्तु त्यागमार्गमें अपना भेष किया उसके यह चाह रहती है कि मेरे पास कोई आता ही नहीं, मैं अकेला ही रहता हूं, उसे यह कमी मालुम होती है, और जो अपने ज्ञानस्वरूपका धुनिया है उसके लिए आवागमन प्रसंगोंमें, उठना, बैठना, परका प्रसंग ये उसके लिए बाधक मालूम होते हैं। तो वह संन्यासी एकान्त पसंद था, दोनों वहीं ठहर गए। एक दिन दूरसे देखा कि बहुत से लोग दर्शनार्थ आ रहे हैं, राजा भी आ रहा है तो गुरुने सोचा कि यह तो बहुत बड़ी विडम्बना हो जायगी, फिर तो लोगोंका ताँता ही लगा रहेगा, ऐसा उपाय बनावें कि आजसे ही लोगोंका आना जाना खतम हो जाय। तो अपने शिष्यको समाझा दिया कि देखो वह राजा आ रहा है, हम तुम दोनों रोटियोंकी बात करके आपसमें लड़ेंगे। उसका मतलब क्या था सो आप पीछे जानेंगे। जैसे ही राजा आया तो वह संन्यासी अपने शिष्यसे झगड़ने लगा, तूने आज मुझे दो ही रोटियाँ क्यों दीं, तूने तो ५ रोटियाँ खायी होंगी तो शिष्य बोला—तुमने भी तो कल ५ रोटियाँ खा ली थीं, हमने तो दो ही खाई थीं, इसीलिए आज हमने ५ रोटियां खा ली हैं। इस प्रकारसे रोटियोंके प्रति झगड़ते देखकर राजा बड़ा हैरान हुआ, सोचा कि अरे यह काहेके सन्यासी जो रोटियोंके प्रति झगड़ते। राजाने झट उनकी उपेक्षा कर दी और वापिस लौट गया। संन्यासीने अपने शिष्यसे कहा-देखो बेटा कितना अच्छा हो गया। बड़ी भारी फजीहत मिट गई। अब यहाँ कोई न आयगा। शान्तिपूर्वक अपनी धर्मसाधना करेंगे। तो इस दृष्टान्तसे यह शिक्षा लें कि अपना काम, अपने अंतस्तत्त्वकी साधनाका काम अपनेमें हो, इसका महत्त्व है। बाह्य बातोंमें, बाह्य प्रसंगोंमें, इसके लिए क्या महत्त्व ?

३११—कर्मरससे विविक्त ज्ञानरसके आस्वादनका अनुरोध—

एक बात सदा ध्यानमें रखें कि जो कुछ अंधेरा है, विकल्प है, विचार है, कल्पना है, यह सब कर्मरस है, चैतन्यरस नहीं, यह कर्मछाया है, चैतन्यरस नहीं, लेकिन यह स्वच्छ है चित्प्रकाशरूप है,सो यह झलके बिना कैसे रहेगा ? झलकेगा। जैसे बाहरी पदार्थ झलकते हैं तो उनके बारेमें हम जानते हैं ना कि ये तो भिन्न चीजें हैं। यह झलक इस ओर उत्साह दिलाती है कि ये भिन्न चीजें है जिनका विषय कर यह झलक हुई। तो ऐसे ही ये जो राग द्वेषादिक विकार हैं यह कर्मरस है, चैतन्यरस नहीं। इन सबसे निराला याने भावकभाव्य और ज्ञेयज्ञायक दोनों संकर दोषोंसे रहित हैं। यह मैं चैतन्यस्वरूप हूं, जिस किसी पदार्थको जान रहे, जान कर कहा—अहा कैसा अच्छा, अथवा उसके प्रति अरति द्वेष घृणा, सो ठीक नहीं। जैसे इस तरहके विचार बाह्य पदार्थोंमें जो चित्त रखकर होते हैं तो यह ही हो गया ज्ञेयज्ञायकसंकर। उसने इस ज्ञेयको, इस ज्ञेयाकारको ऐसा आसक्त होकर देखा कि बाह्यके ज्ञेयके बारेमें उसको बहुत रति अरति उत्पन्न होती है, यह ज्ञेयज्ञायकसंकर विडम्बना है कर्ममें, उस कर्मके द्वारा रचा गया विकार है। कर्मका विकार कर्ममें है, पर उसका जो प्रतिफलन है उपयोगमें, तो यह

प्रतिफलन जीवकी परिणति है। उसके प्रतिफलनमें प्रतिफलन तक ही देखे तहाँ तो जीवकी रक्षा है और जहाँ उस प्रतिफलन, [illegible] चाहिये कि वह इसकी आपत्तिके लिए है। हम आप जीवोंको कहाँ जाना, कहाँ रहना, कहाँ रमना, कितना अलग स्थान हैं, सबसे निराला कैसा एक निज धाम है, और वहाँ न रहकर क्या किया जा रहा है बाहरमें उसपर खेद होना चाहिए। क्या बन रही विडम्बना ? महा विडम्बना। मिथ्यात्व मोह, ममता, विकार, रति, अरति, घृणा, प्रीति, इष्ट, अनिष्ट ये जो भीतर कल्पनायें चल रही हैं और जो कल्पना पकड़ी है उस कल्पनाको फेकना नहीं चाहते, उस कल्पनाका स्वाद ले रहे हैं, उस कल्पनाको रखकर मौज मान रहे हैं, भीतरमें चित्त खुश हो रहा है, ऐसी स्थिति है तो वह आत्मानुभूतिका पात्र नहीं।

३१२—आत्मानुभूतिरूप महनीय देवता—

सर्वोत्कृष्ट चीज है आत्मानुभूति। यह ही है देवताओंका सिरताज। लोक कहते हैं दुर्गा, तो वह दुर्गा कहीं बाहर नहीं है, दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा, जो बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हो सके उसका नाम है दुर्गा। ऐसी चीज कौन है ? यह ज्ञानानुभूति। लोग कहते हैं चंद्रघंटा देवी, तो उसका अर्थ क्या है ? अमृतस्रावणे चंद्रं घंण्टयति इति चन्द्रघण्टा। जो अलौकिक अमृत बरसानेमें चँद्रको भी लज्जित कर दे, धक्का दे दे वह है चंद्रघंटा। ऐसा कौन हैं ? वह स्वानुभूति। लोकमें प्रसिद्धि है कि चन्द्रमेंसे अमृत झरता है, लेकिन यहाँ देखो तो सही कि जब यह ज्ञान सबसे विविक्त ज्ञानस्वरूप निज अंतस्तत्त्वको ही ज्ञेय करता है और जब इस विधिसे ज्ञान ज्ञेयकी एकता बनती है, वही वही ज्ञान ज्ञेयकी बनती है, वही वही ज्ञान जाननेमें आ रहा उस स्थितिमें बाहरका कोई विकल्प नहीं। वहाँ जो लौकिक आनन्द है वह है अमृतका झरना, ऐसे अमृतके झरनेमें जो चन्द्रको भी लज्जित कर दे वह है चंद्रघण्टा याने ज्ञानानुभूति। दो दो रूप कहते हैं लोग दुर्गाके। काली और सरस्वती। तभी कुछ लोग दुर्गाके कभी सरस्वतीके रूपमें जुलूस निकालते हैं कभी कालीके रूपमें। बंगालमें इसकी बहुत प्रथा है, जैसे बरसातके दिनोंमें लोग कालीके रूपमें जुलूस निकालते हैं, जिसका विकराल काला रूप एक हाथमें नंगी तलवार एक हाथमें ढाल। और माहके महीनेमें सरस्वतीके रूपमें निकालते हैं, जिसके पासमें बैठा हुआ हंस, एक हाथमें वीणा, एक हाथमें माला, बड़ी सौम्य मुद्रा। उसका भी नाम दुर्गा है। तो यह सब किसका रूप है ? इस ही स्वानुभूतिके दो रूप हैं एक साथ, अलग-अलग नहीं। यह स्वानुभूति अनेक कर्मोका विनाश करती है, भक्षण करती है। कलयति भक्षयति रागादि शत्रून् इति काली, जो रागादिक शत्रुओंका भक्षण करे उसका नाम है काली। अहा कितना बिकराल रूप है इस कालीका। ये रागादिक भाव नहीं रह पा रहे। १० वर्षका परिचय हो तो इसमें बड़ी आत्मीयता जगती है और जहाँ अनादि कालसे परिचय किया जा रहा हो, जिसमें रमा जा रहा हो ऐसे रागादिकका यहाँ विनाश हो रहा, विच्छेद हो रहा, बडी बुरी तरहसे रागादिक मर रहे। किसने किया ऐसा ? स्वानुभूतिने, तो इसका तो बड़ा विकरालरूप हो गया, बस यही अलंकार कालीका रूप है और सरस्वती क्या है ? सरःप्रसरणं यस्याःसा सरस्वती जिसका बहुत बड़ा प्रसार है, जिसका परिणाम बहुत विस्तृत है वह कौन है ? ज्ञानानुभूति, ज्ञानमें ज्ञान समाना। बड़ी सौम्य मुद्रा है इस ज्ञानानुभूतिकी। कार्यको निरखकर मुद्राकी बात कही जा रही है। बताओ कहाँ है देवी देवता बाहर जो उपास्य हो ?

२१३—एकजातीय होनेसे परमात्मत्वविकासके उसंगके आश्रयभूत आराध्य परमात्माकी अन्तः आराधना—

अच्छा जो अपना आराध्य देव है परमेष्ठी, अरहंत सिद्ध, अरे ये भी कहाँ हैं ? व्यक्तिशः तो

बाहर हैं मगर उनका अपने आपके स्वरूपसे जातीयताका नाता न हो तो भगवानकी भक्ति करना बिल्कुल बेकार है। जैसे यहाँ किसी बड़े धनिकसे कोई मिन्नत करना, आशा करना, समझमें आता कि बेकार है। मनस्वी लोग कहाँ करते हैं ? तो ऐसे कोई लोग जो बड़े ऐश्वर्यसम्पन्न हैं और जिनसे मेरे स्वरूपसे कोई मतलब नहीं है, भिन्न चीज हैं हम संसारी प्राणी ऐसे ही दुखिया हैं, हमारी जाति अलग, ईश्वरकी जाति अलग, वे बड़े हैं, धनी हैं तो फिर हमको उनकी भक्ति करनेका क्या प्रयोजन ? मेरेसे क्या बात मिलती है, क्या सम्बंध है, वह तो उसकी मर्जीकी बात हो गई। जब चाहे दुःख दे, जब चाहे सुख दे । तो यह देव इसी कारण आराध्य है कि इनके व मेरे सर्वस्वमें मिलान है। पर्यायकृत अन्तर है। गुण, स्वभाव, द्रव्यत्व, इनमें मिलान है, इसीलिए प्रभुके स्वरूपका जब भली प्रकार ध्यान होता तो वह अपना ही ध्यान है।

३१४—उपादानमें हितभावका उप आदान—

फिर एक बात और समझिये—तीन बातें होती है—अर्थ, ज्ञान, शब्द । जैसे मानो अर्थ घर, शब्द घर, ज्ञान घर। पुत्र लो, घड़ी लो, कुछ लो, सबके तीन तीन रूप हैं । पुत्रको लो जिससे बड़ी ममता है, उसके भी तीन रूप हैं—अर्थपुत्र, शब्दपुत्र, ज्ञानपुत्र । शब्दपुत्र क्या ? पुत्र ये दो अक्षर लिखकर कहो, बोलकर कहो, वह शब्दपुत्र है। अर्थपुत्र क्या ? वह अपना पुत्र जो घरमें रहता, दो हाथ दो पैर वाला। ज्ञान पुत्र क्या ? उस पुत्रके बारेमें जो ज्ञान किया जा रहा है, कल्पनायें की जा रही हैं—यह है, मेरा है, अच्छा है। ज्ञानमें पुत्रका फोटो खिचा हुआ है वह है ज्ञानपुत्र। अब यह बतलावो कि आप ममता किससे करते हैं ? शब्दपुत्रसे कोई ममता करता क्या ? किसीका मानो पुत्र गुजर गया तो पुत्र लिखकर उसे जेबमें धरे रहे तो बन जायगी क्या ममता ! अथवा अर्थ पुत्रमें कोई ममता करता है क्या? इस जीवकी शक्ति नहीं, सामर्थ्य नहीं, स्वरूप नहीं, प्रकृति नहीं कि यह अपने प्रदेशोंसे बाहर किसी भी वस्तुमें अपनी कोई परिणति डाल सके। अर्थपुत्रमें भी कोई ममता नहीं करता। जरा भीतर ज्ञान नेत्र को खोलकर निरख लो, कोई भी मनुष्य दूसरे पदार्थमें मोह नहीं करता, कर ही नहीं सकता, तो फिर हो क्या रहा ? उस पुत्रको विषय बनाकर कर्मानुभागके रसको मिलाकर उसमें अपनायत की जा रही है यहाँ कल्पना मचायी जा रही। बाहरमें कोई मोह नहीं करता, सबका ऐसा ही हाल है । जितने भी जीव हैं जो राग करते, द्वेष करते, उनका अपने आपमें यह नंगा नाच चल रहा है। बाहरी चीजमें कोई न राग करता, न द्वेष, न मोह, वह अपने आप पड़ी है, वहाँ चीज विषय होती है । यहाँ कर्मानुभागका अंधकार छाया है, उस रसमें इस विषयको एकमेक मिलाकर यह स्वाद लिया करता है, बस यही अविवेक है, इस रहस्यको जिसने समझा वह सदा अपनेमें प्रतीति रख रहा है कि यह सब जैसे दर्पणमें झलका तो यह झलक दर्पणकी नहीं है, यह बाहरकी है। हां झलका, तो वह दर्पणकी आदत है, दर्पणकी कला है तो इसी तरह इस ज्ञानमें कर्मरूप झलका तो यह झलक तो इस जीवकी कला है, योग्यता है, वह ऐसे कर्मानुभागका सन्निधान पाकर इस रूप अपनी कला खेल जाय यह उपादानकी एक योग्यता है। निमित्त उपादानमें कुछ नहीं करता, किन्तु उपादानमें ही ऐसी कला है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्तका सन्निधान पाकर अपनी कलासे विकाररूप परिणम जाता है। यह बात सर्वत्र जगतमें चल रही है। ज्ञानी जीव यह परख करता है कि मैं यह हूँ। देखा उसने कि यह तो चैतन्यमात्र, शान्तरस है, यहाँ व्यग्रता कहाँ ? जो व्यग्रता है वह कर्मरसकी झलक है, मेरे स्वरूपकी बात नहीं है। यह तो मैं एक शुद्ध चित्प्रकाश मात्र हूँ। दर्पणके सामने कांचके सामने बहुत बड़ा पर्दा डाल दिया बाहर निकट, सारा दर्पण रंगीन हो गया, जिस पर भी समझदार व्यक्ति जानता ही है कि दर्पणका स्वरूप तो, स्वभाव तो दर्पणमें

दर्पणकी ही निज रश्मियोंका एक तरंग रूप है। इस प्रतिविम्ब रूप दर्पणका स्वभाव नहीं । ज्ञानी भी अपने आपको मुकरुन्दवत् निरख रहा है। मेरा तो एकमात्र चैतन्यस्वरूप है। आप परखिये स्वभावदृष्टि के लिए इस निमित्तनैमित्तिक योगके सही परिचयने कितनी मददकी । विभावकी उपेक्षा हो गई। मेरे उपयोगमें न आवो, मैं तो अपने स्वरूपमें ही रहूँगा।

३१५—ज्ञान पौरुषके बलसे ज्ञान सागरमें मग्न होकर सकल संताप नष्ट कर देनेका अनुरोध—

असहयोग व सत्याग्रह दोनों ही चलाने पड़ेंगे तब आजादी मिलेगी। विभावोंसे असहयोग और अपने चैतन्यस्वरूपका आग्रह—मैं यह हूँ, मैं यह नहीं हूँ, यह मेरा नहीं, मैं इसका नहीं, मैं तो अपने अन्तः केवल चैतन्य रससे अपने आपमें अर्थ पर्यायके रूपमें चल रहा जो कुछ हूँ सो मैं यह हूँ। यह तो सब विडम्बना है। बाहर की बात है, इतना जिसने निर्णय किया, ऐसे भीतरके नेत्र जिसके खुले और इस शान्त रसमें डूबकर जिसने अलौकिक आनन्द पाया वह एक साथ कह देता है कि समस्त लोकके समस्त प्राणी इस शान्तरसमें निर्भय होकर वेग पूर्वक एक साथ डूब जावें, कष्ट न रहेगा। जिस बातसे दुःख होता है उसके लिए तो वृद्ध महिलायें भी कह देती है कि ऐसा दुःख तो दुश्मनको भी न हो। जैसे घर में आग लगी तो लोग कहते हैं कि ऐसा तो किसी दुश्मनको भी न हो, कितना प्यार है उस बुढ़ियाके शब्दोंमें, याने किसीको ऐसी बरबादी न हो, और जब कोई भली बात हो, मानलो बड़ा सुख है, न तो पोते सब अच्छी पूछ करते है तो वह बुढ़िया महिला कह बैठती है कि बड़ा अच्छा सुख है, ऐसा सुख सबको हो। तो आचार्य महाराज जब निज निर्लेप, निस्तरंग चिद्ज्ञायक स्वरूपका, अलौकिक आनन्दका अनुभव पा चुके हैं, तब उनकी वाणीमें आया कि समस्त लोक इस आनन्दरसमें डूब जावो। कोई असुविधा नहीं है इस ज्ञानरसमें मग्न होनेके लिए, केवल एक भ्रमकी चादर आड़े पड़ी है, इस भ्रमकी चादर को डुबो दो फिर तो यह भगवान तेरे लिए प्रकट है। अनात्मतत्त्वसे उपेक्षा कर। यह मेरा कुछ नहीं, जो झलक रहा यह सब बाहरी चीजें है, ये विभाव, ये विकार मेरे कुछ नहीं, ये बाहर झलक रहे त बात क्या होती है खास, वस्तुकी बात। जैसे कपड़ेमें रंग है और दर्पणमें प्रतिविम्ब है तो जैसे प्रतिविम्ब है, लोग समझते है कि इसमें ऐसा रंग है पर ऐसा रंग दोनों जगह है, दर्पणमें भी आया, कपड़ेमें भी है। इसी तरह जितने विकार हैं ये विकार दोनों जगह हैं, कर्ममें हैं, जीवमें हैं। अगर कपड़ेमें रंग नहीं तो दर्पणमें वह रंग प्रतिविम्ब नहीं। तो जैसे यहां निरखकर समझते है कि विकार दर्पणकी चीज नहीं, ऐसे ही जीवविकारको देखकर ज्ञानी समझता है कि यह कर्मका विकार है, मुझमें विकार नहीं, इसके लिए एकदम स्पष्ट कह दिया कुन्दकुन्दाचार्यने मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं। जोगो अविरदि मोहो कोहादीया इमे भावा। कषाय मिथ्यात्व सब चीजें दो दो प्रकारकी हैं, जीवरूप, अजीवरूप। जीव कषाय, अजीव कषाय। तो आप यहाँ परख लो, ये विकार जितने हैं वह सब कर्मरसका प्रतिफलन है, मेरा स्वरूप नहीं। उससे उपेक्षा करता है ज्ञानी और अपने आपके स्वभावको निरख कर उससे बल पाता है शुद्ध स्वभावको पहिचानने का। सो आचार्य कहते हैं कि विभ्रमकी चादर हटाकर जिसमें सर्व लोक उछल रहा है ऐसे ज्ञान समुद्रमें समस्त लोक प्रवेश करो और एक ही साथ समस्त लोक इस ही आनन्दरस में मग्न हो जावो।

इति समयसार कलश प्रवचन प्रथम भाग समाप्त